शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

शोध अंक 29 | अप्रैल-जून 2015 | 200 रुपए

संपादकीय कार्यालय
हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 01342-263232, 07838090732
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय
दिल्ली एन॰सी॰आर॰
डॉ॰ अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

हरियाणा
डॉ॰ मीना अग्रवाल
बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)
फ़ोन : 0124-4076565, 07838090237

डॉ॰ हरिशरण वर्मा
एफ-120, सेक्टर 10
डी॰एल॰एफ॰ (के॰एल॰ मेहता स्कूल के पास)
फरीदाबाद (हरियाणा)

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल 07838090237

संयुक्त संपादक
डॉ॰ शंकर क्षेम

उपसंपादक
डॉ॰ रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ॰ अनुभूति

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

शुल्क
आजीवन :
व्यक्तिगत : चार हज़ार रुपए
संस्थागत : पाँच हज़ार रुपए
वार्षिक शुल्क : पाँच सौ रुपए
यह प्रति : दो सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, MorrisVille, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फ़ेज-1, दिल्ली 110052
डॉ॰ आर॰पी॰ सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ॰प्र॰)
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ हरिमोहन, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, के॰एम॰मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ॰ बाबूराम, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
डॉ॰ रामसजन पांडेय, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
डॉ॰ दामोदर खड़से, कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा॰)
प्रो॰ शंकर बुंदेले, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती
डॉ॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
डॉ॰ पद्मा पाटिल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ नंदकिशोर पांडेय, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ अनिलकुमार जैन, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ हरेराम पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) असम
डॉ॰ शंभुनाथ तिवारी, एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
डॉ॰ श्यामधर तिवारी, प्रोफ़ेसर हिं॰वि॰, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शाहबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ संतोषकुमार गौड़, एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ घनश्याम अरोरा, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)
डॉ॰ सुधारानी सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता हिंदी विभाग, शहीद मंगल पांडेय राजकीय महिला स्ना॰ महा॰, मेरठ
डॉ॰ एम॰एस॰ विमल, सहायक प्राध्यापक अँग्रेजी, शासकीय महाराजा पी॰जी॰ महा॰, छतरपुर (म॰प्र॰)

 ISSN 0975-735X

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखंड

डॉ॰ रामानंद शर्मा
पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू (पी॰जी॰) कालेज
9, जिगर कालोनी, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)

डॉ॰ मधुलिका तिवारी
रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल॰आर॰ पी॰जी॰ कॉलिज, साहिबाबाद
गाज़ियाबाद (उ॰प्र॰)

श्री हरिराम 'पथिक'
स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं॰ 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ वंदना सेमल्टे
टी॰एफ॰ 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाज़ियाबाद 201001

डॉ॰ मनमोहन शुक्ल
147, मायापुरी, आवास योजना
झूँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ॰प्र॰)

डॉ॰ विपिनकुमार गिरि
पुराना माधवनगर, भारद्वाज गली,
सहारनपुर (उ॰प्र॰)

प्राचार्या
आर॰बी॰डी॰ महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ॰प्र॰) 246701

डॉ॰ सुधारानी सिंह
सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी,
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ॰प्र॰)

डॉ॰ प्रेमव्रत तिवारी
सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ पूनम भारद्वाज
17 प्रेम विहार, मुजफ़्फ़रनगर 251001
09997100697

श्रीमती अल्पना
द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरू नगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाजियाबाद 201001

डॉ॰ वंदना श्रीवास्तव
के 83 सी आशियाना, लखनऊ 226012
09415917170

डॉ॰ अर्चना वालिया
286, जौनपुर दक्षिण, स्नेहकुंज कालोनी,
कोटद्वार (गढ़वाल) उत्तराखंड 246149

डॉ॰ सुचित्रा मलिक
37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखंड

सुरेंद्रकुमार जैन
हिन्दी विभाग,
स॰ भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा॰,
रुद्रपुर (नैनीताल)

मध्य प्रदेश

डॉ॰ राजेंद्र मिश्र
14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)

डॉ॰ स्मृति शुक्ला
ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड, जबलपुर (म॰प्र॰)

डॉ॰ सुरेंद्र यादव
301 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत),
इंदौर 452018

डॉ॰ ज्योतिसिंह
213 अनूपनगर
सी॰एच॰एल॰ अपोलो हास्पिटल के सामने
ए॰बी॰ रोड, इंदौर 452008 (म॰प्र॰)
09926300355

डॉ॰ चंदा तलेरा जैन
जी-17, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001
09425944773

डॉ॰ वंदना अग्निहोत्री
194 सुखदेव नगर, एरोड्रम रोड
इंदौर (म॰प्र॰) 452001
09926477787

डॉ॰ पुष्पा शाक्य
110, सुंदर नगर मेन, सुकलिया, इंदौर (म॰प्र॰)
09827281203

डॉ॰ चंद्रकिरण अग्निहोत्री
108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001

प्राचार्य,
शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई
कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म॰प्र॰)

डॉ॰ निशा तिवारी
650 नैपियर टाउन,
भानवारथल वाटर टैंक के पीछे
जबलपुर 482001 (म॰प्र॰) मो॰ 09425386234

पंजाब/ हरियाणा

श्री हेमांशु शर्मा
हिंदी विभाग, साईंदास ए॰एस॰सी॰ सी॰से॰ स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या
कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या
कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ॰ विद्या चौधरी
मिर्जापुर फार्म, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ॰ विजय इंदु
1608 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

कविता यादव
पुत्री श्री सुनिलकुमार,
ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ॰ राजाराम अग्रवाल
ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि॰) 125053
मो॰ 09896789100

डॉ॰ पुष्पा अंतिल
203, टॉवर-9, फ्रेस्को
निर्वाणा, सेक्टर 50, गुड़गाँव (हरि॰) 122018
मो॰ 096547444800

महाराष्ट्र

डॉ॰ लियाक़त मियाँ भाई शेख़
अखिलेश नगर, प्लाट क्र॰ 11
नए बस स्टेंड के पास,
गंगापुर, (औरंगाबाद) महा॰
09423933402

डॉ॰ अश्विनीकुमार 'विष्णु'
अध्यक्ष अँग्रेज़ी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा॰)

डॉ॰ शहाबुद्दीन नियाज़ मुहम्मद शेख़
(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰औरंगाबाद)
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको,
अहमदनगर 414003
09850119687

प्रो॰ शेख़ मुहम्मद शाकिर शेख़ बशीर
अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ़ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैंप, पुणे 411201 (महा॰)
09423017017

डॉ॰ मेहमूद रसूल पटेल
दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड़ (महा॰)

ISSN 0975-735X

प्रा. डॉ॰ अभयकुमार रमेश खैरनार
मु. पो. जुनवणे,
तह. जि. धुले (महाराष्ट्र)

प्रा॰ अनंत नानाजी केदारे
5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दाते नगर, गंगापुर रोड
नासिक 422005 (महा॰)

डॉ॰ मंजूर चाँदभाई सय्यद
'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा॰)
09822991516

डॉ॰ शोभा साहेबराव राणे
17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट,
नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग,
सावरकर नगर,
गंगापुर रोड, नासिक (महा॰) 422013

प्रा. डॉ॰ संजय विक्रम ढोढरे
7, मोतीरामनगर, वाडीभोकर रोड,
देवपूर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ अशोक द्रौपद गायकवाड़
'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा॰) 414003
09822941330

प्रा॰ दत्तात्रय माधवराव टिलेकर
द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं॰ 13
पाटील अली, ओतूर
तह॰ जुन्नर, ज़िला पुणे (महा॰) 412409
09860229544

डॉ॰ मजीद मुनीर शेख़
ग्राम व पो॰ साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह॰ अंबड
ज़िला जालना (महा॰) 431212
09765944586

डॉ॰ भरत त्र्यंबक शेणकर
द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो॰ व तह॰ अकोले
ज़िला अहमदनगर (महा॰) 422601
09423164521

डॉ॰ पोपट विट्ठल कोटमे
फ्लैट नं॰ 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा॰) 422006
09850760866

डॉ॰ श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके
सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र॰ 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफ़िस
नागपुर 440014 (महा॰)

सुश्री शारदा बी. जावरे
ओमकार, समृद्धि डेपलपर, फ्लेट क्र॰ 402
प्लाट नं॰ 26, सर्व क्र॰ 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)
08805616654

प्रा॰ (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार
स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड, कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा॰)
09011449636

डॉ॰ एस॰एन॰ देवरे
प्लाट नं॰ 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा॰) 424002

प्रो॰ डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश
661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09975773345

प्रा. अशोक शामराव मराठे
116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह. साक्री,
ज़िला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा. पंजाबी ममता नानकचंद
19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री,
ज़िला धुले 424304

प्रा॰ उषा पुंडलिक शिरोळे
द्वारा श्री शशिकांत हरी बागड़े
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
ज़िला नासिक (महा॰)

प्रा. करुणा दत्तात्रय अहिरे
व्ही.यू.पाटील कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह॰ साक्री,
ज़िला धुले 424304

प्रा. डॉ॰ प्रमोद गोकुळ पाटील
मु.पो. मोराणे (प्र.ल.)
तह. ज़िला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ॰ अश्फाक सिकलगर
जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ॰ महेंद्रसिंह रघुवंशी
सरस्वती नगर, प्लॉट नं. 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास,
नंदुरबार 425412

डॉ॰ रेखा वसंत पाटील
सीतामाई नगर, चालिसगाँव
ज़िला जलगाँव (महा॰) 424101

प्रा. डॉ॰ योगेश गोकुळ पाटिल
प्लॉट नं. 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपूर,
धुले 424002

प्रा. डॉ॰ मंजू तरड़ेजा (सिंघाणी)
ब्लॉक नं. आर-10, रूम नं. 10,
कुमारनगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा. डॉ॰ चंद्रमादेवी पाटील
59, धनदाई नगर, गोंदुर रोड, वलवाडी,
देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ संजयकुमार नंदलाल शर्मा
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
तलोदा, जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख
बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ॰ देवकीनंदन महाजन
1 टेलीफोन कालोनी,
धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ॰ कल्पना राजेंद्र पाटील
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर
फ्लेट नं॰ 12, एस नं॰ 137/2
वारजे मलवाडी, पुणे 411058
08087612123

प्रा॰ डॉ॰ रामचंद्र माली
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
क॰वा॰वि॰ महाविद्यालय,
नवापुर, ज़िला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ॰ सुषमा कोंडे
81/ए, प्लाट नं॰ 9/ए,
गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
09822848464

प्राचार्य
विद्यावर्धिनी महाविद्यालय,
धुले (महा॰) 424001

ISSN 0975-735X

डॉ॰ हेमलता कांचनकर
43 नंदनवन कालोनी (कैंट),
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपड़े
द्वारा सुश्री सुनीता पवार
फ्लेट नं॰ 404, प्रकाश मेमाराइज
एस नं॰ 73, दूध डेयरी,
पुणे-411046

सुश्री भारती मधुकर पाटील
मु॰पो॰ सावलदे, तहसील शिरपूर
ज़िला धुले (महा॰)

प्रा॰ शिंदे नवनाथ सर्जेराव
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
कडलास रोड,
सांगोला (सोलानुर) 413307
09763602304

सुश्री मीनल वार्वे
बी-8, ड्रीम घरकुल,
एम.एस.ई.बी. कॉलोनी के पास,
शिवाजी नगर, जेल रोड,
नासिक रोड (महाराष्ट्र)

प्रो॰ अमानुल्लाह मो॰ शेख़
श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिंग ए, बिंग ए-201
आई॰टी॰आई॰ कालेज के पास
पो॰ मुकिन्दपुर, तह॰ नेवासा
ज़िला अहमदनगर (महा॰)

श्री शेख शिराज हसन
पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा॰)
मो॰ 09011444059

प्रा॰ ईश्वर पदमसिंग ठाकुर
जनशक्ति कालोनी
रिंग रोड, फैजपुर, तहसील यावल (जलगाँव)

प्रो॰ दीपक विश्वासराव पाटील
मुकाम पोस्ट सुन्दने
निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
तहसील ज़िला धुले
घुलेवाडी, संगमनेर (महा॰) 424002
099923811609

डॉ॰ अनिता मधुकर अंतरे
मयूर सोलर ऐजेंसी
स्वामी समर्थ मंदिर के पास
पो॰ लोनी बी के, तालुका रहाता,
ज़िला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
09970343766

डॉ॰ विट्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे
'सी' टाइप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
ज़िला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
08888590156

डॉ॰ उर्मिला मानसिंह गायकवाड
प्लॉट नं॰ 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग,
फ्लैट नं॰ 303 रावेत निकट डी-मार्ट,
पुणे 412101
मो॰ 07620225839

डॉ॰ एफ॰एम॰ शाह
द्वारा श्री टी॰एम॰ धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी॰बी॰ टोली
गोंदिया (महा॰) 441614
मो॰ 07620042772

डॉ॰ शैला पांडुरंग चव्हाण
फ्लेट नं॰ 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे,
सिंघाड़ा तालाब
नासिक (महा॰) 422001
मो॰ 09850827138

प्राचार्य
कला, वाणिज्य व कंप्यूटर
एप्लीकेशन महिला महा॰
डोंगर कठोरे, यावल
ज़िला जलगाँव (महा॰)

डॉ॰ सचिन कदम
हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

प्रा॰ पुरुषोत्तम कुंदे
हिंदी विभाग, न्यू आर्ट्स कामर्स एंड साइंस कालेज
शेवगाँव (अहमदनगर) 414502 महाराष्ट्र
09850947267

रूपाली नामदेवराव रिंगे
द्वारा बालाजी संभाजी कदम
फ्लैट नं॰ 12, साईं श्रद्धा रेसिडेंसी, प्लॉट नं॰ 78
सी॰डी॰सी॰ पूर्णनगर, चिंचवड, पुणे 411019 महाराष्ट्र
09420848635, 07276268922

गुजरात

श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर
201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी,
बड़ोदरा (गुजरात) 391740
09624501415

तमिलनाडु

Dr. V. Jayalakshmi
Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Preumbakkam, Chennai-600100

कर्नाटक

डॉ॰ जुबैदा हाशिम मुल्लाँ
बैतुल हाशमी, म॰नं॰ 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

जनसुलभ साहित्य माला

हिंदी साहित्य निकेतन ने जनसुलभ साहित्य माला के अंतर्गत निम्नलिखित पुस्तकों को प्रकाशित किया है। इनमें से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य केवल पचास रुपए है। 12 पुस्तकों का पूरा सैट मात्र 500 रुपए में।

कहानी
कमरा नंबर 103 ■ **सुधा ओम ढींगरा**
इमराना हाज़िर हो ■ **महेशचंद्र द्विवेदी**
कुत्तेवाले पापा ■ **डॉ॰ मीना अग्रवाल**
प्रेमचंद : कालजयी कहानियाँ ■
सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका
लघुकथाएँ मानव-जीवन की ■
सं॰ सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'
कहानियाँ अमेरिका से ■ **सं॰ इला प्रसाद**

व्यंग्य
दूध का धुला लोकतंत्र ■ **गोपाल चतुर्वेदी**
आदमी और कुत्ते की नाक ■
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
सच का सामना ■ **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**

व्यंग्य-एकांकी
अफलातून की अकादमी ■ **डॉ॰ शिव शर्मा**

सिनेमा
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति ■
नवलकिशोर शर्मा

कविता
मान भी जा छुटकी ■ **गीतिका गोयल**

हिंदी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)
फोन : 01342-263232, 07838090732

ISSN 0975-735X

संपादकीय

यथार्थ, कल्पना और सामाजिकता

रचना-प्रक्रिया किस तरह चलती है? यह एक जटिल प्रश्न है। साहित्यिक रचना को किसी प्रयोगशाला में ले जाकर इस प्रकार विश्लेषित नहीं किया जा सकता है, जैसे किसी धातु या रासायनिक वस्तु का विश्लेषण किया जा सकता है। उसमें यथार्थ कितना है, कल्पना कितनी और सामाजिकता का अंश कितना? रचना में इन सब तत्वों का मिश्रण किस प्रकार हुआ है? तीनों में संतुलन बनाए रखने के लिए क्या विधि अपनाई गई है? कोई प्रयोगशाला ऐसी नहीं है, जहाँ इन सब प्रश्नों का पूर्ण और वैज्ञानिक उत्तर मिल सकता हो। इस समय मेरे सामने शक्तिवर्द्धक कैप्सूलों का एक पैकिंग रखा है। मैं उस पर दृष्टि डालता हूँ। पैकिंग के एक ओर औषधि का फ़ार्मूला लिखा हुआ है–

विटामिन ए	3 एम॰जी॰
विटामिन बी-1	2 एम॰जी॰
विटामिन बी-2	2 एम॰जी॰
विटामिन बी-6	2 एम॰जी॰
विटामिन बी-12	4 एम॰जी॰
विटामिन सी	12 एम॰जी॰
विटामिन ई	10 एम॰जी॰
कैल्शियम कार्बोनेट	10 एम॰जी॰
फौलिक एसिड	3 एम॰जी॰
जिंक सल्फेट	2.20 एम॰जी॰ आदि-आदि

अंकित फ़ार्मूले से हमें भली प्रकार ज्ञात हो गया है कि औषधि-निर्माता कंपनी में इन कैप्सूलों में कौन-कौनसी औषधि किस मात्रा में मिश्रित की है। हम चाहें तो किसी प्रयोगशाला में इस वास्तविकता का पता भी लगा सकते हैं कि दवा के पैकिंग पर अंकित फ़ार्मूले के अनुसार औषधियों के सारे तत्त्व निर्धारित मात्रा में मिलाए गए हैं अथवा नहीं।

औषधि का पैकिंग मैंने अपने सामने से हटा दिया है। मैं फिर से इस बात पर विचार करने लगा हूँ कि किसी उच्चस्तरीय साहित्यिक रचना में यथार्थ, कल्पना, अनुभव तथा सामाजिकता का जो अंश होता है, क्या उसकी मात्रा और मिश्रण विधि का विश्लेषण किया जा सकता है?

तभी किचन से सब्ज़ी छौंकने की आवाज़ आती है। पत्नी ने सब्ज़ी तैयार कर उसमें घी का छौंक लगाया है। निश्चय ही पत्नी भोजन बनाने की प्रक्रिया से परिचित है। पूछने पर वह बता सकती है कि उसने कितनी सब्ज़ी में कितना नमक, कितना मसाला और कितना घी प्रयोग

किया है। मुझे यह भी विश्वास है कि उनके द्वारा दिया गया उत्तर एकदम सही होगा। बार-बार के प्रयोग ने अथवा प्रशिक्षण ने उसे बता दिया है कि कितनी सब्ज़ी में कितने नमक, कितने मसाले और कितने घी की ज़रूरत होती है। निश्चित विधि के अनुसार वह अपना कार्य करती रहती है और ऐसा कम ही होता है कि सब्ज़ी में प्रयुक्त तत्त्वों का संतुलन बिगड़ता हो। किंतु रचनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में ऐसा नहीं है। न पाठक, न समालोचक और न स्वयं लेखक ही यह बता सकता है कि अमुक रचना के निर्माण में किस फ़ार्मूले का प्रयोग किया गया है और उसमें सम्मिलित तत्त्वों को कैसे और किस मात्रा में प्रयोग किया गया है। विश्व में कोई प्रयोगशाला ऐसी नहीं है, जहाँ किसी साहित्यिक रचना की रासायनिक जाँच करके उन सब तत्त्वों को अलग-अलग किया जा सकता हो, जो उस रचना के निर्माण में प्रयुक्त हुए हैं।

रबड़ की गुड़िया बनानेवाला कारीगर यह बात बता सकता है कि उसने साँचे में ढालने के लिए किस गुणवत्ता की, कौनसी रबड़, किस मात्रा में प्रयोग की थी। वह निर्माण की पूरी प्रक्रिया को समझा सकता है। किंतु ठीक ऐसा ही प्रश्न यदि आप माँ बनने की प्रक्रिया से गुज़रने वाली किसी महिला से पूछें तो वह उत्तर में आपको कुछ नहीं बता सकती। वह नहीं बता सकेगी कि गर्भवस्थ शिशु को कितने गुण उसके पिता के और कितने उसकी माता के मिले। कैसे मिले? शिशु के रूप-स्वरूप और स्वभाव में उन गुणों का मिश्रण कैसे हुआ? कुछ पारिवारिक विशेषताएँ यदि उसमें आई हैं तो कैसे आई हैं? यदि वह अपना अलग चेहरा और अलग रूप लेकर पैदा हुआ है तो उसके कारण क्या है? महिला के पास इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होगा? क्यों नहीं होगा? इस प्रश्न पर विचार करना रोचक होगा।

यह बात अच्छी तरह समझने की है। 'उत्पाद' और रचनाकृति में अंतर होता है। किसी कारख़ाने में तैयार किया गया 'उत्पाद' रचना नहीं है। 'उत्पाद' ज्ञात तत्त्वों और ज्ञात विधि से, एक विशेष प्रक्रिया में ढलकर अस्तित्व में आ जाता है। निर्माता उसकी निर्माण-विधि से पूरी तरह परिचित होता है, किंतु रचनाकार अपनी रचना की रचना-विधि से उसी प्रकार परिचित नहीं होता, जैसे किसी 'उत्पाद' का निर्माता। रचनात्मकता, उत्पादकता से भिन्न है। एक कवि या लेखक जब चिंतन और उसकी अभिव्यक्ति से गुज़रता है तो उसका चिंतन और मस्तिष्क इस प्रकार कार्य नहीं कर रहे होते हैं, जिस प्रकार गुड़िया बनानेवाले कारीगर का मस्तिष्क।

रचनात्मक प्रक्रिया से गुज़रते हुए यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि रचनाकार मात्र अपनी 'चेतना' का ही प्रयोग कर रहा हो और यह भी ज़रूरी नहीं है कि जो कुछ उसने पहले से सोच-विचारकर निश्चित कर लिया है, रचना उसकी योजना के अनुसार ही ढलकर आए। यह भी संभव है कि जो कुछ सोचा गया था, रचना उससे भिन्न हो गई हो और यदि पूरी तरह भिन्न नहीं हुई है तो अंत वैसा नहीं बन पाया हो, जिसे रचनाकार ने पहले से निर्धारित कर रखा था। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि रचनाधर्मिता योजनाबद्ध ढंग से नहीं चलती, प्राकृतिक ढंग से चलती है। रचनाकार के चिंतन और मस्तिष्क में उसके अनुभव, गुजरे दृश्य और घटनाएँ, सामूहिक अनुभव, अध्ययन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान, कल्पना तथा घटनाओं के विश्लेषण से उपलब्ध यथार्थ तो होता ही है, साथ ही वह सामग्री भी सुरक्षित रहती है, जो चेतना से निकलकर अवचेतन में सुरक्षित हो गई होती है। रचनात्मक क्षणों में यह सब सामग्री वहाँ किस तरह और किस अनुपात में काम आती है, इसका न तो रासायनिक विश्लेषण किया जा सकता है और न ही वैज्ञानिक

 ISSN 0975-735X

आधार पर यह बताना संभव होता है कि यह प्रक्रिया भौतिक दृष्टिकोण से किस प्रकार संपन्न हुई? उदाहरण के लिए ग़ज़ल का एक शेर लें–

मैं भी दरिया हूँ, मगर सागर मेरी मंज़िल नहीं
मैं भी दरिया हो गया तो मेरा क्या रह जाएगा

–राजगोपाल सिंह

इन पंक्तियों के लेखक को यह तथ्य ज्ञात है कि सभी नदियाँ अपने अंतिम पड़ाव में समुद्र से जाकर मिलती हैं, और उसमें गुम होकर अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। यह जानकारी ग़ज़लकार को कैसे मिली? समाज के सामूहिक ज्ञान से, भौगोलिक अध्ययन से, अनुभवी लोगों के बताने से, स्वयं अपनी खोज से। रचनाकार यह भी जानता है कि उससे पहले के अनेक अध्यात्मवादी कवियों ने नदी के अंततः समुद्र से मिल जाने को मनुष्य के ईश्वर में विलीन हो जाने का प्रतीक माना है। आत्मा के परमात्मा में समाहित हो जाने की आध्यात्मिक परिकल्पना को नदी के समुद्र में मिल जाने से उपमित किया है। कवि जानता था कि साहित्य में अध्यात्मवादी कवियों ने एक बार नहीं, अनेक बार इस बात को दोहराया है। कवि यह भी जानता है कि नदी का जल समुद्र के जल में मिलकर अपनी पृथक्ता और अपनी अलग पहचान खो देता है। वह नदी जैसा नहीं रहता, समुद्र जैसा हो जाता है।

ज्ञान के ये सभी विवरण कवि के मस्तिष्क में पहले से रहे होंगे। वह इस यथार्थ से पूरी तरह से अवगत रहा होगा कि नदी जब सागर में मिल जाती है तो सागर का विशालतम संसार पाने के बावजूद वह अपनी व्यक्तिगत पहचान खो देती है। अब तक कवि के पास नदी और समुद्र के मिलाप की जानकारी आत्मा के परमात्मा में विलीन होने की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के प्रतीक रूप में भी तथा नदी द्वारा अपनी अलग पहचान गुम कर देने का ज्ञान था। उसने नदी और समुद्र से जुड़ी अपनी जानकारी को पहले चरण में चिंतन के स्तर पर उभारा। मस्तिष्क में इस पूर्व जानकारी के ताज़ा होते ही, उसके भीतर वर्तमान सामाजिक जीवन के अनुभव, जो अभी तक सुप्त अवस्था में थे, अनायास जाग्रत हो गए। कवि देख रहा था कि महानगरों के सामाजिक जीवन का भीड़पन मनुष्य से उसकी व्यक्तिगत पहचान छीनता जा रहा है। वह एक आदमी के रूप में अपना अस्तित्व खोता जा रहा है, भीड़ में गुम हो रहा है। उसके अस्तित्व का वह अर्थ नहीं रह गया है, जो रहना चाहिए था। कवि की सामाजिक चेतना ने उसे इस अकाट्य यथार्थ से अवगत कराया। अब ये दो यथार्थ उसके चिंतन में उभरे। पहला नदी का समुद्र में विलीन होना, और दूसरा व्यक्ति का भीड़ में गुम होकर अपने अस्तित्व की पहचान से वंचित हो जाना। यहाँ हम अनुभव कर सकते हैं कि एक यथार्थ की अनुभूति ने उसे दूसरे यथार्थ तक पहुँचने में सहायता दी है।

अब कवि अपने विचार और चिंतन के एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गया है, जहाँ उसे अपनी कल्पना-शक्ति से काम लेना ज़रूरी हो गया है। इस कल्पना ने अपने पहले चरण में उसे नदी और समुद्र की आध्यात्मिक व्याख्या वाले संदर्भ अर्थात् आत्मा के परमात्मा में विलीन होने की आदर्शवादी सोच से पृथक् कर शुद्ध सामाजिक धरातल पर ला खड़ा किया और फिर इसी कल्पना-शक्ति ने नदी के समुद्र में डूब जाने को व्यक्ति के भीड़ का हिस्सा बनकर गुम हो जाने के अनुभव से जोड़ दिया। कल्पना की इस क्रिया ने ज्ञात तथ्यों से लाभ उठाते हुए प्रश्न खड़ा

किया कि नदी की तरह यदि वह भी समुद्र में गुम हो गया अथवा व्यक्ति के रूप में वह स्वयं भी भीड़ का हिस्सा बन गया तो ऐसे में उसके पास उसकी अपनी क्या पहचान रह जाएगी? कवि व्यक्ति को भीड़ की भेंट चढ़ते नहीं देखना चाहता। वह मनुष्यों के व्यक्तित्व की विशेषताओं का सामान्यीकरण होते नहीं देखना चाहता। अब आप ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि कवि द्वारा रचित उक्त दोनों पंक्तियों में पहले उसके सामने नदी और सागर का यथार्थ आया, फिर व्यक्ति और समाज के भीड़पन के यथार्थ को उसने खोजा और अंत में उसकी रचनात्मक कल्पना ने पहले की समस्त अभिव्यक्तियों की सीमा से बाहर निकलते हुए नदी और सागर के आध्यात्मिक प्रतीक को आधुनिक समाज के भीड़पन से जोड़ दिया। इस प्रकार शेर की दोनों पंक्तियों में यथार्थ भी है, सामाजिकता भी है और रचनात्मक कल्पना का पुट भी। लेकिन यदि हम चाहें कि उक्त तीनों तत्त्वों को किसी प्रयोगशाला में ले जाकर उसका रासायनिक विश्लेषण करें तो यह संभव नहीं है।

कवि के ज्ञान और रचनात्मक प्रवृत्ति ने किस तरह उक्त पंक्तियों को रचने का कार्य किया? यदि यह प्रश्न रचनाकार से पूछा जाएगा तो वह भी संभवत: इसका कोई संतोषजनक उत्तर न दे सके। क्योंकि रचनात्मक स्थिति में मस्तिष्क की प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि उसका सामान्य विश्लेषण संभव नहीं है। हम किसी साहित्यिक रचना के निर्माण का फ़ार्मूला उसी प्रकार नहीं दे सकते, जैसा कि उत्पादों के पैकिंग पर लिखा होता है, क्योंकि साहित्यिक रचना उत्पाद नहीं होती, रचनात्मक अभिव्यक्ति होती है।

इस लंबी चर्चा ने हमें कम-से-कम इस परिणाम पर तो पहुँचा ही दिया है कि साहित्यिक रचना में रचनाकार का ज्ञान, अध्ययन, अनुभव, सामाजिक चेतना अपना कार्य करते हैं। जो साहित्यकार इनमें जितना उत्तम संतुलन बैठा पाता है, वही सफलता के अधिक क़रीब पहुँचता है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी है, वह है घटनाओं और अनुभवों का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा भीतर छिपी सच्चाई की तह तक पहुँचने की क्षमता। यदि यह क्षमता किसी साहित्यकार में नहीं है तो वह घटनाओं और अनुभवों से सतही अथवा भावुकतापूर्ण निष्कर्ष निकालेगा। इस तरह स्वयं तो भ्रमित होगा ही अपने श्रोताओं और पाठकों को भी भ्रमित करेगा।

उदाहरण के लिए किसी ऐसी घटना को लें, जो सांप्रदायिक हिंसा से संबंधित हो। यदि रक्तपात के समाचार सुनकर या पढ़कर एक साहित्यकार भावुक हो जाता है, वह अपने समुदाय का पक्ष के दंगाइयों का समर्थन करने लगता है तो हम ऐसे साहित्यकार को न तो सच्चा साहित्यकार ही कहेंगे और न ही यथार्थ का पक्षधर मानवतावादी। ऐसी स्थिति में एक साहित्यकार का दायित्व है कि वह निष्पक्ष होकर घटनाओं पर गहन दृष्टि डाले। भावुकता से काम न ले। अन्याय करनेवाले के विरुद्ध आवाज़ उठाए और उससे अधिक उन कारकों की निष्पक्ष खोज करे, जो राजनीतिक लाभ के लिए ऐसी दुखद स्थितियाँ पैदा करते रहते हैं।

साहित्यकार के लिए घटनाओं और अनुभवों का सत्यवादी विश्लेषण सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। जो कुछ भी उसके सामने घट रहा है, समाज उससे उसका तार्किक विश्लेषण चाहता है। उसका दायित्व है कि वह उन तथ्यों को खोजकर सामने लाए, जो अब तक छिपे हुए थे और जिन पर सामान्य लोगों की दृष्टि नहीं पड़ रही थी। मनुष्य का अध्ययन और निरंतर अध्ययन उसके जीवन का सबसे प्रमुख ध्येय होना चाहिए।

एक अच्छे साहित्यकार से हम घटनाओं और अनुभवों के वैज्ञानिक, तार्किक और

 ISSN 0975-735X

सत्यवादी विश्लेषण और मानववादी दृष्टिकोण इन दो बातों की अपेक्षा करते हैं। इसके साथ ही उससे हमारा अनुरोध यह भी होता है कि वह अपने ज्ञान, यथार्थ, सामाजिक बोध और कल्पना-शक्ति से साहित्य का जो दुर्ग खड़ा कर रहा है, वह सुंदर भी हो, अर्थपूर्ण भी हो; साथ ही श्रोताओं और पाठकों को यथास्थिति से बाहर निकालने में सहायक भी। यहाँ कथात्मक निबंध शैली में लिखा गया एक छोटा-सा लेख पढ़कर देखें–

'कभी की पढ़ी हुई एक कथा याद आ गई है। रातभर विश्राम करने के बाद भूखे कबूतरों के एक झुंड ने जब अपना आहार जुटाने के लिए उड़ान भरी तो उन्हें हर दिन की तरह आज भी यह ज्ञात नहीं था कि उन्हें पेट भरने के लिए भोजन कहाँ उपलब्ध होगा? कबूतरों का पंक्तिबद्ध झुंड नीले आसमान के पास पंख फड़फड़ाता हुआ धीरे-धीरे उड़ता जाता था और ध्यान से धरती की ओर भी देखता जाता था। पक्षियों को जिज्ञासा थी कि कहीं पर्याप्त मात्रा में भोज्य-सामग्री दिखाई दे तो वे नीचे उतरकर अपनी भूख मिटाने का यत्न करें।

पक्षियों के समूह का नेतृत्व एक अनुभवी कबूतर कर रहा था। वह उन सबमें अधिक बुद्धिमान माना जाता था। वह झुंड में सबसे आगे था। शेष कबूतर तीन पंक्तियों में अनुशासित ढंग से पीछे-पीछे उड़ते जा रहे थे। चारों ओर चुप छाई हुई थी। वृक्षों पर कभी-कभी पक्षी चहचहा उठते थे। विशाल वन में उनकी आवाज़ सहसा उभरती और फिर शांति छा जाती।

पूर्वी क्षितिज से सूर्य धीरे-धीरे उदय हो रहा था। सुबह के उजाले में नीचे की हर चीज़ साफ़ दिखाई देने लगी थी। तभी आकाश में उड़ते हुए कबूतरों ने देखा कि इस समय वे जहाँ उड़ रहे हैं, वहाँ वृक्ष नहीं हैं, छोटी-छोटी झाड़ियाँ फैली हुई हैं। उन्होंने यह भी देखा कि इन छोटी-बड़ी झाड़ियों के बीच में ख़ाली स्थान भी है। उसमें सफ़ेद-सफ़ेद चावलों के चमकदार दाने बड़ी मात्रा में बिखरे पड़े हैं। इतनी अधिक मात्रा में चावल देखे तो भूखे कबूतरों से रहा नहीं गया। वे नीचे उतरने के लिए उतावले हो गए। पहली पंक्ति में उड़ रहे कबूतरों ने अपने दूसरे सथियों से कहा–'और आगे जाने की ज़रूरत नहीं है। देखो, झाड़ियों के बीच कितना बढ़िया भोजन बिखरा पड़ा है। हमें इसी स्थान पर उतर जाना चाहिए। और आगे जाकर इससे अच्छा भोजन शायद ही मिल सके। अकारण उड़ते रहने और थकने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।

झुंड का नेतृत्व कर रहे कबूतर ने सुना तो उसने पीछे की ओर गर्दन घुमाई। बोला, 'साथियो! सावधानी और दूरदर्शिता से काम लो। यह सुनसान जंगल है। यहाँ आस-पास मनुष्यों की कोई बस्ती भी नहीं है। इतने सवेरे सूरज निकलते ही ऐसा कौन दयालु व्यक्ति हो सकता है, जो रातभर के भूखे कबूतरों के लिए इतनी बड़ी मात्रा में चावल बिखेरने यहाँ आया हो। मुझे तो लगता है कि दाल में कुछ काला है।'

अनुभवी, बूढ़ा कबूतर अपनी बात कह चुका तो पीछे की पंक्ति वाले कबूतरों ने उसका विरोध किया। बोले, 'तुम्हारी यह बहुत ही ख़राब आदत है भाई। मन में निराधार संदेह पाले रखते हो। तुम आशंकाओं से मुक्त हो ही नहीं पाते। दृष्टि उठाकर देखो, दूर-दूर तक मनुष्य नाम का कोई प्राणी यहाँ नहीं है। न कहीं से किसी ख़तरे की संभावना दिखाई नहीं दे रही है। इतना अच्छा आहार छोड़कर और आगे भटकते फिरना तो मूर्खता है।

अनुभवी कबूतर ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'यहाँ उतरने में ख़तरा हो सकता है। यह भी संभव है कि बहेलिया कहीं छुपा हो और हमें दिखाई नहीं दे रहा हो। बहेलिया न होता तो

इतने सवेरे यहाँ चावल बिखेरने कौन आ सकता था!' किंतु साथी कबूतर उसकी बात से संतुष्ट नहीं हुए। बोले–'बहेलिया यदि कहीं छुपा भी है तो हमें कम-से-कम वह जाल तो दिखाई देना चाहिए था, जो उसने बिखरे हुए चावलों के आसपास बिछाया होगा।'

बुद्धिमान कबूतर ने एक बार फिर अपने साथी कबूतरों को समझाने का प्रयास किया, 'वे आसानी से दिखाई नहीं देते। क्योंकि उन्हें ताज़ा-ताज़ा काटी गई हरी घास के नीचे दबा दिया जाता है। कहीं ऐसा न हो कि तुम सब धोखा खा जाओ और किसी बड़े संकट में फँस जाओ।'

पीछे-पीछे उड़ान भर रहे कबूतरों ने ध्यानपूर्वक धरती की तरफ़ देखा और पूरी तरह संतुष्ट होकर बोले, 'यहाँ कोई ख़तरा नहीं है। चलो यहीं उतर जाते हैं।

बूढ़ा बुद्धिमान कबूतर आगे बढ़ गया। उसके सभी साथी चावलों की लालसा में उसी स्थान पर उतर गए। कबूतर जैसे ही चावल चुगने के लिए ज़मीन पर उतरे, चतुराई से छिपाए गए और हरी-हरी घास के नीचे छिपा दिए गए, जाल में फँस गए। कबूतरों के फँसते ही झाड़ियों की आड़ में छिपा हुआ बहेलिया बाहर आया और उसने जाल में फँस चुके कबूतरों को पकड़-पकड़कर थैले में डालना आरंभ कर दिया। कबूतर बहेलिए की पकड़ में थे। अब उनके सामने कोई उपाय शेष नहीं रह गया था।

यह बौद्धकथा याद आई तो मुझे लगा कि हम सब मानव-प्राणी इन्हीं सीधे-सादे सरल स्वभाव वाले कबूतरों की भाँति हैं। हम अपने सुख के लिए साधन ढूँढ़ने निकले हैं। किंतु ध रती के चप्पे-चप्पे पर बारीक़, किंतु मजबूत धागों का जाल फैला पड़ा है। यह जाल हमें दिखाई नहीं दे रहा है। हम चावलों के दाने देखकर धोखा खा रहे हैं। विश्वास करने को तैयार नहीं है कि आसपास कहीं बहेलिया भी छिपा हो सकता है।

आप नहीं मानेंगे, पर यह सारी धरती कबूतरों और बहेलियों से भरी पड़ी है। बहेलिए नित नए रूपों में, नित नए स्थानों पर नित नए जाल बिछाए खड़े हैं। ऐसे जाल, जो दिखाई नहीं देते हैं। ये वे बहेलिए नहीं हैं, जिन्हें छिपने के लिए झाड़ियों की ज़रूरत होती है। इनके पास एक नहीं, अनेक आवरण हैं। इनके पास एक नहीं अनेक जिह्वाएँ हैं। इनके पास एक नहीं अनेक रंग हैं। इन्हें पहचान लेना आसान नहीं है। मुझे लगता है कि मैं समाज और राजनीति के एक ऐसे जंगल में हूँ, जहाँ बहेलिए हैं और भूखे कबूतर हैं और वह जाल है, जो हरी घास के नीचे अत्यंत चतुराई से छिपा दिया गया है। यह दृश्य चल रहा है, चल रहा है और निरंतर चल रहा है। और मैं नहीं जानता कि यह कब तक चलता रहेगा?

आइए, इस विचार-प्रधान लेख की रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि डालें। यह तो हम जान ही चुके हैं कि लेखक की स्मृति में ऊपर वर्णित कथा पहले से थी। उसे ज्ञान था कि प्राचीनकाल में लेखक, शिक्षक और बुद्धिजीवी राजा-महाराजाओं को शिक्षा देने के लिए पशु-पक्षियों को प्रतीक बनाकर ऐसी घटनाएँ उन्हें सुनाया करते थे अथवा उनके लिए रचा करते थे, जिनसे उनकी बुद्धि विकसित हो, वे विवेक और सावधानी से जीना सीख सकें। उक्त कथा में लेखक ने कबूतरों के माध्यम से परिस्थितियों को परखने की शिक्षा दी है। वह शुरू करता है कि बहुत सवेरे, मुँह-अँधेरे बस्ती से दूर एक सुनसान जंगल में भूखे कबूतरों के लिए कोई चावल बिखरेने क्यों आ सकता है, इस बिंदु पर ध्यान देने की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि सामान्य परिस्थितियों में यह संभव नहीं है। कथा आभास कराती है कि परिस्थितियों की भी एक भाषा होती है। उसे

 ISSN 0975-735X

समझने का विवेक होना चाहिए। जिनमें यह विवेक नहीं होता या जो ऐसे अवसरों पर अपने विवेक से काम नहीं लेते, वे संकट में पड़ जाते हैं।

कथा का यह अंश जो ज्ञान दे रहा है, वह इस विचारप्रधान लेख लिखने वाले के पास है। उसकी स्मृति में सुरक्षित है। कथा याद आती है तो अनायास लेखक के भीतर की कल्पना-शक्ति सक्रिय हो जाती है। वह अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे कबूतरों के झुंड और बहेलियों के प्रतीकों को सामाजिक और राजनीतिक स्थिति से जोड़कर वर्तमान संदर्भों को समझने-समझाने का माध्यम बना देता है। उसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र के बहेलिए तथा अपनी छोटी-छोटी ज़रूरतों के लिए विवेक खो चुके सीधे-साधे लोग याद आ जाते हैं। उसकी कल्पना कबूतरों और बहेलियों के माध्यम से धोखे और लूटपाट पर आधारित व्यवस्था का, पदाफ़ाश करने में सफल हो जाती है।

लेखक ने अपने इस निबंध में किन-किन चीज़ों का प्रयोग किया है? सर्वप्रथम स्मृति में सुरक्षित कथा, फिर उस कल्पना का जिसके माध्यम से वह इस प्राचीन कथा को नवीनतम संदर्भों से जोड़ने में सफल हुआ। तीसरे विश्लेषण की उस क्षमता का, जिसके माध्यम से उसने कथा को कसौटी बनाकर नई राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया। किंतु यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि अपनी बात कहने से पहले वह यह निर्णय करके नहीं बैठा था कि उसे ज्ञान, कल्पना और अपनी विश्लेषण की क्षमता का किस-किस अनुपात में प्रयोग करना है। वस्तुतः, यह साहित्यकार की दक्षता और परिपक्वता पर निर्भर होता है। यह गुण गणित की तरह नहीं सीखा जाता वरन् प्रतिभा और अभ्यास से विकसित होता है।

इस लंबी चर्चा से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि रचनात्मक क्रियाकलापों के पीछे जो प्रमुख तत्त्व काम करते रहते हैं, उनमें कलात्मक प्रतिभा, ज्ञान, अनुभव, कल्पना और परिस्थितियों का यथार्थवादी विश्लेषण सम्मिलित है। किंतु साहित्यकार को सबसे पहले स्वयं अपना आलोचक होना चाहिए। साथ ही उसे अपने अंदर एक ऐसी तर्कबुद्धि विकसित करनी चाहिए, जिससे उसके द्वारा कही गई बात तर्कों की कसौटी पर सही उतर सकती हो।

इस बात को समझने के लिए ऐसी पंक्तियाँ लें, जो कविसम्मेलनों में भारी प्रशंसा और वाहवाही लूटती रही हैं, किंतु तर्क और बुद्धि की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। पहले यह सच्चाई मान लें कि जिस प्रकार विज्ञान और गणित की एक तर्क-व्यवस्था होती है, वैसे ही साहित्यिक रचनाओं के पीछे भी एक तर्क-व्यवस्था काम करती रहती है। यदि यह न हो तो साहित्यिक रचना स्वीकार्य नहीं हो पाती और अपने स्तर से गिर जाती है। कवि-सम्मेलनों में भारी प्रशंसा बटोरने वाली इन दो पंक्तियों को देखिए–

ख़ुदा ऐसे एहसास का नाम है
जो मौजूद हो, पर दिखाई न दे

यहाँ रचनाकार से जो भरी चूक हुई है, उस पर दृष्टि डालने की ज़रूरत है। वह इस सच्चाई पर नज़र डालना भूल गया कि केवल भगवान का एहसास ही नहीं, संसार में कोई भी एहसास ऐसा नहीं है, जो दिखाई दे सकता हो। हवा का झोंका हमें स्पर्श करता हुआ आगे

बढ़ जाता है। हम उसके स्पर्श को महसूस भी करते हैं, पर क्या हवा का वह झोंका हमें दिखाई देता है? ताज़ा-ताज़ा खिले फूल की सुगंध हमारे नथुनों में प्रवेश करती है। हमें यह सुगंध अनुभव होती है पर क्या हम उसे देख पाते हैं? जब कोई स्वादिष्ट व्यंजन हमारी जीभ तक आता है, हम उसके उत्तम स्वाद को अच्छी तरह महसूस करते हैं, पर क्या वह स्वाद हमें अपनी आँखों से दिखाई दे पाता है। अनुभूतियों का चेहरा नहीं होता, आकार नहीं होता। वे होती हैं, पर दिखाई नहीं देतीं, पर भगवान के होने की अनुभूति को ही ऐसी अकेली अनुभूति कैसे कहा जा सकता है, जो होने पर भी दिखाई नहीं दे रही है। स्पष्ट है कि इन दो पंक्तियों को रचते हुए कवि ने अपनी तर्कबुद्धि से वह काम नहीं लिया, जो उसके लिए ज़रूरी था। उसने रचनात्मक प्रक्रिया के बीच स्वयं को मात्र कल्पना के सहारे छोड़ दिया, यथार्थ और तर्क से काम लेने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। मेरा अनुभव है कि एक रचनाकार के लिए केवल कल्पना की ही नहीं वरन्, ज्ञान, तर्क, बुद्धि, अनुभव, यथार्थवादी दृष्टिकोण, अपने समय के समाज और व्यक्ति की गहरी जानकारी और उनके पीछे छिपे सत्य को खोजने की क्षमता, सभी आवश्यक होते हैं। किसी भी एक तत्त्व का अभाव उसे भटका सकता है या स्तर से नीचे गिरा सकता है।

अब इस वार्ताक्रम के अंतिम बिंदु पर आइए। उक्त बिंदुओं के बाद जो बात कहने के लिए शेष रह गई है, वह है रचनाकार का स्वयं ही अपना आलोचक अथवा समीक्षक होना। यदि किसी में इतना साहस नहीं है तो उसे साहित्य के क्षेत्र से हट जाना होना। शायद ही कोई व्यक्ति इस तथ्य को अस्वीकार कर सकता हो कि प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना का सबसे पहला पाठक स्वयं होता है। जब वह कोई रचना कर चुका होता है तो उस पर सबसे पहली दृष्टि स्वयं ही डालता है। मेरा आग्रह है कि यह दृष्टि डालते समय उसे लेखक नहीं, समीक्षक बन जाना चाहिए। यह सत्य है कि प्रत्येक रचनाकार को अपनी रचना से एक विशेष प्रकार का लगाव होता है। ऐसा ही मोह जैसे माता-पिता को अपने बालक से। किंतु एक ईमानदार लेखक के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वह रचनात्मक प्रक्रिया से गुज़र चुकने के बाद स्वयं को रचना से असंबद्ध कर ले। उस मोह को त्याग दे, जो अपनी रचना के प्रति उसके मन में है। ऐसा करने पर ही वह निष्पक्ष होकर अपनी रचना के गुण-अवगुण पर दृष्टिपात कर सकेगा। बहुत कम रचनाकारों में यह साहस होता है। किंतु प्रयास करना चाहिए कि यह साहस विकसित हो।

मेरा मानना है कि यदि किसी रचनाकार के व्यक्तित्व में केवल रचनाकार ही उपस्थित है, समीक्षक अथवा आलोचक नहीं तो हम उसे सफल रचनाकार नहीं कह पाएँगे। लिखने को तो बहुत लोग लिख सकते हैं, किंतु लिखने के बाद रचना के गुण-दोष की समीक्षा करने की क्षमता यदि उसमें नहीं है तो वह अधूरा साहित्यकार है, परिपूर्ण नहीं। यह तो संभव है कि समीक्षक के नाते जाँच-पड़ताल करते समय किसी रचनाकार से भूल-चूक हो जाए और फिर भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ रह जाएँ, जिन पर दूसरे समालोचकों की दृष्टि पड़ जाए, किंतु पहले चरण में साहित्यकार को स्वयं ही अपना समीक्षक होना चाहिए।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

 ISSN 0975-735X

अनुक्रम

कहीं चलन न बन जाए रोमन लिपि में हिंदी का लिखा जाना / **डॉ॰ अमरीश सिन्हा** 19

अशोक वाजपेयी की कविताओं में बिंबों की साभिप्रायता / **डॉ॰ सुधा जितेन्द्र/ डॉ॰ मनप्रीत कौर** 27

आधुनिक हिंदीकाव्य में नारी-सौंदर्य / **डॉ॰ अशोक उपाध्याय** 46

रघुवीर सहाय के कथासाहित्य में मूल्य-चेतना / **डॉ॰ आरती गोयल** 56

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में व्यंग्य-चित्रण / **डॉ॰ अमितेश बोकन** 64

हिंदी-पत्रकारिता को सींचनेवाले बांग्लाभाषी मनीषी / **कृपाशंकर चौबे** 70

इक्कीसवी सदी के प्रथम दशक के हिंदी-उपन्यासों में राजनेताओं का चारित्रिक विघटन / **मीनाक्षी फोगाट** 82

उत्तर-आधुनिक हिंदी-कहानी में भोगवादी संस्कृति / **डॉ॰ ओमप्रकाश सैनी** 88

बुनियादी जिज्ञासा : साहित्य क्या है? **बागेश्री चक्रधर** 97

आधुनिकता बोध : से॰रा॰ यात्री की कहानियों के कथ्य के संदर्भ में **डॉ॰ ऊषा सिंह** 102

आज का युवा और मूल्यबोध / **डॉ॰ ऊषा सिंह** 109

घनानंद के काव्य में संयोगात्मक प्रेमाभिव्यक्ति / **डॉ॰ गीता सिंह** 115

उत्तरांचल में रंगमंच का उद्‌भव / **डॉ॰ सुशील कुमार** 121

गोविंद मिश्र की कहानियाँ : बदलते मूल्यों की चित्रशाला / **डॉ॰ कनुप्रिया प्रचंडिया** 129

गूढ़ ज्ञानतत्त्व का औपनिषदिक निदर्शन / **प्रो॰ धर्मेंद्रकुमार द्विवेदी** 134

उषा यादव के उपन्यासों में नारी-समस्याएँ / **डॉ॰ संतराम वैश्य/मोनिका** 141

डॉ॰ चंद्रिकाप्रसाद शर्मा के रेखाचित्रों की भाषा / **आसिफ अली म॰ हँचिमनी** 147

चित्रा मुद्‌गल की नारी-चेतना / **सीमा शर्मा** 151

भीष्म साहनी के साहित्य में नारी-चेतना वर्गीय चेतना के संदर्भ में / **नरेनकुमार** 155

समकालीन हिंदी-लेखिकाओं का उपन्यास-साहित्य (स्त्रीविषयक सरोकार) / **डॉ॰ बबीता सिंह** 160
हरिशंकर आदेश के काव्य में सुखमय जीवन का स्वरूप / **प्रो॰ ज्ञानचंद रावल, यज्ञदेव** 165
नरेश सक्सेना की कविता में पर्यावरणीय व सामाजिक संवेदना / **सुरेंद्रकुमार जैन** 175
वर्तमान परिप्रेक्ष्य में रामायणकालीन आख्यान एवं समाज / **प्रो॰ धर्मेन्द्रकुमार द्विवेदी** 184
भारत में महिला अधिकार : सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य / **डॉ॰ दानवीर सिंह** 190
डॉ॰ भीमराव अंबेडकर जीवन-संघर्ष एवं चुनौती / **कु॰ रीनारानी** 196
गोपनीयता बनाम सूचना का अधिकार कानून / **शिवा अग्रवाल** 204
कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण (हिंदीभाषा के संदर्भ में) / **डॉ॰ शशिप्रभा** 216
संगीत : ईश्वरीय अनुभूति एवं मोक्षप्राप्ति का साधन एक अध्ययन/ **डॉ॰ संतोष पाठक, वर्षा शर्मा** 220
गागर में सागर का आधुनिक प्रतिरूप है 'बूँद के अंदर समंदर' / **डॉ॰ रमेश तिवारी** 222
कहानियों की दुनिया में एक नया मुकाम है 'क्या अच्छा क्या बुरा' / **डॉ॰ रमेश तिवारी** 228
जीवन की क्षणभंगुरता के बीच 'बचे रहेंगे केवल शब्द' / **डॉ॰ रमेश तिवारी** 234

 ISSN 0975-735X

कहीं चलन न बन जाए रोमन लिपि में हिंदी का लिखा जाना

डॉ॰ अमरीश सिन्हा

पिछले दिनों एक संगोष्ठी में जाना हुआ। एक प्रतिभागी का कहना था कि हिंदी को रोमन लिपि में लिखने से हमें परहेज नहीं करना चाहिए, बल्कि इसका स्वागत किया जाना चाहिए। उन्होंने तर्क भी दिए कि एसएमएस, कंप्यूटर, इंटरनेट में रोमन लिपि के सहारे हिंदी लिखने में आसानी होती है। इसलिए समय की जरूरत के मुताबिक इस बात पर जोर देना हमें बंद करना चाहिए कि हिंदी को हम देवनागरी लिपि में लिखें। उन्होंने यह भी कहा कि आजकल फिल्मों की स्क्रिप्ट, नाटकों की स्क्रिप्ट, नेताओं के भाषण के साथ-साथ सरकारी कार्यालयों में उच्च अधिकारियों के संबोधन, अभिभाषण आदि के लिए लिखे जाने वाले वक्तव्य रोमन लिपि में लिखे होते हैं। देवनागरी में टाइप करने में समय अधिक लगता है। टाइप करना कठिन भी है। रोमन में मोबाइल में भी लिखना सरल है। इसलिए रोमन लिपि में हिंदी लिखने से हिंदी का प्रचार तेजी से होगा। सरसरी तौर पर ये बातें जँचती हुई लग सकती हैं, परंतु यदि हम इन्हें इतिहास, समाज और भाषायी संस्कृति के पहलुओं पर विचार करते हुए देखें तो कई महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं, जिनको नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। किया तो इतिहास को झुठलाना होगा।

वस्तुतः भाषा एक सदा विकसित होने वाले और बदलने वाला क्रियाकलाप है, जिसके पीछे सबसे बड़ा योगदान उस भाषा के मूलभाषियों का होता है। हिंदीभाषा उसका अपवाद नहीं है। हो भी नहीं सकती। हालाँकि यह भी उतना ही सत्य और खरा है कि हिंदी को विकसित करने में हिंदीतर लोगों की बहुत बड़ी भूमिका है। दक्षिण भारत के भाषा-भाषियों के मध्य हिंदी का प्रचार-प्रसार इन हिंदीतर भाषियों की साधना का ही प्रतिफल है। बहरहाल, भाषाविज्ञान कहता है कि किसी भाषा का प्रसार तथा चरित्र उस भाषा का उपयोग करने वाले लोगों द्वारा लगातार परिभाषित और पुनः परिभाषित होते रहने में निहित है। औपनिवेशिक अतीत वाले क्षेत्रों में उपनिवेशकों की भाषा के शब्दों को भी खुलकर अपनाया जाता है। भारत के साथ भी ऐसा ही है। जापान, क्यूबा, तुर्की, निकारागुआ, फ्रांस, जर्मनी आदि जैसे विश्व के कई देशों के साथ भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। इसलिए अधिकांश देशों ने उपनिवेशवाद से मुक्ति मिलते ही अपनी मूल भाषा के उपयोग के वास्ते कमर कस ली। नतीजा सामने है। न क्यूबा में अँग्रेज़ी या अन्य औपनिवेशिक भाषा में कामकाज होता है, न जापान, फ्रांस, जर्मनी, वियतनाम, पोलैंड आदि देशों में। भले ही, कामकाज सरकारी हो या निजी कंपनियों में। तुर्की के उदाहरण से तो हम सब वाकिफ हैं। मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की के औपनिवेशिक दासता से छुटकारे के तुरंत बाद पूरे देश में तुर्की के इस्तेमाल और व्यवहार का फरमान जारी कर दिया। यह हम और हमारा भारतीय समाज ही है, जो स्वाधीनता के 67 वर्ष बाद आज भी इसी एक मुद्दे पर रस्साकशी में जुटे हैं।

आपको याद होगा एक नाम डॉ॰ दौलतसिंह कोठारी का। देश के ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक, शिक्षाविद और नीतिनियंता थे वे। उन्हें देश की शिक्षा-व्यवस्था और प्रशासन के बारे में गहराई तक समझ थी। उनका हमेशा यह मानना रहा कि जिन नौकरशाहों को इस देश की भाषाएँ नहीं आतीं, भारतीय साहित्य और संस्कृति का ज्ञान नहीं है, उन्हें भारत सरकार में शामिल होने का कोई हक नहीं है। उन्होंने कहा था कि साहित्य ही समाज को समझने की दृष्टि देता है।

उनके निर्देशन में ही शिक्षा के संबंध में कोठारी समिति का गठन भारत सरकार ने किया था और उनकी सिफारिशों पर ही वर्ष 1979 से सभी प्रशासनिक सेवाओं में पहली बार अपनी भाषाओं में लिखने की छूट मिली। इसके अद्‌भुत परिणाम देखने को मिले। परीक्षा में बैठने वालों की संख्या एकबारगी ही दस गुना बढ़ गई। गरीब घरों के मेधावी छात्र आई॰ए॰एस॰ बनने लगे। आदिवासी, अनुसूचित जाति की पहली पीढ़ी के बच्चे प्रशासनिक सेवाओं में चुने गए। रिक्शाचालक का लड़का भी आई॰ए॰एस॰ बन सका और दूसरे के घरों में काम करने वाली की लड़की भी। वरना 1979 से पहले सिर्फ धनाढ्य अँग्रेज़ीदाँ के सुपुत्र-सुपुत्रियाँ ही जिलाधीश की कुर्सियों पर काबिज हो पाते थे। संविधान में समानता के इसी आदर्श तक पहुँचने की लालसा हमारे संविधान-निर्माताओं के मन में थी। यद्यपि वर्ष 2013 की शुरुआत में इस पद्धति को बदलने की कोशिश की गई। एक डर-सा छा गया देश के असंख्य युवक-युवतियों के मन में। संसद में बहस हुई और सिविल सेवाओं में भारतीय भाषाओं को परीक्षा का माध्यम बनाए रखने की पद्धति पूर्ववत् रखने का फैसला ले लिया गया। यह सुखद और सुकून भरा पक्ष रहा।

शब्दों से प्रगाढ़ता बनाता शब्दों को आसान

फिर वह मसला ज्यों-का-त्यों रह जाता है कि हिंदी के लिए रोमन लिपि के इस्तेमाल के क्या-क्या खतरे हैं। महज इस वजह से कि हमें मोबाइल पर टाइप करते वक्त रोमन का प्रयोग सरल लगता है, रोमन लिपि की तरफदारी नहीं की जा सकती। यह विषय वस्तुपरक (सब्जेक्टिव) भी है। जो कार्य किसी एक के लिए आसान हो सकता है, वही दूसरे के लिए कठिन और दुरूह भी हो सकता है। ये दोनों स्थितियाँ व्यक्ति की क्षमता, योग्यता, उम्र, परिवेश, संस्कार और कौशल आदि कई गुण-दोषों पर निर्भर करती हैं। वैसे भी, अब एंड्राइड फोनों और कंप्यूटरों दोनों जगह देवनागरी की वर्णमाला स्क्रीन पर एक क्लिक पर डिस्पले हो जाती है। आप हर चौकोर खाने की उँगली से छूते जाएँ, टेक्स्ट टाइप होता जाएगा। कहाँ क्या परेशानी है? इस संगोष्ठी में ही एक युवा अपने एंड्राइड फोन पर इस सुविधा को प्रदर्शित करते हुए सभी के समक्ष देवनागरी लिपि की पैरवी करता हुआ दिखा। यह देखकर युवावर्ग पर लगने वाला यह आरोप भी खारिज होता है कि अँग्रेज़ी की मुखालफत करने वाला वर्ग युवावर्ग है। हिंदी में सरकारी कामकाज को कई लोग कठिन मानते हैं। उच्चशिक्षा हिंदी या मातृभाषा में नहीं प्राप्त की जा सकती, न ही विज्ञान और तकनीकी संबंधी ज्ञान। अँग्रेज़ी के इतर भारतीय भाषाओं में हासिल नहीं की जा सकती, यह मानना सिरे से मिथ्या है; कारण यह कि जापान, चीन और दोनों कोरियाई देश, जर्मनी और यहाँ तक इजरायल भी अँग्रेज़ी में शिक्षा प्रदान नहीं करते हैं, जबकि दुनिया में ये देश तकनीकी प्रगति के प्रणेता माने जाते हैं।

इस संदर्भ में 'सरल' और 'कठिन' पर थोड़ी चर्चा जरूरी है। भाषा के बनावटीपन को

 ISSN 0975-735X

छोड़ दें (जैसे, ट्रेन के लिए 'लौहपथगामिनी' या ट्रैफिक सिग्नल के लिए 'यातायात संकेतक' का प्रयोग) तो क्या सरल है और क्या कठिन, यह अक्सर उपयोग की बारंबारता पर निर्भर करता है। बार-बार उपयोग से शब्दों से परिचय प्रगाढ़ हो जाता है और वे शब्द हमें आसान प्रतीत होने लगते हैं। जैसे 'रिपोर्ट' के लिए महाराष्ट्र में 'अहवाल' शब्द लोकप्रिय है, लेकिन उत्तर प्रदेश में 'आख्या' का प्रयोग होता है। बिहार में 'प्रतिवेदन' का तो कई अन्य जगह देवनागरी में 'रिपोर्ट' ही लिखी जाती है। उर्दू में पर्यायवाची शब्द है रपट। इसी तरह मुद्रिका (दिल्ली की बससेवा में प्रयुक्त शब्द), विश्वविद्यालय, तत्काल सेवा, पहचान-पत्र प्रचलित शब्द हैं, गरज कि ये संस्कृत मूल शब्द हैं। स्कूली छात्र-छात्राओं के लिए बीजगणित (Algebra), अंकगणित (Arithmetic), ज्यामिति (Geometry), वाष्पीकरण (Veporisation) आदि संस्कृत मूल शब्द आसान हैं, क्योंकि प्रयोग की बारंबारता यहाँ लागू होती है। क्वथनांक, गलनांक, घनत्व, रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, सिद्धांत, गुणनफल, विभाज्यता नियम, समुच्चय सिद्धांत, बीकर, परखनली, कलन शास्त्र आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। इनका प्रथम प्रयोग दुरूह प्रतीत हो सकता है, पर निरंतर प्रयोग इन्हें हमारे लिए सरल बना देता है।

अन्य भारतीय भाषाओं के साथ तालमेल जरूरी

अँग्रेज़ी के पैरोकारों का मानना है कि अँग्रेज़ी समृद्ध भाषा है, अंतर्राष्ट्रीय संपर्क-भाषा है। शेक्सपीयर, मिल्टन और डारविन जैसे मनिषियों ने उसमें अपनी रचनाएँ की हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया में अँग्रेज़ी बोली जाती है, इस बात को स्वीकारने में कोई गुरेज नहीं है। लेकिन अँग्रेज़ी एकमात्र समृद्ध भाषा है, सत्य नहीं है। ऐसा ही होता तो कंप्यूटर के मसीहा कहे जाने वाले अमेरिकी निवासी बिल गेट्स अधिकारिक और सार्वजनिक रूप से यह नहीं कहते कि संस्कृत कंप्यूटर के लिए सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा और इसकी देवनागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि है।

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यूरोपीय देशों में अँग्रेज़ी का प्रसार उसकी समृद्धि के कारण नहीं हुआ। उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में लाखों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है। उनकी जमीन छीन ली गई है, वहाँ की जनता को गुलाम बनाकर बेचा गया है और आज भी कई समुदाय गुलामी की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। यूरोपीय भाषाओं के बारे में एक भ्रांत धारणा यह भी है कि उन सभी में अंतरराष्ट्रीय शब्दावली प्रचलित है। अँग्रेज़ी की हिमायत करने वालों के पास एक तर्क यह भी है। लेकिन सत्य यह है कि अँग्रेज़ी सहित इन सभी यूरोपीय भाषाओं के पास पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने के लिए कोई एक निश्चित स्रोत नहीं है। वे लैटिन से शब्द गढ़ती हैं। फ्रेंच, इतालवी के लिए यह स्वाभाविक है, क्योंकि वे लैटिन परिवार की हैं। यूरोप की भाषाएँ ग्रीक के आधार पर शब्द बनाती हैं, क्योंकि यूरोप का प्राचीनतम साहित्य ग्रीक में है और वह बहुत संपन्न भाषा रही है। जर्मन, रूसी भाषाएँ बहुत से पारिभाषिक शब्द अपनी धातुओं या मूल शब्द भंडार के आधार पर बनती हैं।

जिस भाषा के पास अपनी धातुएँ हैं और उपयुक्त मूल शब्द होंगे, वह भाषा समृद्ध होगी। उसे ग्रीक या लैटिन या किसी अन्य भाषा से उधार लेने की जरूरत नहीं। संस्कृत, हिंदी और भारत की अन्य भाषाओं, विशेषतया दक्षिण भारत की मलयालम, तमिल और कन्नड़ जैसी शास्त्रीय भाषाएँ तथा महाराष्ट्र की मराठी (मराठी को देश की छठी शास्त्रीय भाषा का दर्जा देने

के बाबत गठित अध्ययन समिति ने अपनी अनुशंसा दे दी है) के पास धातु-शब्दों का भंडार है। अँग्रेज़ी में अपने घर की पूँजी कुछ नहीं है। ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, फारसी, संस्कृत और हिंदी से उधार माल को अँग्रेज़ी में अँग्रेज़ी शब्द कहकर खपाया जाता है। बैंक, रेस्तराँ, होटल, आलमीरा, लालटेन, जंगल, पेडस्टल (पदस्थली से बना) ऐसे ही चंद शब्द हैं, जो मिसाल के लिए काफी हैं। एक तथ्य और है। धार्मिक कारणों से ब्रिटेन में ग्रीक की अपेक्षा लैटिन अधिक पढ़ी जाती रही है। इसलिए ग्रीक शब्दों के आधार पर बनी शब्दावली अधिक गौरवमयी समझी जाती है। हिंदी की बात करें तो इस भाषा में कई पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है।

कई विद्वान निजी तौर पर पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करते रहे हैं। अज्ञेय ने फ्रीलांस के लिए 'अनी-धनी' शब्द गढ़ा, हालाँकि यह शब्द चला नहीं। भारत सरकार के अधीन कार्यरत वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग इस दिशा में सक्रिय रूप से कार्यरत रहते हुए हिंदी और अन्य मुख्य भारतीय भाषाओं में तकनीकी शब्दावली, शब्दार्थिकाओं, पारिभाषिक शब्दकोशों और विश्वकोशों का निर्माण करती रही है, जिनमें सभी विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों और मानविकी विषयों को तथा प्रशासनिक लेखन से संबंधित शब्दावली को सम्मिलित किया गया है। हिंदी को आधुनिक अकादमिक विमर्श और ज्ञान-मीमांसा के नए क्षेत्र के हिसाब से सक्षम करने के लिए लाखों नए शब्द हिंदी में निर्मित किए गए हैं और यह प्रक्रिया अनवरत जारी है। देश की सामासिक संस्कृति (composite culture) को ध्यान में रखते हुए इतर भारतीय भाषाओं के लोकप्रिय और व्यावहारिक प्रयोग के शब्द हिंदी में शामिल किए जाते हैं। जैसे tomorrow और note के लिए मराठी शब्द क्रमशः 'उद्या' एवं 'नोंद' का प्रयोग महाराष्ट्र में लिखी जाने वाली हिंदी में देखने को मिलता है। क्योंकि यह आवश्यक और उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि हम नए पारिभाषिक शब्द बनाते समय हमेशा संस्कृत शब्दों का सहारा लें जैसा कि विगत में अक्सर होता रहा है। भले ही इतर भाषाओं, उर्दू, हिंदी तथा अँग्रेज़ी के लोकप्रिय शब्दों या 'बोलियों' के रूप में जाने जानी वाली भाषाओं में बेहतर विकल्प मौजूद हों, जिनका भाषा के मुहावरे के साथ अच्छा तालमेल हो और समझने में भी आसान हो। ज्ञानार्जन की दृष्टि से, विशेषतया अध्ययन-अध्यापन, शोध, शिक्षण- प्रशिक्षण के क्षेत्रों में 'मानक' और संस्कृतनिष्ठ शब्दों की बजाय समझ में आने वाले स्पष्ट व उपयुक्त शब्दों का उपयोग श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। कई अँग्रेज़ी तकनीकी शब्द भी हूबहू देवनागरी लिपि में लिखना प्रेरक और सफल रहा है। आई॰टी॰ से जुड़े कई शब्द यथा–कंप्यूटर, माउस, हैंग हो जाना, प्रिंटर, टेबलेट, फोल्डर, डेस्कटॉप, एप्लिकेशन, इंस्टॉल करना, इनबॉक्स, अपलोड, डाउनलोड, ट्रैश, स्पैम, स्क्रीन आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं। यह जरूरी है कि हिंदी में गरिमा और मानक के नाम पर अड़ियलपन और निरर्थक जटिलता के बंधनों को हटा दें। लोकप्रिय शब्दों को प्रयोग में लाएँ, पर सामासिक संस्कृति के हिसाब से, न कि सतही, अल्पकालिक और त्वरित उपाय ढूँढ़ने चाहिए। ऐसा न हो कि हिंदी में मानकीकरण और एकरूपता की धारणा पर हम ज्यादा ही जोर देने लगें। ऐसा होने पर अस्वाभाविक और बनावटी भाषा विकसित हो जाती है, जो किसी भी मूलभाषी के भाषा-भंडार का हिसाब नहीं होती। विख्यात हिंदी साहित्यकार कमलेश्वर ने कहा था–'हिंदी तब तक विकसित नहीं हो सकती, जबतक कि अन्य भारतीय भाषाओं के साथ उसका गहरा संबंध नहीं बनेगा।' यदि हमें हिंदी को बचाना है तो निश्चित रूप से क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हमें तालमेल को विकसित करना होगा।

 ISSN 0975-735X

दफ्तर में आते ही हिंदी भाती नहीं

एक दिलचस्प बात यह है कि जब हम सहज होते हैं, मनोरंजन की दुनिया में होते हैं, गाने सुनते हैं, गजल-गीत सुनते हैं, फिल्में या टी॰वी॰ धारावाहिक देखते हैं, या फिर बाजार में मोलभाव कर रहे होते हैं, तब तो बड़े चाव से हिंदी का सहारा ले रहे होते हैं, लेकिन ज्योंही कार्यालयों में, सरकारी संस्थानों में प्रवेश होता है तो हिंदी लिखने में हमें शर्म महसूस होने लगती है या हाथ काँपने लगते हैं। कोई 'टाइपिंग नहीं आती' का रोना रोने लगते हैं तो कोई 'जल्दी है' कहकर पीछा छुड़ाने लगते हैं। यह भी प्रायः सुनने को मिलता है कि हिंदी के शब्द जानने के वास्ते हमारे पास 'डिक्शनरी-ग्लॉसरी' नहीं है, पर मूल मुद्दा हमेशा एक ही रहता है–हिंदी लिखने में आत्मविश्वास की कमी। अँग्रेज़ी लिखने में हम बनावटी दंभ महसूस करते हैं, बस। जब आप अपनी कलम से किसी कागज पर या बैंक या रेल आरक्षण काउंटर पर फॉर्म भरते वक्त नाम लिखते हैं तो किसी टाइपिंग कला या कंप्यूटर ज्ञान की जरूरत होती है? किसी शब्दकोश-शब्दावली की आवश्यकता होती है? फिर आपकी कलम की स्याही अँग्रेज़ी की तरफ क्यों बढ़ती है? साफ है, या तो आपमें आत्मविश्वास का अभाव है या आप अँग्रेज़ी के आतंक में हैं। पर यह स्पष्ट है कि तकनीक और शब्दकोशों से ज्यादा जरूरत हमें इच्छाशक्ति की है।

भारत के विख्यात वैज्ञानिक व एकमात्र जीवित आविष्कारक और हिंदी में वैज्ञानिक उपन्यास लिखकर चर्चित हुए डॉ॰ जयंत नार्लिकर से यह पूछे जाने पर कि जब वैज्ञानिक-लेखन करते वक्त मौलिक चिंतन की आवश्यकता महसूस हुई, तब क्या आपने अँग्रेज़ी भाषा में ही सोचा। उन्होंने कहा–'यह संभव ही नहीं था'। उस समय मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भी भाषा ने मेरी मदद नहीं की और न ही कर सकती थी। फ्रांस के पूर्व राष्ट्रपति फ्रेंकोई मितरां से जब पूछा गया कि आप अपने देश में फ्रेंच भाषा को अँग्रेज़ी की बनिस्पत अधिक तरजीह क्यों देते हैं? राष्ट्रपति मितरां ने कहा कि क्योंकि हमें अपने सपने साकार करने हैं। जब हम सपने अपनी भाषा में देखते हैं तो उन्हें पूरा करने के लिए जो भी काम करेंगे उनके लिए अपनी ही भाषा का प्रयोग जरूरी होगा, पराई भाषा का नहीं।

भाषा 'फोनेटिक' है तभी वैज्ञानिक है

बहरहाल, उसी संगोष्ठी में एक और सज्जन का कहना था कि भाषा फोनेटिक (ध्वनि पर आधारित) होती है। अर्थात् सुनने में जैसा लगे, भाषा वैसी ही होनी चाहिए और इस लिहाज से तो देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी, मराठी, संस्कृत आदि भाषाओं की ही जरूरत है और भविष्य भी इनका ही है। देवनागरी लिपि में 52 वर्णाक्षर होते हैं। पाँच स्वर होते हैं। शेष व्यंजन होते हैं। स्वर वे होते हैं जिन्हें उच्चारित करने के लिए ओंठ और दाँतों का सहारा नहीं लिया जाता है। स्वर आधारित राग-रागिनियाँ हैं हमारे शास्त्रीय संगीत में। फिर कवर्ग (क, ख, ग, घ), चवर्ग (च, छ, ज, झ), टवर्ग (ट, ठ, ड़, ढ) व तवर्ग (त, थ, द, ध) आदि हैं। कितना सूक्ष्म विश्लेषण है अक्षरों का, शब्दों के उच्चारण का। बड़ी ई, छोटी इ, छोटा उ, बड़ा ऊ की मात्राओं से शब्दों के अर्थ कितने विस्तृत हो जाते हैं! जैसे, 'दूर' से भौगोलिक दूरी की अभिप्राय होता है तो 'दुर' से तुच्छ वस्तु का अर्थ सामने आता है। इसी प्रकार सुख आनंद का पर्याय है, जबकि 'सूख' से शुष्क या सूख (dry) जाने का बोध होता है। एक उदाहरण लें। यदि हमें

'डमरू' लिखना हो रोमन में तो हम dumru या damroo लिखेंगे। पर क्या पढ़ने वाला 'दमरू' नहीं पढ़ सकता है। 'ण', 'र' के प्रयोग तो हिंदी में विलुप्त ही होते जाते रहे हैं। रोमन में बेड़ा किस कदर गर्क होगा, अनुमान लगाया जा सकता है और फिर क्ष, त्र, ज्ञ, त्र का क्या ड और ड़ तथा ढ और ढ़ का क्या करेंगे? इन सबको हटा देंगे अपने व्याकरण से, अपने जेहन से? सुविधा और आधुनिकता के नाम पर भविष्य में ऐसा हो जाए तो अचरज नहीं। फिर देवनागरी लिपि के 52 वर्ण घटकर 25-26 रह जाएँगे। कल्पना कीजिए, यदि ऐसा ही कुछ हो गया तो!

हमारे देश व पूरी दुनिया में विगत पचास वर्षों में कई भाषाएँ और बोलियाँ विलुप्त हो गई हैं। अंडमान और निकोबार द्वीप समूह तथा अरुणाचल प्रदेश में कई भाषाएँ, बोलियाँ इन कारणों से लुप्त हो गईं कि कुछ की लिपियाँ न होने के कारण शिक्षण का माध्यम न बन सकीं और कुछ के बोलने वाले नहीं रहे। झारखंड में बोली जानेवाली 'हो', 'संताली', 'मुंडारी' आदि भाषाओं को अक्षुण्ण बनाने के लिए प्रयास तीव्र हो रहे हैं, क्योंकि उनके प्रयोग करने वालों की संख्या लगातार घट रही है।

दरअसल, सारी परेशानियाँ गुरुतर तब हो गईं जब भारत की धरती पर कंप्यूटर का प्रवेश हुआ। अँग्रेज़ी भाषा के हिमायती नागरिकों ने कहना शुरू कर दिया कि हिंदी व दूसरी भारतीय भाषाओं का भविष्य खतरे में है। खुद कंप्यूटर के प्रचालकों ने भी यह अफवाह फैलानी शुरू कर दी। धीरे-धीरे लोगों को यह समझ में आया कि कंप्यूटर की तो अपनी कोई भाषा नहीं होती। यह तो डॉट (.) के रूपों को ही स्क्रीन पर प्रदर्शित करता है। फिर धीरे-धीरे, बल्कि कहें तो 21 वीं सदी में काफी तेजी से कंप्यूटर ने इंसानी जीवन में दखल देना शुरू कर दिया। तब भी आरंभ के कुछ वर्षों तक भी अँग्रेज़ी को ही कंप्यूटर की मित्र भाषा समझा गया। लेकिन धीरे-धीरे यह बात सामने आई कि कंप्यूटर की, दरअसल, कोई भाषा नहीं होती है और अगर भाषा की कोई दरकार है अप्लिकेशंस को लेकर तो वह है देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली भाषाएँ। मसलन हिंदी, मराठी, संस्कृत आदि। माइक्रोसॉफ्ट के जनक बिल गेट्स ने यह भी कहा है कि देवनागरी लिपि और इस लिपि में लिखी जाने वाली संस्कृत एवं हिंदी भाषाएँ सर्वाधिक तार्किक और तथ्यपरक भाषाएँ हैं।

देवनागरी लिपि : श्रेष्ठ लिपि

आइए, यह भी जान लें कि हिंदीभाषा की लिपि देवनागरी कहाँ से और कैसे शुरू हुई; क्योंकि भारत की संविधान सभा ने भी 14 सितंबर 1949 को यह घोषणा आधिकारिक तौर पर की थी कि संघ की राजभाषा हिंदी होगी, जिसकी लिपि देवनागरी होगी। वस्तुत: देवनागरी लिपि नागरी लिपि का विकसित रूप है। ब्राह्मी लिपि का एक रूप 'नागरी लिपि' था। नागरी लिपि से ही 'देवनागरी लिपि' का विकास हुआ। अनेक प्राचीन शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों में ब्राह्मी लिपि प्रयुक्त हुई है। अशोक के शिलालेख भी ब्राह्मी लिपि में ही लिखे गए हैं। ईसा की चौथी शताब्दी तक समस्त उत्तर भारत में ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी। ईसापूर्व पाँचवीं सदी तक के लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार यह लिपि लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है। इतनी प्राचीन होने के कारण इसे 'ब्रह्मा की लिपि' भी कहा गया है। यही भारत की प्राचीनतम मूल लिपि है, जिससे आधुनिक सभी भारतीय लिपियों का जन्म हुआ।

 ISSN 0975-735X

ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा के बाद चौथी शताब्दी तक के लेखों की लिपि ब्राह्मी रही है। मौर्यकाल में भारत की राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी ही थी। इसके बाद ब्राह्मी लिपि दो रूपों में विभाजित हो गई–उत्तरी ब्राह्मी तथा दक्षिणी ब्राह्मी। उत्तरी ब्राह्मी प्रमुखत: विंध्याचल पर्वतमाला के उत्तर में प्रचलित रही तथा दक्षिणी ब्राह्मी विंध्याचल के दक्षिण में। 'उत्तरी ब्राह्मी' का आगे चलकर विविध रूपों नें विकास हुआ। उत्तरी ब्राह्मी से ही दसवीं शताब्दी में 'नागरी लिपि' विकसित हुई तथा नागरी लिपि से देवनागरी लिपि का जन्म हुआ। उत्तर भारत की अधिकांश लिपियाँ, यथा, कश्मीरी, गुरुमुखी, राजस्थानी, गुजराती, बंगला, असमिया, उड़िया आदि भाषाओं की लिपियाँ नागरी लिपि का ही विकसित रूप हैं। यही कारण है कि देवनागरी लिपि तथा उक्त सभी लिपियों में अत्यधिक समानता है। 'दक्षिण ब्राह्मी' से दक्षिण भारतीय भाषाओं, यथा, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालय आदि भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ। यद्यपि इन लिपियों का विकास भी मूलत: ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है, तथापि देवनागरी लिपि से इनमें कुछ भिन्नता आ गई है।

इन कारणों से देवनागरी लिपि है वैज्ञानिक

–यह लिपि विश्व की सभी भाषाओं की ध्वनियों का उच्चारण करने में सक्षम है। अन्य लिपियों में, विशेषकर विदेशी लिपियों में यह क्षमता नहीं है। जैसे अँग्रेज़ी में देवनागरी लिपि की महाप्राण ध्वनियों, कुछ अनुनासिक ध्वनियों आदि के लिए कोई उपयुक्त ध्वनि उपलब्ध नहीं है।

–देवनागरी लिपि में जो लिखा जाता है, वही बोला जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है। लिखने और बोलने में समानता के कारण इसे सीखना सरल है। विदेशी लिपियों में यह विशेषता नहीं है। अँग्रेज़ी में तो बिल्कुल ही नहीं।

–देवनागरी लिपि में प्रत्येक वर्ण की ध्वनि निश्चित है। वर्णों की ध्वनियों में वस्तु-निष्ठता है, व्यक्तिनिष्ठता नहीं। अँग्रेज़ी शब्दों के उच्चारण हर व्यक्ति अपने तरीके से करता है।

–इस लिपि में एक वर्ण एकाधिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त नहीं होता। अत: किसी भी वर्ण के उच्चारण में कहीं भी भ्रम की स्थिति नहीं है। अँग्रेज़ी में एक ही वर्ण भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप में उच्चारित होता है, अत: भ्रम की स्थिति रहती है।

–देवनागरी लिपि में प्रत्येक प्रयुक्त वर्ण ध्वनि अवश्य देता है। चुप नहीं रहता। अँग्रेज़ी में कहीं-कहीं प्रयुक्त वर्ण चुप भी रहते हैं। जैसे, Budget में d का उच्चारण नहीं होता। walk और knife में क्रमश: l और k चुप रहते हैं। कैसी विडंबना है कि जिन वर्णों का सृजन ध्वनि देने के लिए किया गया है, भावों की संप्रेषणीयता के लिए किया गया है, उन्हें प्रयुक्त होने के बाद भी चुप रहना पड़ता है।

–देवनागरी लिपि में ध्वनियों को अधिकाधिक वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए स्वरों तथा व्यंजनों की पृथक्-पृथक् वर्णमाला निर्मित की गई है।

–स्वरों के उच्चारण के समय जैसी मुख की आकृति होती है, वैसी ही आकृति संबंधित वर्ण की होती है। जैसे–'अ' का उच्चारण करते समय आधा मुख खुलता है। 'आ' की रचना पूरा मुख खुलने के समान है। 'उ' का आकार मुख बंद होने की तरह है। 'औ' में दो मात्राएँ मुख के दोनों जबड़ों के संचालन के समान हैं।

–स्वरों की ध्वनियों की वैज्ञानिकता यह है कि बच्चा पैदा होने के बाद स्वरों के उच्चारण क्रम में ही होते हैं।

–स्वरों के उच्चारण में हवा कंठ से निकलकर उच्चारण-स्थानों को बिना स्पर्श किए, बिना अवरुद्ध हुए, ध्वनि करती हुई मुख से बाहर निकलती है।

–व्यंजनों के उच्चारण में हवा कंठ से निकलकर उच्चारण-स्थानों को स्पर्श करती हुई या घर्षण करती हुई, ध्वनि करती हुई, ओठों तक होती हुई मुख या मुख और नासिका से बाहर निकलती है। इस प्रकार स्वरों तथा व्यंजनों में ध्वनि उत्पन्न करने की प्रक्रिया में भिन्नता है। अत: सिद्धांतत: स्वरों तथा व्यंजनों का वर्गीकरण पृथक्-पृथक् होना ही चाहिए। देवनागरी लिपि में इसी वैज्ञानिक आधार पर स्वर और व्यंजन अलग-अलग वर्गीकृत किए गये हैं।

–व्यंजनों को उच्चारण-स्थान के आधार पर कंठ्य, मूर्धन्य, दंत्य तथा औष्ठ्य-इन पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। कंठ से लेकर ओठों तक ध्वनियों का ऐसा वैज्ञानिक वर्गीकरण अन्य लिपियों में उपलब्ध नहीं है। उक्त वर्गीकरण ध्वनि-विज्ञान पर आधारित है।

–देवनागरी लिपि में अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में भी वैज्ञानिकता है, क्योंकि शब्दों के साथ उच्चारण करने पर अनुनासिक ध्वनियों में अंतर आ जाता है, इसलिए व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग के साथ, वर्ग के अंत में उसका अनुनासिक दे दिया गया है।

–देवनागरी लिपि में ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं में स्पष्ट भेद है। उनके उच्चारण में कोई भ्रम की स्थिति नहीं है। अन्य लिपियों में ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के उच्चारण की ऐसी सुनिश्चितता नहीं है। अँग्रेज़ी में तो वर्णों से ही मात्राओं का काम लिया जाता है। वहाँ ह्रस्व और दीर्घ में कोई अंतर नहीं है, मात्राओं का कोई नियम नहीं है।

बहरहाल, सरकारी संस्थानों में संगोष्ठियों का आयोजन स्वागतयोग्य है। इसके मूलत: तीन कारण मेरे विचार में हैं। पहला, कार्यालयीन कामकाज में तल्लीन व्यक्ति को वैचारिक धरातल पर कुछ सुनने-समझने और सोचने-विचारने के अवसर मिलते हैं। यह उसकी मस्तिष्कीय सक्रियता को बढ़ाता है और सुषुप्त पड़ी रचनात्मक प्रतिभा को सामने लाने में सहायक होता है। दूसरा कारण, विचारवान व्यक्तियों से परिवार व समाज विचारवान होता है। आखिरी वजह बुनियादी भी है। भारत सरकार की राजभाषा नीति के क्रियान्वयन की दिशा में यह एक सशक्त गतिविधि है। उम्मीद है, सशक्त संगोष्ठियों के आयोजन का सिलसिला सरकारी कार्यालयों और विभागों में बढ़ेगा।

पर यह आवश्यक है कि हम किसी भी भारतीय भाषा को उसी लिपि में लिखें और लिखने को तरजीह दें जो उस भाषा के लिए बनी हुई है। रोमन लिपि के प्रति आकर्षण अंतत: हमें अपनी जड़ों से अलग ही करेगा। आखिर में एक बात। ज्यों-ज्यों हमारे देश में हिंदी और दूसरी भाषाओं को हल्के में लिए जाने का षड्यंत्र बढ़ेगा, त्यों-त्यों इन भाषाओं के जानकारों का वर्चस्व बढ़ेगा। अच्छी हिंदी–शुद्ध हिंदी, अच्छी मराठी–शुद्ध मराठी, अच्छी गुजराती–शुद्ध गुजराती लिखने-बोलने वालों की तूती बोलेगी। तथास्तु।

ए-103, **सच्चिदानंद रहेजा कॉम्पलेक्स**
मालाड (पूर्व), मुंबई 400 097
मोबाइल : 9869531601
ई-मेल : Amrishsinhaa@gmail.com

 ISSN 0975-735X

अशोक वाजपेयी की कविताओं में बिंबों की साभिप्रायता

डॉ॰ सुधा जितेन्द्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

डॉ॰ मनप्रीत कौर
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
गुरुनानक देव विश्वविद्याालय, अमृतसर

बिंब काव्यभाषा के सौंदर्य को बढ़ाने में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग, केंद्रीय तत्त्व और प्रधान उपकरण के रूप में कार्य करता है। कवि अपने भावों को आकार देने के लिए बिंबों का ही आश्रय लेते हैं अर्थात् बिंब काव्यभाषा का प्राण भी माने जाते हैं। बिंबों के अभाव में काव्यरचना की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'काव्यजीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है और आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिंब से निर्मित होती है।'[1] कहकर काव्य में बिंब के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। बृहत् हिंदी कोश के अनुसार बिंब का अर्थ है–अकृति, प्रतिछाया, कमंडलु।[2] मानक हिंदी कोश में बिंब को परछाँही, प्रतिमूर्ति, किसी आकृति की वह झलक जो किसी पारदर्शक पदार्थ में दिखाई पड़ती है'[3] के रूप में वर्णित किया गया है। एजरा पाउंड के अनुसार–'बिंब वह है, जो एक निश्चित समय में एक मानसिक और भावनात्मक प्रक्रिया को इस संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है कि कवि की मूलभूत भावनाएँ एक विशेष प्रकार की संरचना का आधार लेकर पाठक तक संप्रेषित हो जाएँ।'[4]

भारतीय साहित्य कोश के अनुसार–अँग्रेज़ी शब्द इमेज का हिंदी रूपांतर है–बिंब। इमेज का सामान्य अर्थ है–प्रतिमा, जिसकी रचना कवि अपने मानस में स्मृति, विगत अनुभव, विशुद्ध कल्पना अथवा संयुक्त रूप से स्मृति और कल्पना के आधार पर करता है। काव्य में जब यह मानस-प्रतिमा कवि की अनुभूति का संप्रेषण शब्दार्थमय माध्यम बनती है तो उसे काव्य-बिंब कहा जाता है। कवि अपनी अनुभूति को बिंब के रूप में मूर्त करके शब्दार्थ के माध्यम से काव्यबद्ध में साकार करता हुआ उसके भीतर निहित कवि की अनुभूति को आत्मसात् कर लेता है।'[5]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि, रचनाकार या प्रमाता उस काव्यबिंब को अपनी कल्पना द्वारा शब्दों के माध्यम से अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा किसी भी वस्तु का चित्र बिंब है। जिस प्रकार हमारी छाया से हमारी शारीरिक संरचना का आभास मिलता है, ठीक उसी प्रकार बिंबों के माध्यम से रचनाकार जिस किसी भी वस्तु, भाव, विचार से हमें परिचित करवाना चाहता है, उसका आभास हमें प्राप्त होता है, क्योंकि रचनाकार अपनी रचना में ठीक वही वस्तु या पदार्थ

तो लाकर नहीं प्रस्तुत कर सकता, इसीलिए वह बिंबों का सहारा लेकर ऐसे शब्दचित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है, मानो हमारी कल्पना में, हमारे मानस में वह वस्तु सजीव हो उठती है। 'चित्रात्मकता, शब्द रूपात्मकता, ऐंद्रियता, भावात्मकता, काव्य का अंतरंग उपादान' इत्यादि काव्यबिंब के सामान्य लक्षण माने गए हैं।'[6]

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से बिंबों का वर्गीकरण करते हुए बिंबों के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है, परंतु बिंबों के वर्गीकरण का सर्वमान्य, सर्वप्रचलित और सर्वप्रमुख आधार 'ऐंद्रियता' ही है, जिसके अंतर्गत श्रव्य, दृश्य, स्पृश्य, गंध, स्वाद, स्मृति, वर्ण, सांस्कृतिक एवं पौराणिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी, दैनिक जीवन के विविध बिंब, मानस सहज एवं अलंकृत, भाव, विचार इत्यादि बिंबों की चर्चा की जाती है।

कवि अशोक वाजपेयी की काव्यभाषा का प्राणतत्त्व भी बिंब है। उनकी कविताओं का अवलोकन करने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में कई प्रकार के बिंब पाए जाते हैं, जिसका अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है–

1. **दृश्य बिंब**

जो बिंब दृश्य-संवेदना जगाते हैं, वे दृश्य बिंब कहलाते हैं। काव्य और व्यवहार में दृश्य बिंबों की प्रधानता होती है। ये बिंब अपेक्षाकृत अधिक सहज-ग्राह्य होते हैं। सुसान के लैंगर का यह मत है कि सभी बिंबों में दृश्य-संवेदना अनिवार्यत: रहती है।'[7] इन बिंबों का चयन जीवन और जगत के नाना क्षेत्रों से किया गया है। सर्वाधिक संख्या प्रकृति के विस्तृत क्षेत्रों से गृहीत दृश्य बिंबों की है। प्रकृति के अतिरिक्त सांस्कृतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तकनीकी, कृषि, पशुचारण तथा दैनिक जीवन के विविध क्षेत्रों से भी बिंबों का चयन किया गया है।'[8]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में दृश्य बिंबों की भरमार है। इनकी कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों के साथ-साथ कवि की रोजमर्रा की जिंदगी, आम आदमी से संबंधित बिंब, किसी स्थान-विशेष पर आधारित बिंब द्रष्टव्य हैं। प्रकृति बिंबों के अंतर्गत प्रकृति के चेतन रूप, प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य, प्रकृति का शेष चराचर जगत से वार्तालाप आदि के बिंब प्रस्तुत करते हुए प्रकृति के अन्य उपकरणों से जुड़े बिंब इनकी कविताओं में दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति के चेतन रूप का बिंब प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

वृक्ष कुछ कह रहा है / अपनी हरी-पियारी भाषा में
उसके पल्लव-शब्द काँपते हैं।[9]

प्रकृति के चेतन रूप के साथ-साथ अशोक वाजपेयी ने प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य के बिंब भी अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। भरी गर्मी में गुलमोहर और अमलतास का अपनी पूरी खुशी, आभा के साथ खिलना, चंद्रमा का धरती पर फैलता प्रकाश, धूप का खिलना, हवा का चलना, चिड़ियों का घोंसला बनाना, सूर्य का उदय होना इत्यादि दृश्य इनकी कविताओं में बड़ी ही सजीवता से वर्णित हुए हैं। जैसे–

वृक्षों की झिलमिल पत्तियों में / गूँजता है हरापन
पूरब के आकाश में / धीरे-धीरे उठती है / एक अरुणाभ गूँज
और इसके पहले / कि मंदिर में गूँजे प्रार्थना

ध्रुपद के आलाप की तरह
पलाश के फूलों जैसी खिल जाती है / सुबह।[10]

अशोक वाजपेयी ने फ्रांस के प्रसिद्ध शहर आविन्यों में रहकर कविताएँ लिखीं। इन कविताओं में आविन्यों के भोगौलिक और प्राकृतिक वातावरण के बिंब कवि ने प्रस्तुत किए हैं–

खिड़की से दूर भी प्रार्थना की दीवार
दीवार से दूर थी सँकरी-सी गली
गली से दूर था पानी का सोता
सोते से दूर था जंगल।[11]

x x x

धूप आती है कभी-कभी प्राचीन पत्थर के रेशों को
अकारण रौशन करती हुई
ओस गिरती है / चुपचाप
कभी न मुरझाने-सूखने वाली
प्राचीन हरीतिमा और दूर्वा पर।[12]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रकृति शेष चराचर जगत से वार्तालाप करती प्रस्तुत की गई है। कुछ कविताओं में प्रकृति अपना दु:ख सुनाती द्रष्टव्य है तो कुछ कविताओं में प्रकृति मनुष्य को कुछ-न-कुछ उपदेश देती प्रतीत होती है। अशोक वाजपेयी ने प्रकृति का मानवीकरण करके प्राकृतिक उपकरणों पत्तों, पत्थरों, जल, चिड़िया इत्यादि के माध्यम से प्रकृति की व्यथा का बिंब प्रस्तुत किया है–

बहुत नीचे जल के अतल में
हम ही होते हैं सारे प्रवाह को / अपने हाथों में उठाए हुए
जैसे कि जल बच्चा है
गिर गया तो चोट लग जाएगी।[13]

प्रकृति के वार्तालाप का दूसरा पक्ष प्रकृति के उपदेशात्मक रूप का है। प्रकृति इन कविताओं में मनुष्य को कुछ-न-कुछ समझाने का प्रयास करती है। साथ ही अपनी भावनाओं का प्रस्फुटन सबके समक्ष करती है। जल की संवेदना का बिंब प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

मैं बहता तो हूँ
लेकिन कभी-कभी हँसता या रोता भी हूँ
बिफरता हूँ / जब-तब गुमसुम उदास हो जाता हूँ।[14]
ऊँचा जाने पर तुम कुछ नहीं छू पाओगे
छूओ यहीं नीचे धरती की नमी को, वनस्पतियों के नमक को,
खिलौनों की जगमगाहट को,
रोटियों पर पड़े, कत्थई दागों को।[15]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में प्राकृतिक उपादानों जैसे-जल, धरती, घोड़े, सूर्य, घास, पत्थर इत्यादि के विषय में बहुत-सी कविताएँ लिखीं हैं। इन कविताओं में इन प्राकृतिक

उपकरणों के क्रियाकलापों से संबंधित बिंब अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। पत्थर के विषय में अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

पत्थर पर झरता है फूल / गिरती है धूप
पत्थर पर फुदकती है चिड़िया
बैठकर सुस्ताती है वीरबहूटी
पत्थर पर पड़ती है परछाई / बरसती है फुहार।[16]

प्राकृतिक उपकरण अपने ऊपर क्या कुछ सहन नहीं करते। कभी धूप तो कभी छाया, कभी आग तो कभी बारिश, कुछ ऐसा ही दुख सहन करना पड़ा पृथ्वी को, जब भोपाल में 1984 में भयानक अग्निकांड हुआ। शहर के हालात तो कुछ दिनों में सामान्य हो गए, परंतु पृथ्वी के हृदय पर जो घाव हैं, वे आज तक भी भर नहीं पाए। अशोक वाजपेयी ने प्रकृति की इसी दयनीय स्थिति का बिंब अंकित करते हुए लिखा है–

खरगोश अँधेरे में / धीरे-धीरे कुतर रहे हैं पृथ्वी
x x x
अपने डंक पर साधे हुए पृथ्वी को
आगे बढ़ते जा रहे हैं बिच्छू।[17]

इस पृथ्वी को बचाने के प्रयास में इस्तेमाल किए गए रूपकों का बिंब भी अपनी कविताओं में अशोक वाजपेयी ने प्रस्तुत किया है। उनकी कविताओं में उनकी बेटी इस पृथ्वी की देखरेख करती द्रष्टव्य है–

पृथ्वी को एक बिल्ली की तरह / अपने कंधे पर बिठाए
संसार के उजालों की ओर / भाग रही है मेरी बेटी।[18]
x x x
जो पृथ्वी वसुंधरा थी / जो पृथ्वी उबरी थी समुद्र से,
उस पृथ्वी को / एक गुड़िया की तरह
गहने-गुरिया पहनाकर
अपने पास बिस्तर में / सुलाए नींद में डूबी है
सपने-सी मेरी बेटी।[19]

सिर्फ इतना ही नहीं है, अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में प्रेम-संबंधों को प्रकृति का आधार देकर प्रस्तुत किया हैं। कवि प्रिय समागम के लिए प्रकृति से उसकी प्रियतमा को उसके पास लाने की गुहार करता है। प्राकृतिक उपादान स्वयं कवि की प्रियतमा को उससे मिलने के लिए उसका हार-शृंगार करते हैं। प्रकृति के उपकरणों से छेड़-छाड़कर उन्हें अपने स्थान से हटा कर स्वयं कवि की प्रियतमा इन कविताओं में अपनी क्रीड़ाओं के लिए जगह बनाती है–

फूलों से कहता हूँ / अपने परागों से बनाओ एक पालकी
और उसे ले आओ।[20]
x x x
वह अपने कानों में पहनती है / सूर्य और चंद्र के कुंडल
अपने कुंतलों में भरती है निशीथ का अंधकार

x x x
सारे ब्रह्मांड को / पर्युत्सुक करती है
अपने प्रिय समागम के लिए।[21]

प्रेम की उदात्त अवस्था में सिर्फ इतना ही नहीं, कोई प्रेमी जब प्रियतमा को छूता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसने सारी प्रकृति का स्पर्श कर लिया है। ऐसा दृश्य प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

मैंने छुआ हर उस कली को / जो अधीर थी खिलने और मुरझाने को।[22]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त अपनी नातिन की अटपटी चाल का बिंब भी अंकित किया है। जैसे–

वह डगमग चलती है / तो सारी पृथ्वी डोलती है।[23]

इसके साथ-साथ अशोक वाजपेयी एक अकेली बेसहारा, गरीब बुढ़िया के अभावग्रस्त जीवन का बिंब प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं–

बुढ़िया की झोली में / कुछ फल थे सूखे हुए।
x x x
बुढ़िया के घर में अन्न न था / न कोई बिछौना
x x x
अपनी झोली बगल में रखे हुए
बुढ़िया पसरी रहती है / ओसारे में।'[24]

सड़क पर चलने वाले आम आदमी के जीवन-व्यापारों, रोज़मर्रा के कार्यों का बिंब प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी कहते हैं–

कितने अच्छे लगते हैं सुबह काम पर जाने वाले
x x x
प्राय: सभी के हाथों में थैले होते हैं
जिनमें सुबह-सुबह माँ या धरैतिन का बनाया दोपहर का भोजन
जतन से लपेटकर रखा होता है।[25]

कवि अशोक वाजपेयी ने मकबूल फिदा हुसैन के एक चित्र को देखकर उस चित्र का प्रतिबिंब अपनी कविता में अंकित करते हुए लिखा है–

उजाले की दो गहरी लाल आँखें / मुड़ गईं उस सड़क पर
जो मेरे घर के अँधेरे के पास से / गुजरती है।[26]

अली अकबर खां का सरोद वादन समाप्त होने के फौरन बाद उनकी बहन का सीढ़ियों पर चिपके रह गए हाथ का बिंब कवि ने कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है जैसे-

सीढ़ियों पर सहमकर रह गया / एक हाथ
उँगलियों से फूट-फूटकर बहता रहा / उजाले का नरम बहाव
सहमकर रह गया एक हाथ।[27]

2. **स्मृति बिंब**

मन भी एक प्रकार की इंद्रिय है, जिसकी दो क्रियाएँ हैं-स्मृति और अनुभूति।[28] स्मृति बिंब

के अंतर्गत कवि अपने अतीत से जुड़ी यादों, बातों, घटनाओं, इत्यादि का वर्णन अपने काव्य में करता है।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में स्मृति बिंबों की भरमार है। कवि ने अपने बचपन से जुड़ी यादों, अपनी माँ के साथ व्यतीत हुए पल और पोते के जन्म के समय की घटनाओं इत्यादि से जुड़ी यादों के बिंब अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। कवि सागर शहर के गोपालगंज मुहल्ले वाला अपना वह घर आज भी नहीं भूल पाया जहाँ पर उसका बचपन और लड़कपन का कुछ समय व्यतीत हुआ था। वहाँ के पेड़-पौधे, घूमना-फिरना, खाना-पीना, बचपन की नादान हरकतें, इन सबको कवि बहुत मिस करता है। इससे जुड़े सुंदर बिंब उनकी कविताओं में द्रष्टव्य हैं, जैसे-

बचपन के घर के सामने कठचंदन था / मौलश्री थी:
कड़ी धूप में हम शहर घूमते थे
और ठंड की रात में गरम दूध में
ताज़ी रोटी मसलकर खाते थे।[29]

परंतु जब अशोक वाजपेयी अपने प्रिय शहर सागर को छोड़ किसी अन्य शहर में बसेरा करते हैं तो उन्हें फिर भी अपने पैतृक घर राजापुर-गढ़ेवा तथा गोपालगंज मुहल्ले वाला किराए का मकान बहुत याद आता है। वह अपने उन दोंनों घरों की चिंता करते जान पड़ते हैं कि वहाँ अब सब-कुछ बदल गया होगा। फलां चीज ऐसी हो गई होगी, फलां चीज वैसी होगी–

राजापुर-गढ़ेवा का पैतृक घर / अब ढहने को होगा-
उसका छप्पड़ उड़ चुका था,
आँगन में बरसों पहले उग आए थे घास-झंखाड़।
x x x
गोपालगंज सागर का मकान / कुएँ और हरसिंगार के पेड़ वाला
जहाँ शुरू हुई कविता / जहाँ हुआ प्रेमारंभ
x x x
उस भीड़ और हाहातूती में खोजना मुश्किल होगा
बचपन का बस्ता, संगाती, छुपकर खाई चाट।[30]

अशोक वाजपेयी अपनी माँ की छब्बीसवीं बरसी पर उसे याद करते हुए इस बात का अफसोस भी ज़ाहिर करते दिखाई पड़ते हैं कि वह अपनी माँ को कभी भी पूरी तरह से जान नहीं पाए और न ही मरने के इतने वर्षों बाद उसे उतना याद करते हैं जितना करना चाहिए। उन्हें तो यह भी ठीक से याद नहीं कि उनकी माँ की 25वीं बरसी है या 26वीं। इतना जरूर याद है कि उसकी मृत्यु कैंसर से हुई थी और सरकारी अस्पताल में–

उस दिन भी कड़ी धूप थी / गरमी
और उस पुराने सरकारी अस्पताल का
पत्थर-पटा रास्ता उदासीन था इससे।
x x x
शायद स्ट्रेचर पर ले जाई जाकर
वह नीचे या वापस नहीं उतरी।[31]

अशोक वाजपेयी ने अपने जीजा की मृत्यु के बाद के सारे क्रिया-कलापों, जिनमें उनकी

 ISSN 0975-735X

भूमिका रही थी का बिंब बहुत ही सरल शब्दों में गद्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। एक-एक घटना बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कवि ने व्यक्त की है–

'हम अस्थि फूल चुनने गए। दूध-पानी से सींचकर चिता की भस्म ठंडी की गई। सब राख बोरों में भर ली। हमने कपड़े बदले और नहाए। तभी दुनिया के स्कूल की अध्यापिकाओं का एक दल आया, शोक व्यक्त करने।'[32]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में अपने पैतृक गाँव राजापुर-गढ़ेवा में रहने वाले बुजुर्ग 'दौआ बाबा' की याद में भी कविता लिखी है कि कैसे वह लँगड़े होते हुए भी होली के अवसर पर बड़े उत्साह के साथ खुशी से झूमते और नाचते थे। उस समय का बिंब अंकित करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–'वे एक लँगड़े किसान थे। खेत जाते थे, ढोर-डंगर देखते थे और बहुत अच्छी ढोलक बजाते और गाते थे। नायक होते गले में ढोल लटकाये दौआ बाबा। फिर न जाने कब वे ढोल बजाकर नाचने का निश्चय करते।'[33]

3. **वर्ण बिंब**

रंग संवेदना को उजागर करने वाले बिंब वर्ण बिंबों के अंतर्गत आते हैं। अशोक वाजपेयी की कविताओं में वर्ण बिंब अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। उनकी कविताओं में हरा, पीला सफेद, कत्थई, नीला, काला, भूरा, मटमैला, बदराया, लाल, दूधिया, श्यामल, बैंगनी इत्यादि रंगों की इंद्रधनुषी छटा बिखरी हुई है।

'हरा' रंग कवि अशोक वाजपेयी को बहुत प्रिय है। जहाँ एक ओर हरा रंग खुशहाली का, प्रकृति का प्रतीक है, वहीं दूसरी ओर अशोक वाजपेयी की प्रियतमा 'सुमन' हरे रंग के वस्त्र अधिक पहनती थी, इसीलिए इन्हें हरा रंग बहुत अधिक अच्छा लगता है। इन्हीं कारणों से इनकी कविताओं में हरे रंग के बिंबों की बहुलता है। हरी पत्तियाँ, हरी घास, हरी काई, हरियाया पेड़, हरी डाल, इत्यादि के बिंब इनकी कविताओं में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। जैसे-कभी अशोक वाजपेयी को अपनी प्रियतमा हरी पत्ती के कंपन की तरह ताज़ा'[34] दिखाई पड़ती है तो कभी कवि को हरा रंग 'नीले भूरे मटमैले बदराए रंगों के पार से पुकारता'[35] हुआ प्रतीत होता है। कभी कवि 'जल' पीने की इच्छा रखता हुआ कहता है–

मेरी कड़ी गदलियाँ नरम बनें
यह हरा-हरा-सा जल / थोड़ा-सा पी लू मैं।[36]

कवि को यह प्रतीत होता है कि 'झरना कहीं एक हरे पेड़ के नीचे से बहकर चुपचाप'[37] उसके पास आ गया है और वह कामना करता है कि 'कल का दिन भीगी-हरी डाल पर खिला धुला फूल हो।'

सिर्फ इतना ही नहीं अशोक वाजपेयी को तो सारी प्रकृति, वातावरण हरे रंग में डूबा प्रतीत होता है और वह तो यहाँ तक भी घोषणा कर देते हैं–

एक युवा जंगल मुझे / अपनी हरी उँगलियों से बुलाता है
मेरी शिराओं में हरा रक्त बहने लगा है
आँखों में हरी परछाइयाँ फिसलती हैं
कंधों पर एक हरा आकाश ठहरा है
और मेरे होंठ हरे गान में काँपते हैं

मैं नहीं हूँ और कुछ / बस एक हरा पेड़ हूँ
हरी पत्तियों की एक दीप्त रचना।
x x x
एक हरे बसंत में डूबा हुआ
आ* ता* हूँ।[38]

इतना ही नहीं सूर्यग्रहण के अवसर पर अशोक वाजपेयी को दिखाई पड़ने वाली 'हरी बिल्ली' का बड़ा ही सुंदर बिंब उन्होंने अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। जैसे-

एक हरी बिल्ली जिसके हरेपन पर एक भूरा धब्बा है
x x x
हरी घास निकलती है घूमने आकाश में
x x x
हरी पत्तियों पर गिरती है बारिश
बारिश फिसलती है हरी काई पर।[39]

हरे रंग के पश्चात् कवि ने नीला आकाश, नीली चिड़िया, नीला हिरन, नीला घोड़ा, नीला घुड़सवार इत्यादि के बिंब अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। नीला रंग विराटता, रहस्यमयता, आकर्षण उद्दाम शृंगार का प्रतीक है। अशोक वाजपेयी की दृष्टि में कभी 'नीलाकाश एक रेखा में सबको गूँथकर'[40] रखे हुए हैं तो कहीं पर कवि को 'नीला आकाश एक दीवार'[41] की भाँति प्रतीत होता है। कहीं पर कवि 'मरने से पहले झाड़ियों में फँसे नीले हिरन की आँखों में छाए आँसुओं के काले बादल को आवाज देता है'[42] और वह आवाज़' हरियाये पेड़ पर अचानक आ गई नीली चिड़िया को सुनाई पड़ती है'।[43]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविता में 'नीले अश्व पर आरूढ़ भव्य अवतारी पुरुष[44] को' देखने का बिंब प्रस्तुत करते हुए अपने भाई को तोहफे में 'एक काठ का नीला घुड़सवार'[45] देने की बात की है। हरे और नीले रंग के अतिरिक्त 'पीला' रंग भी कवि अशोक वाजपेयी का प्रिय रंग जान पड़ता है। पीला रंग इनकी कविताओं में उदासीनता का प्रतीक है। उनकी कविताओं में कुछ स्थलों पर 'खिड़की से एक पीला गुलाब रह-रहकर टकराता रहा'।[46] और कहीं पर 'वसंत का उजाला पीला और धीमा'[47] इत्यादि के बिंब दिखाई पड़ते हैं।

कहीं-कहीं पर कवि ने पीला रंग ढलते यौवन और हीन शक्ति के रूप में भी वर्णित किया है। जैसे-'जहाँ सदा सुबह थी / वहाँ एक पीली शाम नज़र आई।'[49]

अर्थात् जीवन से खुशहाली जाने से जो उदासी का माहौल छाया है, कवि ने उसका बड़ा सुंदर बिंब प्रस्तुत किया है। अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में 'लाल रंग' से संबंधित बिंब भी कुछेक स्थलों पर प्रयोग किए हैं। जैसे-'दोनों एवं साथ अरुणाभ / मुख लज्जा से / त्रिभुज कामना से।'[50] यहाँ कवि ने शर्म से लाल हुए अपनी प्रियतमा के मुखड़े का बिंब प्रस्तुत किया है। कभी उन्हें अपनी प्रियतमा शाम के लाल आकाश की तरह प्रतीत होती है जैसे-

वही आकाश थी-
संध्या का अरुणाभ आकाश / नीलाभ नहीं।[51]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में रंगों की रसायनिक प्रक्रिया के बिंब भी प्रस्तुत किए हैं। कवि अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर ही 'नीले पर बैंगनी पर पीले पर लाल'[52]

फूलों के खिलने का बिंब प्रस्तुत करता है। कहीं पर कवि ने–

हरे को दीप्त करता है वसंती
वसंती को दुलारकर / थामे है
हरे और वसंती में लज्जारुण
दमकती वह चंद्रलिखित-सी।[53]

का बिंब प्रस्तुत किया है। कुछ स्थलों पर कवि को अँधेरा काला होने के साथ-साथ हरा भी प्रतीत होता है जैसे–

अँधेरा / काला
और / हरा[54]

4. **गंध बिंब**

घ्राणेंद्रिय द्वारा संवेद्य बिंब गंध बिंब कहलाते हैं। विभिन्न गंधों की मूर्त संवेदना इन बिंबों के रूप में जाग्रत की जाती है। विशुद्ध रूप से गंध बिंब विरल रूप में ही उपलब्ध होते हैं।[55] कविगण प्राय: विभिन्न पुष्पों अथवा सुगंधित पदार्थो के चित्रण के माध्यम से गंध की चेतना जगाते हैं।

कवि अशोक वाजपेयी की कविताओं में गंध बिंब मात्र एक या दो स्थलों पर ही उभर कर सामने आते हैं। अशोक वाजपेयी की 'प्रेम से संबंधित कविताओं में उन्होंने हवा में अपनी प्रियतमा की सुगंध का बिंब केवल एक स्थान पर प्रस्तुत किया है जैसे–

पृथ्वी पर सुनाई दे रही है उसकी पदचाप-
हवा में बहकर आ रही है उसकी सुगंध।[56]
x x x
हवा में उसकी गंध है / अचूक और अदृश्य।'[57]

5. **स्पर्श बिंब**

जो बिंब स्पर्श संवेदना को जाग्रत करते हैं, वे स्पर्श बिंब कहलाते है। कोमल, कठोर, ठंडा, गरम आदि स्पर्श की संवेदनाओं को व्यक्त करने वाले शब्द इसके अंतर्गत आते हैं।[58]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में मात्र कुछ स्थलों पर रूखी, कठोर, हलका, नरम, गरम, कोमल आदि संवेदनाओं का वर्णन कुछेक पंक्तियों में किया गया है। कवि अपनी प्रियतमा के 'हाथ के झिझकते स्पर्श की तलाश'[59] को सदैव अपने संसार में रखने की कामना करता है। उसकी प्रियतमा की देह कोमल है और उसकी प्रियतमा हलकी ठंड में गरमी का अहसास करवाने वाली है। जैसे–'उसकी कंचन काया / पंख-पंखरियों से बनी है।' [60]

6. **इंद्रिय विपर्ययपरक बिंब**

कुछ ऐसे बिंब, जिनमें इंद्रियों के विषय बदलकर आकर्षण उत्पन्न किया जाता है, इंद्रिय विपर्ययपरक बिंब कहलाते हैं। इन्हें 'सिनस्थैटिक' बिंब भी कहते हैं।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में कुछ स्थलों पर इंद्रिय विपर्ययपरक बिंब द्रष्टव्य हैं। जैसे सुनना, कानों का काम है, परंतु इनकी कविताओं में 'हाथों' द्वारा सुनने का बिंब प्रस्तुत किया गया है। ठीक वैसे ही 'जिह्वा' से बोलने का कार्य संपन्न होता है, परंतु यहाँ 'हाथ' दुनिया से बातें करते प्रतीत होते हैं जैसे–

लकड़ी में कभी-कभी किसी पेड़ के
रोने की आवाज़ आती है
ऐसी कि सिर्फ मेरे हाथ सुन पाते हैं।[61]
x x x
लिखते हुए उसके हाथ
उसकी लंबी चुप्पी के बावजूद / दुनिया से बतियातें हैं।[62]

आँसू सदैव आँखों से टपकते हैं, परंतु अशोक वाजपेयी की कविताओं में आँसू पर्दे पर दिखाई पड़ते हैं न कि आँखों में। ऐसा सिर्फ समय के बदलाव के कारण संभव हुआ है, जिसने मनुष्य को भावनाओं रहित और आत्मकेंदित कर दिया है। जैसे-

रंगों में होगा, लहू ने आँखों से टपकना छोड़ दिया है:
आँसू भी अब आँखों में कम पर्दे पर ज्यादा नज़र आते हैं।[63]

7. **आस्वाद्य बिंब**

कविता में आस्वाद्य अनुभूति को उभारने वाले बिंबों की योजना भी मिल जाती है। ऐंद्रिय बिंबों में आस्वाद्य-बिंबों की योजना, सर्वाधिक कठिन अत: विरल होती है।[64]

कवि अशोक वाजपेयी की कविताओं में भी आस्वाद्य बिंबों की संख्या बहुत ही कम है। यह भी कहा जा सकता है कि नाममात्र ही है। खाद्य पदार्थों के सिर्फ नाम ही उनकी कविताओं में प्राप्त होते हैं। कवि कहीं तो दोपहर को 'मेथी के पराठे खाने के बाद पड़ने वाले आलस्य'[65] का बिंब प्रस्तुत करता है तो वहीं दूसरी ओर 'चिड़िया की चोंच में दानों की कल्पना कर उसके सुस्ताने की बात करता है।'[66] कटहल का अचार, मलाई की बरफ, लँगड़े आम, दलभजिया, भरे करेले, मटर-पनीर, छोले-नान, मिठाइयाँ, कहवाघर, मिल्कबार, आइसक्रीम, लाहौर के कबाब, गोश्त, थाई फास्टफूड इत्यादि का नामोल्लेख अशोक वाजपेयी की कविताओं में मिलता है।

कवि अपनी कविताओं में यह विलाप करता है कि इतनी उम्र बीतने के बावजूद वह रहने के लिए अपना मनचाहा घर मुहल्ला और शहर नहीं खोज पाया। जैसे–

मैं विलाप करता हूँ
बना नहीं पाया ऐसा घर
जिसमें रहते दिदिया काका, अम्मा-दादा, बाबा / ऋभु के साथ

सब जमा होते भोजन के लिए
जिसमें मलाई की बरफ और लँगड़े आमों के साथ
कटहल का अचार, दलभजिया, भरे करेले होते
मटर-पनीर, छोले-नान के साथ।

रह नहीं पाया ऐसे मुहल्ले में
जिसमें परचूनी की दुकान, महादेवी मिठया की मिठाइयाँ
कहवाघर, मिल्कबार, आइसक्रीम की दुकानें होतीं। [67]

इसके अतिरिक्त अशोक वाजपेयी की कविताओं में मुँगौड़े, जलेबी, मगद के लड्डू चाट, मूँगफली, चाय, खुरमा नमकीन, दूध, पेड़ा, गुलगुले, पत्तागोभी, पूरी-सब्जी, चिरौंजी की बरफी,

दाल इत्यादि खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख भी किया गया है।

8. **भाषावैज्ञानिक बिंब**

'भाषाविज्ञान की नूतन स्थापनाओं के फलस्वरूप कवि 'शब्द' की सजीव सत्ता के प्रति जागरूक एवं संवेदनशील हैं। अतः उन्होंने भाषा के अछूते क्षेत्र से भी सर्वथा नए बिंबों का चयन और प्रयोग कर बिंब-विधान को नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। शब्द, क्रिया, विशेषण, व्याकरण, भाषा, ध्वनि आदि इन कवियों के लिए मात्र संकेत नहीं, ठोस जीवित वस्तु हैं।'[68]

कवि अशोक वाजपेयी की 'भाषा' में विशेषतः 'शब्द' में गहन आस्था रही है। वह शब्द को ब्रह्म के समान मानते हैं। एक साधारण मनुष्य का ईश्वर के प्रति जो विश्वास है, वह उम्मीद, वह इच्छा, वह विश्वास कवि अशोक वाजपेयी का 'शब्दों' के प्रति है।

संसार नश्वर है, यह एक परम सत्य है। परंतु अशोक वाजपेयी का मानना है कि इस संसार की एक-एक वस्तु नाशवान है, परंतु सब-कुछ नष्ट होने के बाद जो एक चीज़ बचेगी वह है शब्द। जैसे–

न बच्चा रहेगा / न बूढ़ा,
न गेंद, न फूल, न दालान / रहेंगे फिर भी शब्द
भाषा एकमात्र अनंत है।[69]
x x x
मुझे ले जाएगी / राख की तरह उड़ाकर मृत्यु
x x x
बचेंगे सिर्फ शब्द ही।'[70]

अशोक वाजपेयी की शब्दों के प्रति अडिग आस्था इन बातों से ज़ाहिर होती है कि नश्वरता से बचा सकते हैं शब्द।[71] कवि तो यहाँ तक भी कहता है कि जीवन में हमारे समक्ष अनेक विपरीत परिस्थितियाँ आती है तो ऐसे में 'शब्द' ही उस शक्ति के रूप में हमारे जेहन में घूमते हैं जो हमें साहस छोड़ने से बचाते हैं। हमारे साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलते हैं–

कभी-कभी जब हम गलत रास्ते पर होते हैं
शब्द जूतों के अंदर अचानक उभर आई
कील की तरह गड़ते हैं
x x x
कंकड़-पत्थर की तरह भारी शब्द
अपने को पीसकर रेत बना / और बिछा लेते हैं
ताकि हम उन पर जब गिरें / तो चोट न लगे।[72]

और इतना ही नहीं जीवन के किसी-न-किसी मोड़ पर किसी की दी हुई सीख / शिक्षा भी हमारे बहुत काम आती है जो हमारी जिंदगी में एक नया मोड़ ला देती है। जैसे-

जीने के हिज्जे सुधारते हैं शब्द
सब-कुछ राख हो जाने के बाद भी रह जाते हैं
अस्थियों की तरह शब्द।[73]

कवि तो 'शब्द से भी जागती है देह'[74] इत्यादि कहकर शब्दों की शक्ति और महत्त्व को

द्विगुणित कर देता है। अशोक वाजपेयी का कहना है कि जो चीज़ें या जो स्थान मनुष्य की पहुँच से परे हैं, वहाँ शब्द हमसे भी पहले पहुँचकर अपनी सत्ता का अहसास हमें करवाता है–

शब्द सब कुछ छू चुका होगा
घास किसलय ओस / पतझर की दिगंबरता
x x x
पुरखों की परछी की शांत प्रतीक्षा।[75]

कवि अशोक वाजपेयी के काव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन्होंने अपनी कविताओं में शब्दों के ऐसे बिंब प्रस्तुत किए हैं कि इनकी कविताएँ पढ़ते हुए यह प्रतीत होता है कि शब्द निर्जीव / प्राणहीन / जड़ नहीं बल्कि सजीव और चेतन हैं। वाजपेयी ने शब्दों का मानवीकरण रूप प्रस्तुत कर उसे सजीव बना दिया है। जैसे–

शब्द छूता है शब्द को
शब्द को शब्द चूमता है
x x x
शब्द नाचता है।[76]

कवि शब्दों के माध्यम से नवीन प्रयोगों की सूचना का बिंब भी प्रस्तुत करता है जैसे–

मैं शब्द को / शब्द में फँसाकर
बनाता हूँ / नसैनी अनंत में।[77]

परंतु जहाँ एक ओर कवि अपनी कविताओं में शब्दों की अटूट शक्ति के बिंब हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, ठीक दूसरी ओर उसे इस बात का अफसोस भी है कि आज समाज में जो हिंसक घटनाएँ हो रही हैं, जो समाज में बुराइयाँ व्याप्त हैं, उसकी आड़ में हमारी भाषा पर सबसे ज्यादा आघात हुआ है, इन सबके बीच हमारी भाषा भी बहुत ही अश्लील, फूहड़ और गंदी हो गई है। भाषा का ऐसा ही मार्मिक बिंब कवि अपनी कविताओं में प्रकट करता हुआ लिखता है–

मैंने दूर से देखा कि
बहुत सारे शब्द / लहूलुहान पड़े हैं–
आग में झुलसे और राख हुए
कुछ कराहते और घायल
कुछ राहत की उम्मीद में हिलगे हुए
ढहा दी गई दुकानों और
धराशायी हुए मकानों के पत्थरों के अँधेरों में।
x x x
घूरे पर पड़े थे जैसे कि कचरा हो। [78]

हमारे समाज में हमारी आँखों के सामने इतनी अपवित्र घटनाएँ होती हैं कि हम उनके खिलाफ कोई कदम नहीं उठाते, अपनी आवाज़ नहीं उठाते। हम चुपचाप सारी घटनाएँ, मूकदर्शक बनकर देखते रहते हैं। ऐसी ही व्यथा का चित्र प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

क्योंकि हमने तय कर रखा है
कि कुछ भी न क्यों हो जाए हमारी आँखों के सामने
हत्या या नरसंहार / हम चुप रहेंगे

x x x
क्योंकि हमें आज तक पता नहीं चला
कि हमारी मटमैली चाहत, हिम्मत और हिकमत में
हिस्सेदार होकर भी
शब्द किसी पवित्रा तक पहुँच सकते हैं।[79]

9. **यौन बिंब**

'साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना और उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल यौन चित्र'[80] यौन बिंबों के अंतर्गत आते हैं। अशोक वाजपेयी की कविताओं में यौन चित्रों का प्रयोग द्रष्टव्य है। चुंबन, आलिंगन, स्पर्श के साथ-साथ उन्होंने अपनी प्रियतमा के दैहिक सौंदर्य के बिंब भी अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। स्त्री और पुरुष के शारीरिक संबंधों के चित्र अपने रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हुए कवि लिखता है–

हमारे शरीर एक सौंदर्य की रचना में गुंथे हों
x x x
जब तक तू तृप्त न हो ले
x x x
बँधा रहने दूँगा अपने चुंबन में तुझे तब तक
x x x
वैसे ही जैसे तुझे रहने दूँगा कपड़ों में
तब तक जब तक तेरे शरीर को
अपनी वासना से सुंदर और उत्सुक नहीं कर देता।'[81]

कवि आत्मसमर्पण के क्षणों में अपनी प्रियतमा को मौन रहने के लिए कहता है और चाहता है कि 'वह जो तुमसे कह चुका हूँ, तुम अपने शरीर से कहने दो।[82]

अशोक वाजपेयी ने चुंबन, प्रियतमा को स्पर्श करने के बिंब अनेक स्थलों पर अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं। जैसे–

जब मेरे होंठों पर / तुम्हारे होंठों की परछाइयाँ झुक आती हैं
और मेरी उँगलियाँ / तुम्हारी उँगलियों की धूप में तपने लगती हैं।[83]

चुंबन-पटु होंठ / सब-कुछ को आलिंगन में घेरकर पीठ पर रुके हुए हाथ।[84]
अपनी पूरी देह से/ स्तना पुरस्कृत वह उसे छूता है।[85]

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में अपनी प्रियतमा के नख-शिख सौंदर्य के बिंब भी अंकित किए हैं। प्रियतमा के नेत्रों, उरोजों, जंघाओं, नितंबों के सौंदर्य का बिंब कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

नेत्र भरे हैं / स्वप्न और प्रियदर्शन से
उरोज यौवन से
सघन जंघाएँ रसलालित्य से।[86]

जब एक सुडौल गौरी नितंब थोड़ा-सा मुड़ता है

तो देवताओं को हिचकी आने लगती है।[87]

इतना ही नहीं कवि की हार्दिक इच्छा है कि–

उसके कुचाग्रों का कत्थईपन
उसकी जाँघ पर पसीने की बूँद।'[88]

स्त्री और पुरुष की यौनक्रीड़ा के उपरांत नायिका की लज्जा का बिंब–

उसके सामने वस्त्र पहनने में लजाती है वह

मानो अभी कुछ पहले उसके साथ दिगंबर
रत-'उत्तप्त-विकल सक्रिय-उदग्र कोई और ही थी।[89]

कवि का कहना है कि रतिक्रीड़ा के लिए एक शरीर दूसरे शरीर के सामने ज्यादा देर तक खुला नहीं रह सकता–

शरीर पर देर तक नहीं रहती / दूसरे शरीर की छाया
शरीर देर तक खुला नहीं रहता / दूसरे शरीर के लिए।[90]

कवि अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में अपनी प्रियतमा के 'नहाने' का बिंब अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। नहाने के बाद की सुंदरता का वर्णन भी उन्होंने किया है। नहाते समय पानी के रोमांचित होने, पानी के हाव-भाव भी कवि ने अपनी कविताओं में अंकित किए हैं–

वह नहाती है / मानो पानी से धुल जाएँगे
उसकी देह पर नख-शिख अंकित चुंबन
पानी छूता है उसे / उसकी त्वचा के उजास को
उसके अंगों की प्रभा को

पानी के मन में / उसके तन के
अनेक संस्मरण हैं।[91]

10. **भाव बिंब**

अमूर्त अप्रस्तुतों के सहारे मन की प्रगाढ़ अनुभूति को भाव बिंबों में उकेरा जाता है। इनमें व्यक्ति की आंतरिक छटपटाहट, विवशता, ऊब और पीड़ा को व्यंजित किया जाता है।[92]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में भी कुछ स्थलों पर भाव बिंब द्रष्टव्य हैं। कवि अपनी कविताओं में अपने स्वयं की जिंदगी, अपने आप पर आक्रोश प्रकट करता पाया जाता है। उसका मानना है कि जीवन के इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी वह जैसे बनना चाहता था वैसा बन नहीं पाया। न अच्छा बेटा बन पाया, न पिता और इन सबसे ऊपर एक अच्छा आदमी भी नहीं बन पाया। सारा जीवन भोलेपन में बिताने के कारण जब कवि को लोग भला आदमी कहकर पुकारते हैं तो वह इस पर खीझता हुआ कहता है–

मैं अपनी भलमनसाहत से तंग आ गया हूँ।

पीठ पीछे नहीं अब तो सीधे मुँह पर / लोग कहते हैं-
आदमी भला है पर किसी काम का नहीं।[93]

कवि अपने जीवन में अपने द्वारा किए गए कार्यों से संतुष्ट नहीं है। सारी उम्र स्वयं को

 ISSN 0975-735X

पाक-साफ बनाने की कोशिश की इसीलिए दूसरों जैसा न बन पाया, इसका कहीं पर पछतावा भी उनकी कविताओं में झलकता है जैसे-

बार-बार झुँझलाता हूँ / कभी-कभी पछताता भी हूँ।

कुछ नहीं / एक निर्लज्ज कवि
एक कामातुर प्रेमी / एक हँसमुख आदमी[94]

अपना दर्द दूसरों को बताया नहीं तो
दूसरों के दर्द से बहुत द्रवित भी कहाँ हो पाया?[95]

कवि अपनी कविताओं में कुछ स्थलों पर यह विलाप करता भी दिखाई पड़ता है कि वह जैसा घर बनाना चाहता था, जिस मुहल्ले में रहना चाहता था, जैसा शहर खोजना चाहता था वैसा खोज नहीं पाया। उसका यह भी मानना है कि वह अपने अंतर्मन के भाव सिर्फ कविता द्वारा ही अभिव्यक्त कर सकता है। जैसे-

मैं विलाप करता हूँ / नहीं रह पाया ऐसे मोहल्ले में
जिसमें सुबह-सुबह पार्क में टहलते मिल जाते
कई पिछली-अगली सदियों के लोग, स्त्रियाँ और बच्चे। [96]

हमारी रोज़मर्रा की जिंदगी में हमारी आँखों के सामने हमारे गली-मुहल्लों, शहर, सड़कों पर हिंसक घटनाएँ घटती हैं, लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं, परंतु हम आँख बचाकर निकल जाते हैं। कारण चाहे कोई भी हो पर इतना जरूर है कि कोई भी व्यर्थ के झंझट में नहीं पड़ना चाहता। ठीक ऐसे ही बिंब अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में अपना संदर्भ देकर व्यक्त किया है। कवि को झुँझलाहट होती है कि वह बहुत कुछ करना भी चाहता था, परंतु कर नहीं पाया। जैसे-

मुझे खून से सख़्त चिढ़ है / मुझे डर लगता है
कोर्ट-कचहरी जाने से घबराता हूँ

x x x

एक पोटली में कुछ खाना
और कुछ पुराने कपड़ों की गठरी बनाकर
उस ओर जाने की सोचता हूँ
लेकिन फिर
कौन झंझट में फँसे यह सोचकर रह जाता हूँ।[97]

आज की ज़िंदगी में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दु:ख, दर्द, पीड़ा, उसकी भावनाओं को समझने में असमर्थ है, क्योंकि किसी के पास न तो इतना समय है और न ही इतनी सहनशक्ति कि दूसरों की खुशियों को बर्दाशत कर सके। कुछ ऐसे ही भावबिंबों को अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में बड़ी ही सजीवता से प्रकट किया है। जैसे-

लेकिन सड़क पर मिल गए रविमोहन
जो झुँझलाए हुए थे
अपने ऊपर के पड़ोसी के हर दिन नीचे पानी फेंकने
और उनकी बालकनी में कुछ-न-कुछ गीला-गंदा कर देने से।[98]

x x x
हम दुखी होते हैं दूसरों की तकलीफ से
पर जल्दी ही व्यस्त हो जाते हैं और
चिंता करते रहते हैं कि कहीं आखिरी बस न छूट जाए।
दूसरों के दुख आँख बचाकर हम कूड़ेदान में फेंक देते हैं
लेकिन अपने स्वार्थ तहाकर रखते हैं थैले या ब्रीफकेस में।[99]

कवि इस दुनिया में जो कुछ भी गलत हो रहा है उसे देखकर, सुनकर, सहकर ऊब गया है। वह इन सबके विरुद्ध एक आवाज़ अपनी कविताओं के माध्यम से बुलंद करना चाहता है। ऐसा ही बिंब प्रस्तुत करते हुए कवि लिखता है–

वक्त आ गया है कि
x x x
हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख
जली हुई हरिजन हड्डियाँ
कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें
x x x
चालू मुहावरे में कहूं: यह है
मेरा देश-संविधान में सना हुआ।[100]

सिर्फ इतना ही नहीं अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के माध्यम से ईश्वर के विलाप की भी चर्चा की है। उनकी कविताओं में ईश्वर इस सृष्टि का निर्माण करने के उपरांत लोगों द्वारा इस सृष्टि का जो हाल किया गया है उस पर पछताता, खीझता हुआ प्रतीत हुआ है। इसका बिंब प्रस्तुत करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

किसी अँधेरे कोने में
या किसी सड़कबत्ती की धीमी रोशनी में
जब बदहवास भीड़, नृशंस सैनिक और वहशी दंगाई जा चुके होते हैं
तब एक डरे अभागे बच्चे-सा मैं सिसकता हूँ।[101]

समग्रत: बिंबों का प्रयोग प्रभाव डालने के लिए किया जाता है। बिंबों के माध्यम से जो भाव कवि प्रकट करना चाहता है उसका प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। बिंबों की सर्जना कवि की गहन अनुभूतियों और सृजन-क्षमता की परिचायक होती है। इस दृष्टि से अशोक वाजपेयी सूक्ष्म और पैनी दृष्टि रखने वाले ऐसे कवि हैं, जो जनमानस के चेतन, अचेतन और अवचेतन को गहनता से समझते हैं।

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा संवेदना और सर्जन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996, पृ॰ 113
2. बृहत् हिंदी कोश, कालिकाप्रसाद, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी 1973, पृ॰ 808
3. मानक हिंदी कोश, रामचंद्रवर्मा खंड-4, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1965, पृ॰ 126
4. उद्धृत सरिता वैद्य, नई कविता की भाषिक संरचना, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, पृ॰ 87
5. भारतीय साहित्य कोश, नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1981, पृ॰ 819

6. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1992, पृ॰ 283-284
7. रामकृष्ण अग्रवाल, प्रसादकाव्य में बिंब-योजना, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979, पृ॰ 48-49
8. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ॰ 292
9. अशोक वाजपेयी, एक पतंग अनंत में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 71
10. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 69
11. अशोक वाजपेयी, आविन्यों, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 39
12. वही, पृ॰ 17
13. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 24-25
14. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 53
15. वही, पृ॰ 49
16. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, पृ॰ 68
17. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 13
18. वही, पृ॰ 15
19. वही, पृ॰ 20
20. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 41
21. अशोक वाजपेयी, आविन्यों, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 26
22. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 79
23. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठी रसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 20
24. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 8
25. वही, पृ॰ 33
26. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी संभावना है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, पृ॰ 49
27. वही, पृ-51-52
28. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 292
29. अशोक वाजपेयी, इबारत से गिरी मात्राएँ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृ॰ 25
30. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 50-51
31. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 26
32. अशोक वाजपेयी, समय के पास समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 45-46
33. अशोक वाजपेयी, कहीं नहीं वहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 129
34. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 15
35. अशोक वाजपेयी, इबारत से गिरी मात्राएँ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2002, पृ॰ 118
36. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी संभावना है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 55
37. वही, पृ॰ 3
38. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी संभावना है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली 1981, पृ॰ 11
39. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली 1998, पृ॰ 109
40. वही, पृ॰ 94
41. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 13

42. वही, पृ॰ 28
43. वही, पृ॰ 23
44. शहर अब भी संभावना है, भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता, पृ॰ 7
45. वही, पृ॰ 7
46. शहर अब भी संभावना है, पृ॰ 50
47. वही, पृ॰ 51
48. वही, पृ॰ 33
49. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 96
50. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 43
51. अशोक वाजपेयी, इबारत से गिरी मात्राएँ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृ॰ 124
52. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी संभावना है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ-51
53. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 60
54. वही, पृ॰ 73
55. रामकृष्ण अग्रवाल, प्रसादकाव्य में बिंबयोजना, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979, प॰ 49
56. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 48
57. वही, पृ॰ 55
58. रामकृष्ण अग्रवाल, प्रसादकाव्य में बिंब-योजना, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 49
59. अशोक वाजपेयी, कहीं नहीं वहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 64
60. वही, पृ॰ 39
58. मंजुल उपाध्याय, समकालीन कविता और धूमिल, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ॰ 141
59. अशोक वाजपेयी, समय के पास समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 20
60. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 39
61. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 291
62. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 15
63. वही, पृ॰ 86
64. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 29-30
65. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 306
66. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 42
67. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 55
68. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, पृ॰ 14
69. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 79-80
70. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 121
71. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, पृ॰ 54
72. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 85
73. अशोक वाजपेयी, अगर इतने से, पृ॰ 76
74. वही, पृ॰ 37
75. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 16-17

 ISSN 0975-735X

76. अशोक वाजपेयी, दुख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 93
77. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 303
78. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी संभावना है, भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता, पृ॰ 25
79. वही, पृ॰ 28
80. वही, पृ॰ 15
81. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 31
82. वही, पृ॰ 61
83. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 23
84. अशोक वाजपेयी, उम्मीद का दूसरा नाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 80
85. वही, पृ॰ 74
86. अशोक वाजपेयी, अभी कुछ और, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 60
87. वही, पृ॰ 43
88. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 123
89. मंजु गुप्ता, हिंदी नई कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 302
90. अशोक वाजपेयी, समय के पास समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 63
91. वही, पृ॰ 66
92. अशोक वाजपेयी, इबारत से गिरती मात्राएँ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृ॰ 74
93. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 29-30
94. अशोक वाजपेयी, दु:ख चिट्ठीरसा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 63-64-65
95. अशोक वाजपेयी, कुछ रफू कुछ थिगड़े, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 14
96. अशोक वाजपेयी, इबारत से गिरी मात्राएँ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर पृ॰ 91
97. अशोक वाजपेयी, एक पतंग, अनंत में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 94
98. अशोक वाजपेयी, समय के पास समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 76

आधुनिक हिंदीकाव्य में नारी-सौंदर्य

डॉ॰ अशोक उपाध्याय
एसो॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बरेली कालेज, बरेली (उ॰प्र॰)

नारी निरंतर प्रवाहित मानव जीवन की तेजस्विनी धारा के उद्‌गम तथा गगनभेदी तरंगों में संतरित अभिलाओं में निहित रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द के साकार प्रतीतिकारक चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् एवं श्रोत्र की संभावनाओं का भौतिक रूप में प्रदर्शित दिव्य स्वरूप है। अपार सौंदर्य के निरूपण में तल्लीन रचनाकार का उत्साही मानस जब भावना के चित्रपट पर विभिन्न प्रकार की इंद्रधनुषी रेखाएँ अंकित करने का सफल प्रयास करता है, तब विभिन्न प्रकार के नयनाभिराम तथा हृदयस्पर्शी रूपाकार उसकी भाव-प्रवण कल्पना में जीवंत बनकर अभिव्यंजित हो उठते हैं। 'उसके प्राणों की धड़कन में, भीतर ही भीतर घुमड़ते आवेगों और श्वासों की पुलक में मादक सौंदर्य बिखरकर उसकी भावना की पार्श्वभूमि को रंजित कर देता है। दिव्य-सौंदर्य की सत्ता आनंदमयी प्रेरणा बनकर निर्विशेष साधना में परिणत हो जाती है और तब असीम और ससीम का द्वंद्व एवं परोक्ष-अपरोक्ष का विभेद मिटकर सुंदर को सत्य में तदाकार कर देता है।'[1] दिनकर जी ने इस अनंत सौंदर्य को नारी रूप में निरखते हुए लिखा है–

ये लोचन जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं
ये कपोल, जिनकी द्युति में तैरती किरण ऊषा की
ये किसलय से अधर, नाचता जिन पर स्वयं मदन है
रोती है कामना जहाँ पीड़ा पुकार करती है
ये श्रुतियाँ जिनमें उडुओं के अश्रु-बिंदु झरते हैं
ये बाँहें विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणों सी
और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम-भवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहरकर श्रांति दूर करते हैं।[2]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़ झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति

 ISSN 0975-735X

है।'[3] जयशंकर प्रसाद ने सौंदर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान कहकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार वरदान में मनोकामनापूर्ति की सामर्थ्य स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार सौंदर्य में भी आकांक्षापूर्ति का भाव निहित रहता है–

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।[4]

सौंदर्यचेतना अथवा चित्शक्ति का शुद्ध एवं सात्त्विक विश्वव्यापी शुभ परिणामदायक स्वरूप है। 'अत: उसे सात्विक वरदान कहना सर्वथा उचित है। इसके अतिरिक्त जैसे स्वप्नों में हमारी आशा-आकांक्षाएँ सदैव जागरूक रहती हैं और नए-नए वेश बदल-बदलकर प्रकट हुआ करती हैं, वैसे ही रमणियों का सौंदर्य भी अनेक जाग्रत आशा-आकाक्षाओं से भरा रहता है, क्योंकि नवयुवतियों के हृदय में भी अपने उज्ज्वल भविष्य की अनेक आशा-आकांक्षाएँ विद्यमान रहती हैं और प्रतिक्षण उठ-उठकर उनके मानस में हिलोरें लेती रहती हैं।'[5] सुमित्रानंदन पंत के लिए सौंदर्य एक वीणा की मृदु झंकार के समान अनंददायक और त्रिवेणी की लहरों के समान पवित्र होता है–

एक वीणा की मृदु झंकार
कहाँ है सुंदरता का पा
तुम्हें किसी दर्पण में सुकुमारि
दिखाऊँ मैं साकार
तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगाा-स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याण
त्रिवेणी की लहरों का गान। [6]

'गंगास्नान' और 'त्रिवेणी की लहरें' सौंदर्य की सात्विकता और उसमें निहित शिवत्व का उद्घोष प्रतीत होती हैं। बाह्य सौंदर्य अंतरात्मा को दिव्य सौंदर्य की व्यापकता से परिपूर्ण कर देता है। इस दिव्यानुभव को व्यक्त करना प्राय: अनिर्वचनीय हो जाता है। सांसारिक विषय वासनाओं से अकलषित नारी-सौंदर्य जीवन की पवित्रता और स्फूर्त्तिपूर्ण प्राण-शक्ति का अमृतमय अनुभव है। इससे विस्तृत छाया में चाँदनी के समान उज्ज्वल शांति और निर्मलता का विकास होता है। हरिऔध जी ने इसीलिए राधा को 'रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्रायकलिका' के साथ-साथ 'लावण्य लीलामयी' भी कहा है–

रूपोद्यान प्रफुल्ल - प्राय - कलिकाराकेंदु-बिंबावना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य की मूर्ति थीं। [7]

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सौंदर्य का विश्लेषण किया जाए तो इसका मूल तत्त्व सामंजस्य माना जाएगा। यह सामंजस्य दृश्यमान नारी के विभिन्न अंगों में परिलक्षित होता हुआ

व्यक्ति के मन अर्थात भाव के भीतर सम्मोहक प्रतीति बन जाता है। यह भाव-सौंदर्य ही उस अनिर्वचनीय अलौकिक तत्त्व का संवाहक हे, जो काव्य में विभिन्न प्रकार की रूप, रस, गंध, ध्वनि और स्पर्श की शब्दावली द्वारा अभिव्यंजित किया जाता है। इस संदर्भ में नयनाभिराम मनः प्रसादन का विशेष महत्त्व है। 'अर्थ के उपकरण भोजन, छाजन, मोटर, महल, सेना, समाज और मनुष्य के सारे भौतिक अभियान हैं; जो बुद्धि के वृत्त में पड़ते हैं, किंतु काम के अंग कला, सुरुचि, सौंदर्यबोध और प्रेम हैं, जो मुख्यतः संबुद्धि से संकेतिक होते हैं। इसी प्रकार बुद्धि धर्म को भी सिद्ध नहीं करती। धर्म बराबर संबुद्धि से प्रेरणा पाता है। धर्म का जन्म आस्था के धरातल पर होता है कि सार्थकता उसकी तब है, जब वह जैव धरातल पर आकर हमारे आचरणों को प्रभावित करे। कला, सुरुचि, सौंदर्यबोध और प्रेम, इनका जन्म जैव धरातल पर होता है, किंतु सार्थकता उनकी तब सिद्ध होती है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करते हैं।'[8] श्री मैथिलीशरण गुप्त ने जनकनंदिनी सीता का सौंदर्य वर्णन निम्न शब्दों में किया है–

कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट से
कंधे ढककर कच छहर रहे थे उनके
क्षक-तक्षक से लहर रहे थे उनके
मुख धर्म-बिंदुमय ओस-भरा अंबुज-सा
पर कहाँ कंट कित नाल सुपुलकित भुज सा?[9]

निराला जी ने प्रकृति के माध्यम से नारी-सौंदर्य के व्यापक रूप का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करके छायावादी काव्य-सौंदर्य को एक नया आयाम प्रदान किया है। सद्यः जाग्रत नायिका के सौंदर्य वर्णन हेतु प्रस्तुत 'यामिनी' का मानवीकरण पर्याप्त हृदयग्राही प्रतीत होता है–

प्रिय यामिनी जागी
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख तरुण अनुरागी
खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ ग्रीवा बाहु-उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी, तड़ित
द्युति ने क्षमा माँगी।[10]

जीवन की यांत्रिकता एवं संत्रास-जनित जटिलताओं में भी नारी सौंदर्य का मानसिक प्रभाव भावुकता से परिपूण्र उद्दाम आवेग की महिमा से संयुक्त न रहने पर भी अपेक्षाकृत अधिक प्रभावपूर्ण अनुभव किया जाता है। बाह्य रूपाकार की उन्मदिर वर्षा-ऋतु समाप्त होते ही शरद की निर्मल मोहकता मानसिक आकर्षण को एक नए रस में परिवर्तित कर देती है। धर्मवीर भारती के 'गुनाह का गीत' की कुछ पंक्तियाँ देखिए–

मृनालों-सी मुलायम बाँह ने सीखी नहीं उलझन
सुहागन लाज में लिपटा शरद की धूप जैसा तन
अँधेरी रात में खिलते हुए बेले सरीखा मन
पंखुरियों पर भँवर के गीत-सा मन टूट जाता

 ISSN 0975-735X

मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप में आबाद
मेरी जिंदगी बरबाद![11]

व्यक्तित्व का मनमोहक स्वरूप तथा इससे उत्पन्न अनुभूतियों का माधुर्यपूर्ण आलोक नारी सौंदर्य का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है। इसमें अस्मिता की सुरक्षा एवं स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक तथा नैतिक प्रतिबंधों से मुक्ति की संभावना भी निहित है। इसकी प्रतिष्ठा के संदर्भ में आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष की समस्या भी प्राय: परिलक्षित होती है। सौंदर्य के प्रति पूर्वाग्रह पूर्ण दृष्टि का प्रसार उचित नहीं है। इस संदर्भ में अज्ञेय जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने छायावादी काव्य अंतरिक्ष की कला-विलासता नारी को पार्थिव रूप में ग्रहण करके उसे दैहिक एवं मानसिक समग्रता में ग्रहण किया है–

जैसे तुझे स्वीकार हो
डोलती डाली, प्रकंपित पात, पाटल स्तंभ विलुलित
खिल गया है सुमन मृदुदल, बिखरते किंजल्क प्रमुदित
स्नात मधु से अंग-रंजित राग के शर रंजनी से
स्तब्ध सौरभ है निवेदित
मलय-मारुत और अब जैसे तुझे स्वीकार हो। [12]

प्राय: सौंदर्यानुभूति की तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। इनमें प्रथम है–वस्तुगत स्वरूप की अनुभूति। इसमें वस्तु के विभिन्न अंगों के सामंजस्य को तटस्थ रूप में स्पष्ट किया जाता है। हरिऔध जी द्वारा किया गया राधा का सौंदर्य वर्णन इस संदर्भ में अवलोकनीय है–

लाली थी करती सरोज पग की भूपृष्ठ को भूषिता
बिंबा विद्रुम को अकांत करती थी रक्तता ओष्ठ की
हर्षोंत्फुल्ल-मुखारविंद गरिमा सौंदर्य आधार थी।
राधा की कमनीय कांत छवि भी कामांगना मोहिनी।[13]

द्वितीय अवस्था है–वस्तु एवं भाव के समन्वय पर आधारित सौंदर्य से उद्‌भूत मानसिक आनंद की अनुभूति। निराला जी ने प्रकृति के माध्यम से इसका अत्यंत सुंदर रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

रंग गई पग-पग धन्य धरा
हुई जगमग मनोहरा
वर्ण गंधधर, मधु-मरंदभर
तरु-उर की अरुणिमा तरुण तर
खुली रूप-कलियों में पर भर
स्तर-स्तर सुपरिसरा
गूँज उठा पिक पावन-पंचम
खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम
सुख के भय से काँपती प्रणय-क्लम
वन-श्री चारू तरा।[14]

प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत प्रणय सुख की संभावना से प्रकंपित गुग्धानायिका का यह रमणीय रूप पग-पग पर विकसित विविध प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों की आभा में जाग्रत होकर कोयल के पंचम स्वर और अन्य पक्षियों के कलरव में यौवन-विकास को प्राप्त हुआ है। अँगड़ाई लेती हुई प्रकृति का कामोददीपक रूप अरुणिमा तरुणतर से और अधिक मनोहर बन गया है। तृतीय अवस्था है–सौंदर्य के प्रति वासना। इसमें भावना के साथ-साथ सौंदर्य के ऐंद्रिय उपभोग की उद्दाम आकांक्षा का मृदुल मनोरम गहन आलेपन भी प्रतिबिंबित होता है। रसशास्त्रीय दृष्टि से इसे विस्मय, आनंद एवं रति की संज्ञा से विभूषित किया गया है। उदाहरणार्थ 'कामायनी' में श्रद्धा का सौंदर्यशाली स्वरूप द्रष्टव्य है–

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रविमंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम
या कि न इंद्र नील लघु श्रृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।[15]

गजानन माधव मुक्तिबोध ने जीवन के चिलचिलाते हुए गंतव्य मार्ग और तेजभरी दुपहरी में आत्मीय एवं प्रसन्नवदन स्वर्गीय उषा के रूप में बरगद की गहरी-गहरी सपनीली-सी छाँह के रूप में नारी-सौंदर्य का अनुभव करते हुए लिखा है–

वह भव्य तृषा
इतने समीप
ज्यों लाली-भरा पास बैठा हो आसमान
आँचल फैला
अपनेपन की प्रकाश-वर्षा
में रुधिर-स्नात हँसता समुद्र
अपनी गंभीरता के विरुद्ध चंचल होगा।[16]

नारी सौंदर्य वर्णन के तीन रूप हैं–आलंकारिक सौंदर्य वर्णन, इंद्रियोत्तेजक सौंदर्य वर्णन तथा सहज सौंदर्य वर्णन। सुंदर आभूषणों के समान अलंकार सौंदर्य के रूपाकार, भाव, प्रभाव, गुण तथा क्रिया इत्यादि को स्पष्ट तथा प्रखर बनाने में महत्त्वपूर्ण उपादान माने गए हैं। प्राय: नारी-सौंदर्य के उद्घाटक और संवाहक प्रयोग चमत्कारपूर्ण होने के साथ-साथ पर्याप्त मात्रा में भावग्राही भी प्रतीत होते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में उर्मिला के सौंदर्य वर्णन की निम्न पंक्तियाँ इस संदर्भ में पठनीय हैं–

कनक लतिका भी कमल सी कोमला
धन्य है उस कला शिल्पी की कला।
X X X
लोल कुंडल मंडला कृति गोल हैं

 ISSN 0975-735X

घन पटल से केश, कांत कपोल हैं।
देखती है जब जिधर यह सुंदरी
दमकती है दामिनी सी द्युति भरी।[17]

उपमा अलंकार से अभिमंडित सौंदर्य के साथ-साथ साकेत का यह भ्रांतिमान अलंकार भी नारी सौंदर्य की दृष्टि से पर्याप्त प्रशंसनीय माना जाता है–

नाक का मोती अधर की कांति से
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।[18]

दिनकर जी ने अलंकारों के प्रति विशेष आग्रह कभी प्रकट नहीं किया है; फिर भी उनकी रचनाओं में नारी सौंदर्य के निरूपण हेतु उचित अलंकार-विधान सदैव दृष्टिगोचर होता है। अनुप्रास, उपमा तथा रूपक अलंकार के माध्यम से चित्रित नारी का निम्नलिखित रूप उदाहरण हेतु दृष्टव्य है–

अगम आनंद जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित' ने पाई पूर्ति
सृष्टि के नाभि पद्म पर नारि!
तुम्हारी मिली मधुर रस मूर्ति।
कुशल विधि-मानस का नवनीत
एक लघु दिवसी हो अवतीर्ण
कल्पना सी, माया सी, दिव्य
विभा सी भू पर हुई विकीर्ण।[19]

प्रभाकर माचवे ने नारीसौंदर्य के विद्युत आकर्षण से अपने तन-मन को प्रभावित मानते हुए अपने मानस की संगिनी चपल विहंगिनि के रूप का वर्णन संदेह तथा रूपक इत्यादि अलंकारों के माध्यम से किया है–

तुम हो मृगा या कि आर्द्रा हो? नहीं रोहिणी, तुम अनुराधा
तुम छाया पथ, ज्योति शिखा तुम, तुम उल्का, आलोकशला
संशय से सघनांधकार में विद्युन्माला अयि अचुंबि ते!
तुम हरिणी, मलिनी, शिखरिणी, बसंत तिलका, द्रुतबिलंबिते
तुम छंदों की आदि-प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना
तुम स्रग्धरा या कि मंद्राक्रांता, ओ आर्या, गीति स्तंभिते! [20]

धर्मवीर भारती को नारी के फीरोजी होंठ और गुलाबी पाँखुरी पर एक हलकी सुरमई आभा से युक्त नारी का रूप इतना प्रिय है कि वे इसे प्राप्त करने के लिए अपनी जिंदगी भी बरबाद करने के लिए तत्पर हैं। इस संदर्भ में उनके द्वारा प्रयुक्त उपमानों ने नारी के सौंदर्य को अपेक्षाकृत और अधिक प्रभावशाली बना दिया है–

प्यार घायल साँप-सा लेता लहर
अर्चना की धूप से

तुम गोद में लहरा गईं
ज्यों झरे केसर
तितलियों के परों की मार से
सोनजुही की पंखुरियों पर पले ये दो मदन के बान
मेरी गोद में! [21]

इंदियोत्तेजक सौंदर्य वर्णन मानवीय संवेगों की मनोहर अभिव्यंजना है। इसमें कवि की वैयक्ति मनोचेतना सहृदय की हृदयवीणा को झंकृत करने का प्रयास करती है। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' में राधा की कामांगना मोहिनी छवि की मादकता यथेष्ट मानसोन्मादिनी प्रतीत होती है–

लाली थी करती सरोज पग की भूपृष्ठ को भूषिता
बिंबा विद्रुम को अकांत करती थी रक्तता ओष्ठ की
हर्षोत्फुल्ल मुखारबिंद गरिमा सौंदर्याधार थी
राधा की कमनीयकांत छवि थी कामांगना मोहिनी। [22]

छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद द्वारा किया गया 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' उन्मुक्त लंबी काया से युक्त श्रद्धा का सौंदर्य सौरभमय चित्र इंद्रियोत्तेजक रूपवर्णन की दृष्टि से पर्याप्त प्रशंसनीय है–

नीलपरिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुले अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
X X X
उषा की पहिली लेखाकांत
माधुरी से भीगी भरमोद
मदभरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति को गोद।[23]

सुमित्रानंदन पंत ने पृथ्वी की अखिल कोमल कामनाओं को पुष्पों के रूप में प्रफुल्लित करने में सफल मधुमास में एक व्यग्रबाला को सुकोमल काव्य में रेखांकित संवेगात्मक रूप में देखा है। उसकी पीयूष के समान कोमल समव्यथित नि:श्वास से परिपूर्ण सदय, भीरू, अधीर और चिंतित दृष्टि अचल तथा अपूर्व थी–

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में नवीन गुलाब से
छलकती-सी बाढ़-सी सौंदर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप से
इन गढ़ों में कूप के आवर्त्त से
घूम-फिरकर नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटककर, अटककर

 ISSN 0975-735X

भार से दबकर तरुण सौंदर्य के।[24]

तरुण भानु के समान अरुण रूप से युक्त रुद्र विषाण, अनल-किरीट और तेजबंत धनुषबाण धारण करके निर्झर तट पर युवा सिंह से खेलने वाले पुरुष की आधी मधु और आधी सुधा-सिक्त चितवन का शर भरने वाली प्रिया का इंद्रियोंत्तेजक रूप दिनकर जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

लघु कनक कुंभ कटि पर साजे, दृग बीच तरल अनुराग लिए
चरणों में हर्षत् अरुण, क्षीण, जलधौत अलक्तक राग लिए
सद्यः स्नातामदभरित सिक्त, सरसीरूह की अम्लान कली
अक्षता, सद्य, पाताल-जनित मदिरा की निर्झरिणी पटली।

X X X

दो वर्ण प्रिया वह मधुर नाम, रसना की प्रथम ऋचा निर्मल
उल्लसित हृदय की प्रथम बीचि, सुरसरि का प्रथम बिंदु उज्ज्वल। [25]

नारी का सहज सौंदर्य वर्णन प्रायः सभी आधुनिक कवियों ने किया है। साकेत में मैथिलीशरण गुप्त की सीतामाता राम को योगी के समक्ष जाग्रत अलख ज्योति जैसी प्रतीत होती हैं। उनका जनमातृ-गर्वमय कुशल मनभावन वदन दिव्यदुकूल से विभूषित था; जो कि देह के साथ उत्पन्न जैसा प्रतीत होता था–

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धँसतीं
तब नख-ज्योति-मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता
तब अरुण एड़ियों से सुहास-सा झड़ता
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते
पद पद्मों में मंजीर-मराल मचलते।[26]

जयशंकर प्रसाद ने कामायनी के स्वप्न सर्ग में विरहिणी श्रद्धा के सहज सौंदर्य का अत्यंत हृदयग्राही वर्णन किया है। सायंकाल में रात्रि की मलिन कालिमा के भय से क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता हुआ प्रतीत हुआ और सूर्य रूपी तामरस मुरझा कर कब कहाँ गिर गया यह खोजना कठिन था। यही स्थिति मनु की खोज में भटकती हुई श्रद्धा की थी–

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहा?
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही
वह संध्या थी रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ। [27]

निराला जी ने अपनी सुपुत्री सरोज का सहज सौंदर्य वर्णन करते हुए लिखा है कि धीरे-धीरे वह बाल्यकाल की केलियों का प्रांगण पार करते हए तारुण्यकुंज में लावण्य भार से प्रकंपित होती हुई प्रविष्ट हुई; जिसे देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि–

काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नववीणा पर
नैरास्वप्न ज्यों तू मंद-मंद

फूटी ऊषा जागरण छंद
काँपी भर निज आलोक-भार
काँपा वन, काँपा दिक् प्रसार।[28]

दिनकर ने 'उर्वशी' में आकाश से उतरने वाली अप्सराओं के सौंदर्य कामनोमुग्धकारी वर्णन किया है। उन्होंने इन्हें अंतल व्योम के उर से झनकते हुए नूपुर, किसी कविता की नूतन पंक्तियाँ तथा बसंत के सपनों की तस्वीरें और अंबर से उतरने वाली कनक प्रतिमाएँ कहकर सम्मानित किया है–

लो पृथ्वी पर आ पहुँची ये सुषमाएँ अंबर की
उतरे हो ज्यों गुच्छ गीत गाने वाले फूलों के
पद-निक्षेपों में बल खाती हैं भंगिमा लहर की
सजल कंठ से गीत, हँसी के फूल झरे जाते हैं
तन पर भीगे हुए वसन हैं किरणों की जाली के
पुष्प रेणु-भूषित सबके आनन यों दमक रहे हैं
कुसुम बन गई हों जैसे चाँदनियाँ सिमट-सिमटकर।[29]

रघुवीर सहाय ने पतझर के बिखरे पत्तों पर बहुत दूर चलकर आए साजन बसंत की थकी हुई छोटी-छोटी साँसों में कंपित पास चली आती ध्वनियों और उड़कर आती हुई गंधबोध से थकित सुवास से विकसित वन की रानी का सहज सौंदर्य वर्णन इस प्रकार किया है–

वन की रानी हरियाली सा भोला अंतर
सरसों के फूलों-सी जिसकी खिली जवानी
पकी फसल-सा गरुआ गदराया जिसका तन
अपने प्रिय को आता देख लजाती जाती
गरम गुलाबी शरमाहट-सा हलका जाड़ा
स्निग्ध गेहुँए गालों पर कानों तक चढ़ती लाली-जैसा
फैल रहा है।[30]

वास्तविकता यह है कि नारी-सौंदर्य में एक अनिर्वचनीय सम्मोहक सामर्थ्य निरंतर विकसित होती रहती है। आलंकारिक, इंद्रियोत्तेजक और सहज सौंदर्य को अलग-अलग रेखांकित करना एक जटिल काव्य शास्त्रीय प्रक्रिया की ओर अग्रसर होना है। डॉ॰ नगेंद्र के अनुसार–'ये तीनों स्मर विकास के क्रमिक सोपान हैं। पर ये परस्पर ऐसे संबद्ध हैं कि इनका अलग-अलग विश्लेषण सौंदर्यानुभूति की समन्वित चेतना को बिखरा देता है। स्वयं रीतिकाव्यों में जहाँ नायिका के उपर्युक्त लक्षणों का अलग-अलग वर्णन किया गया है, वहाँ सौंदर्य-चेतना प्राय: निष्प्रभ हो गई है।'[31]

संदर्भ

1. शची रानी गुर्टू, साहित्य दर्शन, पृ॰ 369, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1950
2. दिनकर, उर्वशी, , पृ॰ 87, उदयाचल, पटना, 1986
3. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, , पृ॰ 131-132, इंडियन प्रेस पब्लिकेसंस, प्रयाग, 1971

 ISSN 0975-735X

4. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ॰ 108, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी 1984
5. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, कामायनी भाष्य, पृ॰ 248, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1973
6. सुमित्रानंदन पंत, रश्मिबंध, पृ॰ 40, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968
7. पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रियप्रवास, पृ॰ 36, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, सं॰ 2027
8. दिनकर, उर्वशी, पृ॰ 10, उदयाचल, पटना 1986
9. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ॰ 221, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं॰ 2028
10. निराला, राग विराग, पृ॰ 45, संपादक रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980
11. धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ॰ 165, सं॰ अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1996
12. अज्ञेय, तारसप्तक, पृ॰ 230-231, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1995
13. पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रियप्रवास, पृ॰ 37, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, सं॰ 2027
14. निराला, राग विराग, पृ॰ 43, संपादक रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980
15. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ॰ 56-57, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी 1984
16. गजानन माधव मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ॰ 33, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1993
17. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ॰ 27, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं॰ 2028
18. वही, पृ॰ 29
19. रामधारीसिंह 'दिनकर', उर्वशी तथा अन्य श्रृंगारिक कविताएँ, पृ॰ 118, स्टार पब्लिकेशंस, 1974
20. प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ॰ 167, संपादक अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1995
21. धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ॰ 167, सं॰ अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1996
22. पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रियप्रवास, पृ॰ 36, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, सं॰ 2027
23. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ॰ 56-57, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी 1984
24. सुमित्रानंदन पंत, रश्मिबंध, पृ॰ 37-38, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968
25. रामधारीसिंह 'दिनकर', उर्वशी तथा अन्य श्रृंगारिक कविताएँ, पृ॰ 144-45, स्टार पब्लिकेशंस, 1974
26. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ॰ 27-28, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं॰ 2028
27. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ॰ 179, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी 1984
28. निराला, राग विराग, पृ॰ 86, संपादक रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980
29. दिनकर, उर्वशी, पृ॰ 18, उदयाचल, पटना 1986
30. रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक, पृ॰ 140
31. डॉ॰ नगेंद्र, देव और उनकी कविता, पृ॰ 100, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

6/7 **खन्ना भवन, सुभाष नगर**
बरेली (उ॰प्र॰)
मो॰ 09927373723

रघुवीर सहाय के कथासाहित्य में मूल्य-चेतना

डॉ॰ आरती गोयल

कहानी जीवन की एक नई समझ पैदा करती है। जीवन को समझने में उनकी सभी कहानियाँ अहम भूमिका अदा करती हैं। अपनी कहानी 'कहानी की कला' में वे स्वयं कहानी की रचना को स्पष्ट करते हैं, उनकी वही एक घटना जीवन को कुछ और पास से देखने का अवसर देती है।

रघुवीर सहाय जीवन की छोटी-छोटी बातों में भी जीवन को देखते हैं। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में जीवन की तलाश करते हैं और उसे बिना लाग-लपेट के पाठकों के समक्ष उपस्थित कर देते हैं। उनकी प्रत्येक कहानी स्थितियों के बीच एक नई स्थिति का यथार्थ है। 'जो आदमी हम बना रहे हैं' कथा-संग्रह की भूमिका में रघुवीर सहाय जी लिखते हैं–'यथार्थ का कैसा वर्णन पाठक के मन में समाज से अन्याय को मिटाने की समझ पैदा करेगा, लेखक का यह जानना ही यथार्थ को वास्तव में जानने के बराबर होगा। दूसरे शब्दों में, यथार्थ की हमारी समझ इस समझ के बिना अधूरी है कि लोक में आदर्श की इच्छा इसी यथार्थ को किस रूप में जानकर जाग्रत हो सकती है।' इस प्रकार यथार्थ को प्रकट करने के सामाजिक संदर्भ ने उनकी कहानियों को एक नया रंग दिया है।

बदलते जीवनमूल्य

युग चाहे कोई भी हो, सदैव जीवनमूल्य ही इंसान को सभ्य सुसंस्कृत बनाते हैं। जीवनमूल्य ही हमें प्राणी से इंसान बनाते है। जीवनमूल्य ही हमें शांति और संतुष्टि से जीवन जीने का आधार प्रदान करते है। मूल्यों का प्रारंभ परिवार से होता है। परिवार के दायरे से बाहर निकलकर मनुष्य व्यापक समाज में आता है। ग्राम, प्रांत, देश सब उन व्यापक समाज के घटक हैं। उपनिषदों के 'सत्यम् वद् धर्मंचर' से लेकर कबीर तथा तुलसीदास से लेकर रहीम के नीतिकाव्य तक व्याप्त नीति साहित्य मानवमूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रत्यक्ष प्रयास है। आधुनिक साहित्य में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर के संपूर्ण मानव-व्यवहार के मानदंड के रूप में किया जाता है।

जीवनमूल्यों में बदलाव को सहाय जी मानवीय संवेदनाओं के ह्रास के रूप में रेखांकित करते हैं।[27] अगस्त को दिल्ली में भूडोल के दिन का दृश्य बताते हुए सहाय जी लिखते हैं–'थोड़ी ही देर बाद आसपास के टोलों से उत्सुक पुरुष यह पूछते हुए निकलने लगे कि आपकी छत में कितनी बड़ी दरार पड़ी और चौखट पर से कितना पलस्तर उखड़ा। हर कोई अपने डर और अपनी घबराहट को दूसरे की हालत से तौलकर संतोष कर रहा था। जरा ही देर में बूँदाबाँदी शुरू हो गई और पहली मंज़िल वालों ने घर के सामनेवाले बरामदों में डेरा डाला, दूसरी मंज़िल वाले

 ISSN 0975-735X

भटकते रहे।' सहाय जी यह सुस्पष्ट कर देना चाहते हैं कि संगठित समाज में व्यक्ति का व्यवहार विपत्ति के समय क्या होना चाहिए। गाँव में बाढ़ें आती रहती हैं, लेकिन शहर की जिंदगी में जो कड़ापन, लचीलेपन का अभाव होता है, उसमें जगह-जगह छिद्र कर जानेवाली कोई दैवी विपत्ति भी हमने नहीं देखी।

1. **पारिवारिक विघटन**

परिवार सामाजिक संबंधों का एक जटिल जाल होता है। इसमें व्यक्ति अपने जीवन की विकास अवस्था में आगे बढ़ता हुआ पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों के ताने-बाने को बुनता हुआ कई वर्गों में विभाजित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। विभिन्न वर्गों में रहकर व्यक्ति एक-दूसरे से संबंधों को नए आयाम देकर अपने स्वरूप एवं विकृतियों को आगे बढ़ाता रहता है।

हिंदी-साहित्य में ऐसी गहरी सामाजिक चेतना वाले लेखक बहुत कम हुए हैं, जो व्यक्ति को मूल्यों के विघटन से सुरक्षित बचाकर एक आदर्श सामाजिक जीवन-यापन की ओर प्रेरित कर सकें। व्यक्ति समाज की इकाई है। वह सर्वप्रथम अपने निकटतम परिवार से संबद्ध होता है, फिर रिश्तेदारों से, फिर मोहल्ले-पड़ोस से, फिर धार्मिक समुदाय से, फिर राज्य अथवा देश से। अतः कहना उचित ही होगा कि परिवार समाज की मूलभूत संस्था है। मानव-समाज के प्रत्येक स्तर पर प्रारंभ से लेकर अब तक परिवार के किसी-न-किसी स्वरूप को अवश्य देखा जा सकता है। परिवार समूह के जीवन और उसकी सांस्कृतिक धरोहर को बराबर बनाए रखता है। इस प्रकार समाज का संरक्षण एवं संवर्धन बहुत हद तक परिवार पर निर्भर करता है। यह अपने-आपमें सबसे छोटा समाज है। यह समाज के अत्यंत आवश्यक कार्यों को पूरा करता है।

परिवार मानव की प्रथम पाठशाला है, जहाँ परिवार का हर सदस्य सुरक्षा-संरक्षण के साथ ही पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक मूल्यों को आत्मसात करना सीखता है। इसका पता रघुवीर सहाय की कहानी 'घरौंदा' से लगता है, जहाँ संयुक्त परिवार के बिखराव के पश्चात् पहली दीवाली आती है, जब लेखक अनुभव करता है कि 'इससे मैंने तुरंत देख लिया कि हमारे घर में वह खुशी नहीं है दीवाली पर जिसकी आशा करना हमें सिखाया गया है– और नहीं है तो हम सब घरवाले एकत्र उसके अभाव का अनुभव करते हैं, हममें से किसी एक के कारण वह दुःख नहीं आया है।'

मुख्य रूप से परिवार दो प्रकार के होते हैं–पहला संयुक्त परिवार एवं दूसरा एकल परिवार। जब तीन या अधिक पीढ़ियों के रक्त एवं विवाह-संबंधी साथ-साथ रहते हैं, जिनकी सामूहिक संपत्ति, अधिकार एवं कर्त्तव्य-बोध हैं, जो परस्पर किसी-न-किसी नातेदारी व्यवस्था से संबंधित होते हैं तो उसे संयुक्त परिवार कहते हैं। ए॰सी॰ दुबे कहते हैं कि–'जब कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।'

एकाकी परिवार परिवार का सबसे छोटा रूप है। इसमें पति-पत्नी और बच्चे होते हैं। इसमें अन्य रिश्तेदार नहीं आते।

भारतीय ग्रामीण समाज में उसकी भौगोलिक एवं आर्थिक स्थिति के कारण शताब्दियों

से संयुक्त परिवार-व्यवस्था का प्रचलन था। परिवार के सभी सदस्य एक-दूसरे पर निर्भर रहते थे। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में इन पारिवारिक संबंधों में परिवर्तन आया है। पारिवारिक एकता टूट रही है। आपसी संबंधों में तनाव और विघटन बहुधा देखने को मिलता है। परिस्थितिवश संयुक्त परिवार में न रहते हुए भी परिवार के सदस्य भावनात्मक रूप से प्रायः संयुक्त ही होते थे। रघुवीर सहाय ने संयुक्त परिवार की दीवाली के संस्मरण द्वारा इसका बड़ा ही स्पष्ट उदाहरण दिया–'पिताजी किसी-न-किसी प्रकार अपने भाई-बहनों के परिवारों से संबद्ध थे, मित्रों से भी, एक चहलपहल-सी हुई थी। जो केवल औपचारिक निमंत्रण पर आए अभ्यागतों के इधर-उधर आने-जाने के कारण नहीं हुई थी–उनमें कुछ ऐसा था कि ये सब लोग किसी विवशता से अलग-अलग रहते हैं–आज अवसर पाकर एकत्र हो गए हैं।' इस उद्धरण में संयुक्त परिवार का आनंद एवं सुख व उस सुख से वंचित रह जाने पर मन की कसक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

संयुक्त परिवार के विघटन का बालकों के कोमल मन पर कैसा भावनात्मक प्रभाव पड़ता है, इसका बड़ा मार्मिक चित्रण इस बालक की भावनाओं में मिलता है–'पर मुझे सब-कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा लगने लगा था। एक उगते हुए धान के पौधे को दूसरे खेत में रोपने में किसान को क्या दर्द होता है? उसी प्रकार संयुक्त परिवार के विकीर्णन की ऐतिहासिक पद्धति को बढ़ते हुए बच्चों के मन का क्या पता?'

कहानी में बालक अपने वर्तमान समय के एकाकी जीवन की तुलना गत समय के उल्लासभरे वातावरण से करता है। वह बार-बार अपने बचपन की उन स्मृतियों में खो जाता है, जब अपने चचेरे-फुफेरे भाई-बहनों के साथ खेलते समय उसे असीम आनंद की प्राप्ति होती थी। 'उस समय मैं बहुत छोटा रहा होऊँगा और इसलिए मेरे तब के संस्मरण केवल कुछ भावों तक ही सीमित हैं। सारे घर-भर में तुरंत हुई पुताई की एक अजब-सी महक भरी खुश्की, शाम को बढ़ती हुई ठंडक और पुलोवर न पहनने पर पड़नेवाली डाँट, चाचा, बुआ और मौसी के लड़के-बच्चे मेरे समवयस्क या मुझसे बड़े, उनकी शैतानियाँ, विशेषकर अपनी छोटी बहनों को खिझाने की, जो ऐसी शैतानी है जिसे मैं कभी न कर पाया न कर पाऊँगा। यह बिल्कुल सच है कि अगर भाइयों पर मरनेवाली, उनके भेदों को गुप्त रखनेवाली और इतना हँसने-गानेवाली वे बहनें न होतीं, तो तबके उस विशाल संयुक्त परिवार का हमारी आयुवालों के लिए कोई महत्त्व न होता।'

प्रस्तुत उद्धरण से एक बालक की मानसिकता का तो पता चलता ही है कि एक बालक संयुक्त परिवार के अपघटन के बाद जीवन के किन-किन सुखों से वंचित रह जाता है। बालक के समझदार होते ही उन्हें संयुक्त परिवार के बंधनों में घुटन अनुभव होती है और वे उससे छुटकारा पाकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने की होड़ में लग जाते हैं।

ज्यों-ज्यों व्यक्ति का सामाजिक क्षेत्र विकसित होता गया, त्यों-त्यों उसका पारिवारिक क्षेत्र संकुचित होता गया। व्यक्ति के विकास में संयुक्त परिवार बाधक होने लगे। सुख-सुविधा के कारण व्यक्ति लघु परिवार को महत्त्व देने लगे। संयुक्त परिवार समष्टि-मानव के लिए उपयुक्त रहा है, क्योंकि वह व्यक्ति की समाज-सापेक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। लेकिन वर्तमान समय में व्यक्ति की समाज सापेक्षता संकुचित होती जा रही है। अतः एकाकी परिवार उसके लिए पर्याप्त है। एकाकी परिवार में रहने की कुछ मजबूरियाँ, तनिक लाभ तो अनेक हानियाँ भी हैं। 'घरौंदा' का यह उद्‌घृत अंश इसी ओर संकेत करता है, 'रोजी की फिक्र में हम भी इस विराट नगर में आकर

 ISSN 0975-735X

अकेले रहने लगे हैं। बचपन की दीवालियों की याद तो बहुत आती है, घिरौंदे की भी। मगर घिरौंदे के आप-हम अभ्यस्त हैं, क्योंकि इस स्थानसंकुल नगर में जिस घर में हम रहते हैं, वह आकार में घिरौंदे से बड़ा नहीं है और रही घर के याद आने की बात सो अब हम स्वयं एक घर हैं, एक विशाल संयुक्त परिवार की अंतिम इकाई, जो अब स्वतंत्र है, पर अब भी यदि हमें अपने पड़ोसियों में आस्था न होती तो इसका बड़ा डर रहता कि दीवाली अब कहीं व्यक्ति का ही त्योहार न बनकर रह जाए।' इस उद्धरण द्वारा चित्रित पारिवारिक विघटन की त्रासदी का आतंक भरा दूरगामी परिणाम इस स्वार्थी समाज को चेताने के लिए पर्याप्त है।

2. **उत्तरदायित्व से पलायन**

'मूल्य' शब्द का प्रयोग आवश्यकता, प्रेरणा, आदर्श, अनुशासन, प्रतिमान आदि अनेक अर्थों में होता है। एक सामाजिक इकाई के स्वरूप उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी एक मूल्यचेता व्यक्ति के वश की वस्तु है, जिसका उदाहरण हमें कहानी 'एक भगोड़े का आत्मकथ्य' में मिलता है। एक बीमार स्त्री के अचानक सड़क पर अचेत हो जाने पर उसे अस्पताल पहुँचाने भर की सहायता देने या जिम्मेदारी लेने के बारे में कहानीकर्त्ता के मन में सैकड़ों शंकाएँ पनपने लगती हैं–'क्या मैं उसे बचाने की कोशिश करूँ और वैसे ही विफल होऊँ, जैसे अक्सर अपने को बचाने में होता हूँ? स्वार्थ की यह पहचान उस समय इतनी स्पष्ट हो गई थी कि मैं अपने हित को सबसे पहले देख रहा था। यदि सफल होऊँ तो वह बच जाएगी, यह मैं नहीं सोच रहा था। यहाँ से सिर्फ़ एक कदम आगे बढ़ने पर मैं सोच सकता था कि यदि वह बच जाएगी तो उसकी जिम्मेदारी मुझ पर आ जाएगी और मैं उससे अभी से भाग रहा था। यह मैंने नहीं सोचा था कि उसे बचाने की कोशिश के दौरान वह मर जाएगी तो उसके मरने की जिम्मेदारी भी मेरे ऊपर आ जाएगी।' इस भाग-दौड़ से भरी दुनिया में अपनी जिम्मेदारी निभाना ही कठिन है। अत: मनुष्य किसी अन्य की जिम्मेदारी से पलायन करता है।

सुख के उत्सव में शामिल होना सब पसंद करते हैं, पर दु:ख के समय साथ खड़े होना भी किसी को मंजूर नहीं। हृदयहीनता की सीमा का उल्लंघन वहाँ होता है जब रघुवीर सहाय की कहानी 'मुठभेड़' में शिवराम की माँ का निधन होने पर उसके अंतिम संस्कार में शामिल होने लोग आते तो हैं, परंतु जब तक श्मशान जाने का प्रबंध हो पाता है, शिवराम स्वयं को अकेला पाता है, एक-एक करके सभी कोई-न-कोई बहाना बनाकर वहाँ से गायब हो जाते हैं। विश्वास न हो तो स्वयं उदाहरण देखिए–'किसी ने कहा, 'अच्छा हम लोग चलेंगे, जाना है।' 'हम लोग' पर जोर था, पर वह अकेला गया। एक और आदमी बोला, 'हम लोग भी जाएँ।' फिर बाकी बात बिना कहे ऐसे सिर हिलाने लगा जैसे गिड़गिड़ाने में हिलाया जाता है। जिस वक़्त लाश की गाड़ी आई वे सब लोग जा चुके थे जिन्हें मैं जानता था।' शिवराम को चार आदमी उसकी माँ की लाश को कंधा देने के लिए कठिनाई से बचते हैं। बदलते परिवेश में इन बदलते जीवनमूल्यों पर रघुवीर सहाय का यह करारा व्यंग्य है।

हम इतने सहज व सुविधाभोगी होते हैं कि मूल्य अपनाने में हमें कठिन ही नहीं दुष्कर प्रतीत होते हैं। फिर शुरू हो जाते हैं हमारे बहाने; तब हम घोषणा ही कर देते हैं कि साधारण से जीवन में ऐसे सत्कर्मों को अपनाना असंभव है। अपनी इच्छा-आकांक्षाओं की पूर्ति न होना हमें

पराजय-सी प्रतीत होता है। इसका सटीक उदाहरण है कहानी 'विजेता' का अशोक। अशोक और उसकी पत्नी अभी कुछ वक़्त तक संतान नहीं चाहते थे, पर असावधानी के कारण उसकी पत्नी कामिनी गर्भवती हो गई थी। अशोक अपनी भूल स्वीकार करते हुए उसका उपाय करता है, 'मैं जो कि उससे ज़्यादा ताकतवर हूँ इसका कारण हूँ। 'सब ठीक हो जाएगा,' हँसकर उसने कहा। एक भयंकर-सी बोतल उसने निकाली। कत्थई-सी तीखी गंधवाली चीज थी। सूँघा और आँखें आधी बंद कर बोला, 'तबियत खुश हो जाएगी और छुट्टी मिल जाएगी।' रघुवीर सहाय इस कहानी द्वारा समाज से यह प्रश्न पूछते हैं कि कब तक हम अपनी जिम्मेदारियों से भागते रहेंगे? कब तक हम एक भूल को सुधारने की आड़ में भूल पर भूल करते जाएँगे? क्या हमारे जीवनमूल्य संपूर्णतया चुक गए हैं?

3. स्वाभिमान का संरक्षण

कवि और रचनाकार रघुवीर सहाय को दया, सहानुभूति और करुणा जैसे मानवीय भावों में भी कहीं-न-कहीं असमानता और अभिजात्यवादी अहं की गंध महसूस होती थी। अपनी संवेदना उन्होंने न सिर्फ़ कहानियों में बयान की, बल्कि अन्य गद्य विधाओं में भी प्रस्तुत की। अच्छा कहलाने का श्रेय सभी लेना चाहते हैं, पर जब कठिन श्रम की बात आती है तो कोई संक्षिप्त उपाय ढूँढते हैं। किंतु सदाचार और गुणवर्धन के श्रम का कोई लघु मार्ग विकल्प नहीं होता। यही वह कारण है, जब हमारे सम्मुख सद्विचार आते हैं तो अतिशय लुभावने प्रतीत होने पर भी तत्काल मुँह से निकल पड़ता है 'इन पर चलना बड़ा कठिन है'। कहानी 'मेरे और नंगी औरत के बीच' में ठंड के समय एक वस्त्रविहीन औरत को कंबल ओढ़ा देने में लेखक को स्वयं के इतने सवालों से जूझना पड़ता है कि वे सही निर्णय लेने में असमर्थ हो जाते हैं। अपनी दया को प्रश्नसूचक व संशय की दृष्टि से देखे जाने के डर से वे संपूर्ण यात्रा के मध्य उसे एक कंबल ओढ़ा देने में स्वयं को असफल पाते हैं–'इसके पहले कि मैं अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपने को मुक्त कर पाता, सड़क के किनारे का एक छोटा स्टेशन आ गया था और वह औरत उतरकर किसी कस्बे की अँधेरी रात में खो गई थी।' उस औरत की सहायता का सर्वाधिक नेक विचार भी एक अनजानी हिचकिचाहट के कारण कार्यान्वित न हो सका। वे अपनी करुणा को शंका की दृष्टि से देखते हैं कि करुणा से किसी की स्वतंत्रता तो बाधित नहीं होती। यह आत्मशंका उनकी लोकतांत्रिक सोच व संवेदना को स्थायित्व प्रदान करती है।

साथ ही यह भी सत्य है कि हमारे अपेक्षित सद्कर्म व उनमें सम्मिलित दयाकर्म किसी अन्य के स्वाभिमान के ह्रास का कारण न हों। अपने सद्कार्यों के साथ-साथ दूसरों के स्वाभिमान की राह में न आना भी हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है। रघुवीर सहाय की कहानियाँ इस प्रकार के जीवनमूल्यों की दस्तावेज प्रतीत होती हैं। कहानी 'सेब' में एक बीमार लड़की को देखकर उत्पन्न हुई संवेदना को लेखक उसके स्वाभिमान की रक्षा में किस प्रकार दबा लेता है, इसका उदाहरण द्रष्टव्य है, 'यह स्वाभाविक ही था कि मैं अपमानित अनुभव करता कि मैं तो–जैसा कि मुझे बचपन से सिखाया गया है, दुखीजनों के प्रति आर्द्र होना–उसपर तरस खा रहा हूँ और वह मेरी अनदेखी कर रही है, परंतु मुझे कोई अपमान नहीं मालूम हुआ, क्योंकि मुझे उसका स्वाभिमान अच्छा लगा।' करुणा से अगर किसी के स्वाभिमान व स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न हो तो यह

 ISSN 0975-735X

लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण रघुवीर सहाय को मंजूर नहीं है। यह सोच परंपरा से चल रही 'करुणा' को पुनर्व्याख्यायित करती है। पूरी कहानी में लेखक बाप-बेटी के मानवीय संबंध को चित्रित करता है। जो किसी भी करुणा का मोहताज नहीं। यही बताना रघुवीर सहाय जी का उद्देश्य है। आज का प्रत्येक मनुष्य अपने को अद्वितीय समझने के लिए मुक्त है और करुणा करके किसी का यह अधिकार छीनना कदापि उचित नहीं।

रघुवीर सहाय जी को कई ऐसे अवसर प्राप्त हुए, जब वे करुण अहसास से प्रेरित हो सहायता या दानादि कर्म में प्रवृत्त होते, परंतु दूसरे के स्वाभिमान की क्षति की भावना ने उनके पाँव में जंजीरें डाल दीं। सड़क पर कोलतार की कीचड़ में फँसी चिड़िया की छटपटाहट से द्रवित लेखक आगे बढ़ उसकी सहायता करने या उसे स्वयं संघर्ष कर विजय प्राप्त करने के अवसर देने के कश-म-कश में उलझे थे। 'छुड़ा दूँ, मैंने सोचा! पर क्या वह खुद कोशिश नहीं कर रही है। उसे अपने-आप करने न दूँ? मैं समझ सकता हूँ कि खुद कोशिश करने का क्या अर्थ होता है और सहानुभूति एक जगह अनादर भी बन जा सकती है।' और अंत में उसके कष्ट से बेकल होकर उसे छुड़ाने आगे बढ़ते हैं, पर लेखक की सहायता के बिना वह आहत चिड़िया अपनी पूरी ताकत लगाकर स्वयं के प्रयासों से छूट जाती है। दूसरे की परिस्थिति से भावुक होकर सहायता करना सहाय जी को उस व्यक्ति की मजबूरी का परिहास करने जैसा लगता है। हर कोई अपनी परिस्थितियों से हार नहीं मानता, उससे संघर्ष कर विजय प्राप्त करना चाहता है।

'मुक्ति का एक क्षण' कहानी में एक अपाहिज कबूतर के लिए दाना लाते समय वे अपनी संवेदना को बिल्कुल साफ करके रख देना चाहते हैं। कबूतर के साथ लेखक का मानवीय संबंध यह अर्थ ध्वनित करता है कि प्रत्येक स्वाभिमानी प्राणी किसी की दया, करुणा और सहानुभूति के बिना भी रह सकता है।

रघुवीर सहाय जी की कहानी 'एक छोटी-सी यात्रा' में कहानीकार अपनी बस यात्रा के दौरान शाम का अख़बार बेचने वाले दो लड़कों से अख़बार खरीदने के लिए छोटे लड़के का चुनाव करता है, क्योंकि उसकी सहानुभूति कमज़ोर होने के कारण छोटे के प्रति होती है–'छोटे लड़के ने छूटकर पंजों के बल खड़े होकर किसी तरह अख़बार खिड़की तक पहुँचा दिया। शाबाश! मुस्कुराकर मैंने ले लिया। उसकी ओर प्यार से मैंने देखा, उसकी हिम्मत बढ़ाने के लिए। खूब, लड़का बहादुर है। पर वह स्वीकृति में मुस्कुराया नहीं, न उसने गर्व से सीना ताना, घबराकर बोला, 'बाबूजी, जल्दी दे दीजिए, नहीं तो बस चल देगी।' इससे स्पष्ट होता है कि बस छूटने वाली होने पर बाकी के दो पैसों के बारे में सोचता है कि कोई हर्ज नहीं जो यह पैसे न दे और बस चल दे। अपनी इस उदारता और उपकार के सुख पर वह आत्मविभोर हो उठता है। 'लड़के को देखा, उसकी नाक फूलती जा रही थी और आँखें मींच-मींचकर वह जेब में बार-बार हाथ घुसेड़ता था। मैंने उसकी परेशानी को फिर पसंद किया और सोचा, कितना सुपात्र है वह मेरी इस उदारता के लिए!'

किसी व्यक्ति पर उपकार करने के क्षण में अनुभव होने वाले सुख का त्याग उसके स्वाभिमान की प्रशंसा से कहीं अधिक दुष्कर है। बस में सफर करते समय लाल बत्ती पर रुके लेखक की एक अख़बारवाले गरीब बच्चे के पास छट्टे पैसे छोड़कर उसपर उपकार करने की तीव्र इच्छा को अचानक झटका लगा, जब उसके ही प्रतिद्वंद्वी साथी अख़बारवाले बच्चे ने लेखक

के छुट्टे पैसे लौटा दिए। यद्यपि लेखक उस छोटे कमजोर बालक की मेहनत, ईमानदारी व बहादुरी से प्रभावित होकर उसका सम्मान ही करना चाहता था, तथापि उस अवसर को खोने का उसे कोई रंज न हुआ। 'मैंने लंबी साँस ली और धन्यवाद किया कि मैं बच गया। जब मैं जाना चाह रहा था तो शायद वहाँ नहीं जाना था, जहाँ उस अख़बारवाले को दो पैसे बख्शते हुए मैं जानेवाला था; अब मैं वापस आ गया था।' सहाय जी को संतोष व प्रसन्नता होती है कि उन्होंने उस स्वाभिमानी बच्चे के स्वाभिमान को क्षति नहीं पहुँचाई।

हमारे सुविधाभोगी मानस की ही प्रतिक्रिया होती है कि हम कठिन प्रक्रिया से गुज़रना ही नहीं चाहते। जबकि मानव में आत्मविश्वास और मनोबल की अनंत शक्तियाँ विद्यमान होती हैं। प्रमादवश वह उनका उपयोग नहीं करता। जबकि जरूरत मात्र जीवनमूल्यों को स्वीकार करने के लिए इस मन को जगाने-भर की होती है। रघुवीर सहाय जी की कहानी 'सरकस' में करतब दिखाने वाले एक बारह साल के बच्चे का मनोबल दर्शनीय है। जब वह सुरक्षा के लिए कमर में पट्टा बाँधने के सुझाव को ठुकरा देता है, 'लड़के ने कहा, नहीं मुझे यह नहीं चाहिए। इसी ने मुझे धोखा दिया।' व्यक्ति का मनोबल यदि एकबार जग गया तो कैसे भी दुष्कर क्षण हों, अंगीकार करना सरल ही नहीं मजेदार भी बनता चला जाता है। सारी कठिनाइयाँ परिवर्तित होकर हमारी ज्वलंत इच्छाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। यह इच्छा उत्तरोत्तर ऊँचाई पाने की मानसिक ऊर्जा देती रहती है। जैसे एड्वेंचर का रोमांच हमें दुर्गम रास्ते और शिखर पार करवा देता है। यदि यही तीव्रेच्छा सद्गुणों को अंगीकार करने में प्रयुक्त की जाए तो जीवन को मूल्यवान बनाना कोई असंभव भी नहीं।

4. दिखावटी प्रतिष्ठा

बुराइयाँ ढलान का मार्ग होती हैं, जबकि अच्छाइयाँ चढ़ाई का कठिन मार्ग। इसलिए बुराई की तरफ ढल जाना सहज, सरल, आसान होता है, जबकि अच्छाई की तरफ बढ़ना अति कठिन श्रमयुक्त पुरुषार्थ। यही बात सामाजिक-मूल्यों के साथ भी लागू होती है। मूल्यों से गिर जाना जितना सरल है मूल्यों के स्तर तक उठ आना उतना ही दुष्कर। अपनी सामाजिक रूप से अस्वीकृत भावनाओं एवं इच्छाओं पर नियंत्रण रख पाना कितना कठिन है, इसकी स्पष्ट तस्वीर रघुवीर सहाय की कहानी 'तीन मिनट' में मिलती है–'हम लोग शराब की दुकान के सामने से गुज़र रहे थे। मेरा जी चाहा कि मैं उसमें घुस जाऊँ। शराब खरीदते वक़्त बहुत उदास होकर पैसा देना उतना ही खराब है, जितना बड़ी शान से पैसा देना।... चल काली कलकत्तेवाली, पहले ही घूँट ने असर किया। लड़के ने उसे थोड़ी दे थी और अपने को और मुझे बराबर-बराबर। शराब अच्छी थी।' इसे मदिरापान को प्रतिष्ठा का प्रतीक समझने वाले समाज पर लिखा गया व्यंग्य कहा जा सकता है।

समाज का विकास समाज के मनुष्यों की सोच के बदलाव में परिलक्षित होता है। जिस प्रकार समाज गतिशील है, सामाजिक जीवन में तरक्की होती है, जीवनमूल्यों की परिभाषाएँ भी बदल जाया करती हैं। अंतर मात्र यह है कि प्राचीनकाल में अस्वीकृत नकारात्मक भावनाओं को अब हमने मूल्यों की संज्ञा दे डाली है। आज का सभ्य समाज मूल्यों को अपनी सुविधा व सहूलियत के हिसाब से तोड़ने-मरोड़ने में सिद्धहस्त है। जिस 'सत्य' के पक्षधर रहकर गांधीजी ने अँग्रेज़ों से बिना अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग किए देश को स्वतंत्रता दिलाकर संपूर्ण विश्व में सम्मान अर्जित किया, जिस सत्य-वादन के कारण राजा हरिश्चंद्र ने न केवल इतिहास में अमरत्व प्राप्त

 ISSN 0975-735X

किया अपितु हमारे हृदयों में सिंहासन जमाया, वही 'सत्य' आज एक अस्त्र की तरह प्रयोग किया जा रहा है। इन्हीं जीवनमूल्यों के अवमूल्यन पर दृष्टिपात के उद्देश्य से संभवत: रघुवीर सहाय जी की कहानी 'स्पष्टवादिता' रची गई जान पड़ती है। कहानी का एक बड़ा ही सटीक अंश उद्धृत है–'लोग स्पष्टवादी भी होते हैं और सच भी नहीं बोलते। बल्कि साफ बोलना ही यदि श्रेष्ठता का प्रमाण है तो लोग साफ झूठ ज़्यादा अच्छी तरह बोल सकते हैं और वह भी बड़ी सफाई से कि आप यह समझें कि बड़ी खरी बात कह गया, जबकि बात सिर्फ़ कुछ न हो–सिवाय बातें बनाने के उसने कुछ न किया हो।' सहाय जी बताते हैं कि कुछ लोगों की कथनी और करनी में इतना विशाल अंतर होता है कि वे केवल बातें बनाना ही प्रतिष्ठा का प्रतीक समझते हैं।

संदर्भ

1. रघुवीर सहाय रचनावली 2, कहानी 'कहानी की कला' पृ॰ 49
2. वही, भूमिका, कथा-संग्रह–'जो आदमी हम बना रहे हैं', पृ॰ 29
3. रघुवीर सहाय रचनावली भाग-5, दिल्ली की डायरी, 11 सितंबर 1962, रजरथ के तले, पृ॰143
4. रघुवीर सहाय रचनावली 2, कहानी 'घरौंदा' पृ॰ 42
5. अखिल आनंद, भारतीय समाज, पृ॰ 184
6. रघुवीर सहाय रचनावली 2, कहानी 'घरौंदा' पृ॰ 43
7. वही
8. वही
9. वही, पृ॰ 44
10. वही, कहानी 'एक भगोड़े का आत्मकथ्य' पृ॰ 131
11. वही, कहानी 'मुठभेड़' पृ॰ 88
12. वही,कहानी 'विजेता' पृ॰ 80
13. वही, कहानी 'मेरे और नंगी औरत के बीच' पृ॰ 80
14. वही, कहानी 'सेब' पृ॰ 53
15. वही, कहानी 'एक जीता-जागता व्यक्ति' पृ॰ 61
16. वही, कहानी 'एक छोटी-सी यात्रा' पृ॰ 70
17. वही, पृ॰ 70-71
18. वही, पृ॰ 102
19. वही, कहानी 'तीन मिनट' पृ॰ 95
20. वही, कहानी 'स्पष्टवादिता' पृ॰ 58

पी॰ओ॰ बॉक्स 99846, **दुबई, यू.ए.ई.**
मो॰ 971504270752
स्थायी पता-
K&I-137, Kavi Nagar, Ghaziabad (U.P.)
मो॰ 919891578101

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में व्यंग्य-चित्रण

डॉ॰ अमितेश बोकन
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
हरद्वारीलाल गोयल राजकीय महाविद्यालय
तावडू, जिला-मेवात (हरि॰)

साहित्यकार अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपनाता है। व्यंग्य साहित्य का सशक्त माध्यम है। यह श्रोता या पाठक पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रहार करता है। व्यंग्य के उद्देय गूढ़ और गहरे होते हैं। हरिशंकर परसाई के अनुसार, 'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार कराता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है।'[1] व्यक्ति एवं समाज की विभिन्न अवांछित स्थितियों और संदर्भों को मूल्यांकित करके उन्हें सही दिशा की ओर प्रेरित करना भी साहित्यकार का उद्देश्य होता है। जब बार-बार प्रेरित एवं अनुप्रेरित करने पर भी स्थितियों में कोई अंतर नहीं आता है तो ऐसी स्थिति में साहित्यकार को अपने व्यंग्य के चाबुक से कार्य लेना ही पड़ता है। व्यंग्य जीवन स्थितियों के प्रति सतर्क करता है। किसी की अनावश्यक निंदा करना उसका प्रयोजन नहीं होता है। कवि अग्रवाल जन-मानस के कवि हैं। लोकसंपृक्ति के साथ ही तत्कालीन भारतीय जीवन-संदर्भों पर उनकी पैनी नज़र थी। उनके काव्य में अनेक प्रकार के व्यंग्य देखने को मिलते हैं जिन्हें विषयानुसार रखकर देखा-परखा जा सकता है–

राजनीतिक व्यंग्य

कवि अग्रवाल की काल-चेतना मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों से संबद्ध है। राजनीतिक क्षेत्र में होने वाली घटनाओं और परिवर्तनों की दशा एवं दिशा पर उन्होंने एक विवेकसंपन्न व्यक्ति की भाँति विचार किया है। पराधीनता के समय भी देश में ऐसे नेताओं की कमी नहीं थी, जो अँग्रेज़ों की चाटुकारिता में लगे रहते थे। आज़ादी के बाद भी इनकी विचार-पद्धति में कोई अंतर नहीं आया है। अँग्रेज़ों की चापलूसी और उनके प्रति मोह पर व्यंग्य करते हुए कवि अग्रवाल ने कहा है–

परदेशी गोराशाही के कुत्तों को दुलरावै ।
बड़े प्यार से उस कुत्तों से, अपना मुँह चटवावैं।
उसकी टेढ़ी पूँछ पकड़कर, बाधा दूर भगावैं।
उसके पैने दाँत देख कर, बैरी पर लुलुहावै।
कहता है केदार सुनो जी! अरे श्वान के शेर।

 ISSN 0975-735X

अब कुत्तों का पेट फाड़कर, घाघ करेंगे शेर।[2]

यहाँ अँग्रेज़ों की तुलना कुत्तों से करके व्यंग्य की चोट को बड़ा ही तीक्ष्ण कर दिया गया है। आज़ादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं से देश का विशेष भला नहीं हो पाया है। पंचवर्षीय योजनाओं के लिए आने वाला धन विदेशी है। इस तरह विकास के नाम पर हमें कर्ज में डुबाने की तैयारी हो रही है। हमें ऋण-प्रदाता देश की व्यापार-संबंधी विभिन्न शर्तें भी माननी पड़ती हैं। कवि अग्रवाल ने इसका विरोध करते हुए कहा है–

पंचवर्षी योजना की रीढ़ ऋण की शृंखला है,
पेट भारतवर्ष का है और चाकू डालरी है।[3]

राजनेताओं की नासमझी पर कवि अग्रवाल उन्हें दया-पात्र के रूप में देखते हैं–

नेता निगाह का कच्चा है
नासमझ देश का बच्चा है।[4]

राजनीति का क्षेत्र केवल नीतिगत ही नहीं है, अपितु शासन-संबंधी संदर्भ भी इसकी परिधि के अंतर्गत आते हैं। राजनीति के प्रकार्य शासन के संदर्भ में ही सामने आते हैं। सरकारी आदेश अफसरशाही को मजबूत बनाने वाले होते हैं। इन शक्तियों के बल पर ही अफसर जनता के प्रति दमनकारी व्यवहार करते हैं। कवि अग्रवाल अपनी पत्नी से इसी तथ्य को लक्षित करते हुए कहते हैं–

हे मेरी तुम / कागज के गज गजब बढ़े
धम-धम धमके /भीड़ रौंदते-
इनके पाँव कढ़े
ऊपर अफसर चंट चढ़े
दंड-दमन के पाठ पढ़े।[5]

समाज में चोरबाजारी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। गरीब व्यक्ति के लिए न्याय कहीं भी नहीं है। पुलिस-तंत्र भी अपने मनमाने तरीकों से जनता का शोषण करता है। पुलिस अफसर यमराज के भैंसों के तरह विवेकहीन कार्यों में लिप्त हैं। कवि अग्रवाल ने कहा है–

कवि केदार करो मनमाना / तीरथ है कलयुग में थाना
थाने में रहता भगवाना / जग-जाहिर है नाम महाना
चोरी करो, चढ़ाओ पैसा / पूजो तुम भैरव का भैंसा
भैंसा है थाने का ऐसा / कोई देखा-सुना न जैसा।[6]

प्रशासनिक पदों पर ज्ञानहीन व्यक्ति बैठे हुए हैं। उनकी ज्ञानहीनता प्रकारांतर से शासन व्यवस्था और देश की जनता के हितों की दृष्टि से अंवाछित ही नहीं अपितु जनता का दुर्भाग्य भी बन जाती है। कवि अग्रवाल ऐसे लोगों के बहुत ही हास्यापद और विद्रूपात्मक चित्र खींचते हुए कहते हैं–

गिरगिट बैठे सिंहासन पर / गधे लगाते तेल।
बीन बजाते बाज महोदय / यह देखो कुदरत का खेल।[7]

कवि अग्रवाल विषय की गहरी सूझबूझ के साथ काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं। अवसरवाद, प्रपंची घोषणाओं, नेताओं और मंत्रियों के चारित्रिक पतन, विकास की मूलभूत

सच्चाइयाँ, विभिन्न निकायों के गठन का सच इत्यादि सभी को उन्होंने न केवल पहचाना है, अपितु समाज को भी ऐसी बातों के प्रति सचेत किया है।

सामाजिक व्यंग्य

सामाजिक विकास, अवनति, परिवर्तन इत्यादि सभी संदर्भों पर कवि अग्रवाल ने स्वविवेक से अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। सामाजिक दृष्टि से आवंछित कार्यों-संदर्भों पर उन्होंने बहुत ही तीक्ष्ण व्यंग्य प्रहार किए हैं। कुछ व्यक्ति अपने असत्य पर सत्य का आवरण चढ़ाए रहते हैं। समाज-विरोधी कार्यों को करते हुए भी अपना सीना तानकर चलते हैं। शैतान वृत्ति को अपनाए ऐसे व्यक्ति दूसरों के प्रति करुणा, दया और सुहानुभूति का अभिनय भी करते हैं। किसी की मृत्यु पर उसके लिए आँसू भी बहाते हैं–

मरे का मातम / शैतान भी मनाता है,
शमशान तक जाता / और आँसू बहाता है
किंतु,
दूसरों को मारने से बाज नहीं आता है।[8]

साधन-संपन्न धनवान वर्ग के लोग ऊपर से ईमानदारी, सत्य, विनम्रता का आवरण चढ़ाए रहते हैं, किंतु उनका चरित्र कुछ और ही होता है। ऐसे व्यक्ति मानवता को अपने पाँवों तले रौंदने से बाज नहीं आते हैं। कवि अग्रवाल ने कहा है-

शहर की शोभा / शरीफजादे लूटते हैं
देखते-देखते मानवीय मर्यादाओं को
पाँवों के तले खूँदते हैं।[9]

कवि अग्रवाल सामाजिक स्वतंत्रता और सामाजिक विकास जैसे विषयों पर भी व्यंग्य-प्रहार करने से नहीं चूकते हैं। शैक्षिक प्रसार कानून-व्यवस्था के होते हुए भी समाज में अपराध-वृत्ति बढ़ती जा रही है। मनुष्य का आचरण समाज के संदर्भ में प्रतिकूल ही होता जा रहा है–

बिगड़े हैं लोग
और बिगड़ा है आचरण
रोके नहीं रुकता अपराधों का प्रजनन।[10]

व्यक्ति की स्वार्थपरता, शैतानवृत्ति, निजता एवं अहं की रक्षा, नैतिकता का पतन, अतिशय अधिकार-भावना, धनवानों की शोषकवृत्ति इत्यादि सभी कुछ पर कवि अग्रवाल ने अपने विवेक से व्यंग्य-बाणों का प्रहार किया है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने कहा है–श्री केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ युग के जीवन को चित्रित करती हैं। समाज की विषमता पर तीखा व्यंग्य करती हैं।[11] नि:संदेह उनके सामाजिक व्यंग्य एक सतर्क और सचेत समाजप्रेमी साहित्यकार के सबल प्रमाण हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यंग्य

धर्म एवं संस्कृति की सुदृढ़ पीठिका पर ही किसी भी समाज की समृद्धि एवं खुशहाली संभव है। धर्म एवं संस्कृति मनुष्य में नैतिकता और मानवता के गुणों का समावेश करते हैं। बाहरी आडंबरों के कारण इनमें अनेक दूषित परंपराओं का समावेश हो जाने के कारण मानव के लिए

 ISSN 0975-735X

कष्टप्रद भी हो जाया करते हैं। हमारे समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो दूसरों को धर्मसंबंधी झूठी और अविश्वसनीय बातों के हेर-फेर में उलझाए रखते हैं। पुनर्जन्म की कहानियाँ कहने वालों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है–

यहाँ / इस देश में
जिनका जन्म दो बार होता है
वही सताते हैं उनको
यहाँ / इस देश में
जिनका जन्म एक बार होता है
पुनर्जन्म इसलिए खराब है
बहुत बहुत सचमुच।[12]

केदारनाथ अग्रवाल की दृष्टि में स्वर्ग और नरक-संबंधी बातें महत्त्वहीन हैं। सदियों से मनुष्य की मृत्यु के उपरांत स्वर्ग और नरक-प्राप्ति संबंधी बातें की जाती रही हैं, किंतु यह किसी को भी नहीं पता कि स्वर्ग-नरक किसी को मिलता भी है या नहीं–

कोई नहीं जानता
कौन / कहाँ पहुँचता है–
किसको मिलता है स्वर्ग,
किसको / मिलता है नर्क![13]

देवों ने अपना धार्मिक स्थान अपने चरित्र और शुभ कार्यों से पाया है। उनके चरित्रगत आदर्शों को आज हमारा समाज भुलाए बैठा है। इसी संदर्भ में कवि अग्रवाल ने लिखा है–

देवताओं के देश में / देवता, अब,
यहाँ-वहाँ / कहीं नहीं / दिखते।[14]

आदमियों के बनाए हुए देवता केवल कलाकृतियों में दिखते हैं। धर्म की कट्टरता मनुष्य को बर्बरता की ओर धकेलती है। धर्म के नाम मरने वालों को शहीद कहा जाता है और जो जिंदा बच जाता है, उसे गुनहगार कहते हैं–

एक ने अल्लाह के नाम पर / जान दी
एक ने अल्लाह के नाम पर / जान ली।
नमाज पढ़ते हैं नमाजिए मस्जिद में,
गए को शहीद–
रह गए को / दोजखी गुनहगार कहते हैं।[15]

कवि अग्रवाल धार्मिक और सांस्कृतिक पाखंडों और प्रपंचों के खिलाफ हैं। उनके व्यंग्य मानवीय चिंताओं से उद्‌भूत हैं। उनकी भावना विभिन्न शुभ धार्मिक और सांस्कृतिक संदर्भों से अनुप्रेरित होकर सद्‌कार्यों की ओर सामान्य-जन को प्रेरित करने की रही है। दोनों ही क्षेत्रों के गलित तत्त्वों पर व्यंग्य-प्रहार करते हुए वे पर्याप्त तर्क और कारण प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें कोई भी विवेकी व्यक्ति हटा नहीं सकता।

आर्थिक व्यंग्य

मनुष्य-जीवन की भौतिक समृद्धि आर्थिक पक्ष से जुड़ी होती है। कवि अग्रवाल ने व्यक्ति से लेकर देश तक के आर्थिक संदर्भों को अपनी पैनी दृष्टि से मूल्यांकित किया है। हमारा समाज आर्थिक अंतविरोधों से भरा पड़ा है। समाज में एक तरफ अत्यधिक धनवान व्यक्ति हैं तो दूसरी तरफ ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं, जिनकी जीविका-संबंधी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पाती हैं। आर्थिक असमानता पर चोट करते हुए कवि अग्रवाल ने कहा है–

पैसा है / मेरा देश
जो किसी की जेब में है / और
किसी की जेब में / नहीं है।[16]

केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी एक कविता 'मंत्री-मास्टर संवाद' में एक अध्यापक की असहाय स्थिति का वर्णन करते हुए है कि महँगाई में अध्यापक के लिए घर चलाना मुश्किल हो गया है। प्रत्युत्तर में मंत्री कहता है–

अध्यापक से मंत्री बोले: तुम हो विद्यादानी।
तुमसे बढ़कर और नहीं है, इस दुनिया में ज्ञानी।
जो पाते हो वह काफी है, लोभ न और बढ़ाओ।
मोल बेचकर विद्या अपनी, मत अपमान कमाओ।
महँगाई है तो क्या इसमें, रहो ज्ञान भर जी के।
गुरु हमारे भूतकाल में, रहते थे जल पी के।
जाओ, अपने घर को जाओ, ऐसी अरज न करना।
भूखे रहना, शिक्षा देना, सदा मौत से लड़ना।[17]

विकसित राष्ट्रों के द्वारा अपनी व्यापार नीतियों को मनवाने के लिए अनेक प्रलोभन दिए जाते हैं। अमेरिकी पूँजीवाद पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है–

यहाँ हमारी जन्मभूमि पर यदि आएगा डालर
तो वह सौदा-सुलुक बेचकर,
मातृभूमि का सारा सोना ले जाएगा।
अमेरिका में अपनी सड़कें
उस सोने की बनवाएगा।[18]

अधिकाधिक पैसा प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी है। कवि अग्रवाल का गलत साधनों से अर्थाजन करने का विरोध करना उनके ईमानदार व्यक्तित्व को उजागर करता है। सत्य एवं समानता जैसे विचारों का परिपालन करने वाले कवि अग्रवाल का सामाजिक बोध अत्यंत विशुद्ध एवं मानव-कल्याण की भावना से अनुप्राणित है।

केदारनाथ अग्रवाल के व्यंग्य मनुष्य-जीवन के सभी पक्षों को लेकर चले हैं। उनके व्यंग्य वैयक्तिक तर्क-मति या ईर्ष्या से प्रेरित नहीं हैं। उनके व्यंग्य समाजबोध से पैदा हुए हैं। उनके पास स्थितियों के मूल्यांकन की सतर्क, सचेत दृष्टि है, जो समाजहित में स्थितियों का मूल्यांकन करती हैं। राजनीति, धर्म, संस्कृति, समाज, साहित्य इत्यादि विषयों पर लिखे व्यंग्य उनकी विशाल व्यंग्य-चेतना को दर्शाती है। कवि अग्रवाल के व्यंग्य बौद्धिकता के साथ ही अनुभूति का संस्पर्श

 ISSN 0975-735X

भी लिए होते हैं। डॉ॰ नामवरसिंह के अनुसार, 'केदार के नुकीले व्यंग्य कितने प्रभावशाली हैं, इसे जनता के दुश्मन ही जानते हैं। हिंदी कविता में व्यंग्य या तो निराला ने लिखे या फिर नागार्जुन ने और केदार ने।[19]

कवि अग्रवाल के व्यंग्यों की मार कुंभकर्मी नींद को भी तोड़ने की शक्ति रखती है।

संदर्भ

1. हरिशंकर परसाई, सदाचार का तावीज, पृ॰ 90
2. केदारनाथ अग्रवाल, कहे केदार खरी-खरी, पृ॰ 61
3. वही, पृ॰ 160
4. वही, पृ॰ 160
5. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ॰ 33
6. केदारनाथ अग्रवाल, कहे केदार खरी-खरी, पृ॰ 119
7. वही, पृ॰ 126
8. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ॰ 46
9. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, पृ॰ 52
10. केदारनाथ अग्रवाल, कहे केदार खरी-खरी, पृ॰ 150
11. डॉ॰ रामचंद्र मालवीय, समीक्षाएँ एवं मूल्यांकन, पृ॰ 15
12. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ॰ 59
13. केदारनाथ अग्रवाल, आग का आईना, पृ॰ 72
14. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, पृ॰ 74
15. वही, पृ॰ 83
16. वही, आग का आईना, पृ॰ 77
17. वही, कहे केदार खरी-खरी, पृ॰ 55
18. वही, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, पृ॰ 50
19. डॉ॰ रामचंद्र मालवीय, समीक्षाएँ एवं मूल्यांकन, पृ॰ 15

मो॰ 09953903770

हिंदी-पत्रकारिता को सींचनेवाले बांग्लाभाषी मनीषी

कृपाशंकर चौबे

कोलकाता हिंदी-पत्रकारिता की ही जन्मस्थली नहीं है, वह चार दूसरी भाषाओं–उर्दू ('जाम ए जहाँनुमा'), फारसी ('मिरात-उल-अख़बार'), अँग्रेजी ('हिकीज बंगाल गजट आर केलकटा जनरल एडवटाइजर') और बांग्ला पत्रकारिता ('दिग्दर्शन'/ 'बंगाल गजट') की जन्मस्थली भी है। हिंदी-पत्रकारिता के प्रति बंगाल हर कालखंड में उदार रहा है। तथ्य है कि अनेक बांग्लाभाषियों ने अपनी हड्डियाँ गलाकर हिंदी-पत्रकारिता की समृद्ध विरासत खड़ी की। भारतीय भाषाई प्रेस के जनक बांग्लाभाषी राजा राममोहन राय ही थे। वे 19वीं सदी के प्रारंभ में उन भद्र बंगाली सज्जनों में थे, जो अँग्रेजों के संपर्क में सबसे पहले आए। उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति जैसी पश्चिमी उदारवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की और उसे सामाजिक सुधार के संदर्भ में भारतीय परिप्रेक्ष्य में ढाला। राजा राममोहन राय ने लार्ड विलियम बेंटिक की सहायता से महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष किया और कानून बनवाकर सती-प्रथा को अवैध करार दिया और इस मुद्दे पर सामाजिक नवजागरण लाने के लिए उन्होंने पत्रकारिता को माध्यम बनाया। उन्होंने हिंदी, बांग्ला, अँग्रेजी और फारसी भाषाओं की पत्रकारिता के लिए जो रचनात्मक संघर्ष किया, वह इतिहास स्वीकृत तथ्य है। उन्होंने हिंदी, बांग्ला तथा फारसी में 10 मई 1829 को साप्ताहिक 'बंगदूत' निकाला। यह साप्ताहिक 82 दिनों तक ही चल पाया, किंतु उस अल्प समय में ही उसने अपनी अलग पहचान बना ली। 'बंगदूत' का 10 मई 1829 का अंक कोलकाता के बंगीय साहित्य परिषद्, कोलकाता में जतन के साथ सहेजकर रखा गया है।

राजा राममोहन राय की प्रेरणा से ही गंगाधर भट्टाचार्य ने 1816 में कलकत्ता से 'बंगाल गजट' का प्रकाशन प्रारंभ किया। किसी भी भारतीय द्वारा प्रकाशित होनेवाला वह पहला पत्र था। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा के खिलाफ 'एशियाटिक जर्नल' के जुलाई 1819 के अंक में लेख लिखा। उन्होंने 1821 में द्विभाषी 'ब्रह्मैनिकल मैग्जीन' निकाली। उसके तीन अंक ही निकले, किंतु हर अंक में राममोहन राय ने लेख लिखकर धार्मिक कुरीतियों पर हल्ला बोला था। राममोहन राय की ही प्रेरणा से 4 दिसंबर 1821 को ताराचंद दत्त तथा भवानीचरण बंद्योपाध्याय ने बांग्ला साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन प्रारंभ किया। राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' को सती-प्रथा के खिलाफ अभियान बना डाला। 'संवाद कौमुदी' ने पारिवारिक रीति-रिवाजों तथा तीज-त्योहारों व धार्मिक कर्मकांडों पर ज्यादा धन खर्च किए जाने का डटकर विरोध किया।

राजा राममोहन राय ने 20 अप्रैल 1822 को कलकत्ता से ही फारसी भाषा का 'मिरात उल अख़बार' निकालना शुरू किया। इसके पहले संपादकीय मंतव्य में राममोहन राय ने

 ISSN 0975-735X

लिखा–'कुछ अँग्रेज़ देश और विदेश के समाचार प्रकाशित करते हैं, किंतु इससे केवल वे ही लोग लाभ उठा पाते हैं, जो अँग्रेज़ी जानते हैं। जो लोग अँग्रेज़ी नहीं जानते, वे खबरों को दूसरों से पढ़वाते हैं या फिर उनसे अनजान बने रहते हैं। ऐसी दशा में मुझे फारसी में एक साप्ताहिक अख़बार प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। बहुत से लोग फारसी जानते हैं, अतएव यह अख़बार बहुत से लोगों तक पहुँचेगा। इस अख़बार के प्रकाशन से मेरा अभिप्राय न तो धनाढ्य व्यक्तियों की, न अपने मित्रों की प्रशंसा करना है और न मुझे यश और कीर्ति की अभिलाषा है। संक्षेप में, इस पत्र के प्रकाशन से मेरा अभिप्राय यह है कि जनता के समक्ष ऐसी बातें प्रस्तुत की जाएँ, जिनसे उनके अनुभवों में वृद्धि हो, सामाजिक प्रगति हो, सरकार को जनता की स्थिति मालूम रहे और जनता को सरकार के कामकाज और नियम-कानूनों की जानकारी मिलती रहे।'[1]

'मिरात उल अख़बार' हर शुक्रवार को प्रकाशित होता था। इस अख़बार का मूल्यांकन करते हुए कलकत्ता जर्नल ने लिखा था–'देशी भाषाओं में प्रकाशित समाचार-पत्रों में अन्य कोई पत्र इतना अच्छा नहीं निकलता, जितना कि मिरात उल अख़बार।' यह अख़बार सालभर ही निकल सका। 4 अप्रैल 1823 को 'मिरात उल अख़बार' का अंतिम अंक निकला, जिसके संपादकीय में राममोहन राय ने लिखा–'शपथपत्र पर विश्वास दिलाने के बाद भी जब प्रतिष्ठा को आघात लगता है और हर समय यह लाइसेंस रद्द करने का भय बना रहता है, तब दुनिया के समक्ष मुँह दिखाने लायक नहीं होता। इससे मन की शांति भी भंग होती है। स्वभावतः मनुष्य से गलती होती है। अपनी भावना को अभिव्यक्ति देते समय जिन शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है तो उनका अपने पक्ष में अर्थ निकालकर शासन के रोष का सामना करना पड़ता है।'[2]

श्यामसुंदर सेन और 'समाचार सुधावर्षण'

जिस तरह हिंदी का पहला साप्ताहिक 'उदंत मार्तंड' कलकत्ता से 30 मई 1826 को युगलकिशोर शुक्ल द्वारा प्रकाशित किया गया, उसी तरह हिंदी का पहला दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' भी कलकत्ता से ही 8 जून 1854 को निकला, जिसके संपादक श्यामसुंदर सेन थे। यह अख़बार हिंदी-बांग्ला भाषा सेतु बंधन का अनोखा उदाहरण था। यह हिंदी और बांग्ला दोनों में निकलता था। आरंभ के दो पृष्ठ हिंदी में और बाकी पृष्ठ बांग्ला में निकलते थे। यह अख़बार रविवार को छोड़कर प्रतिदिन निकलता था। इसका आकार 18 गुणा 12 इंच था। हर पृष्ठ चार कॉलम में बँटा होता था। 'समाचार सुधावर्षण' का मासिक मूल्य दो रुपए, सालाना चौबीस रुपए, पेशगी सालाना बीस रुपए और छह महीने की पेशगी दस रुपए था। यह अख़बार 1873 तक निकला। उस ज़माने में इतने दिनों तक किसी दैनिक अख़बार का निकलना ही अपने-आपमें एक बड़ी बात थी। 'समाचार सुधावर्षण' की विषयवस्तु समृद्ध थी और इसकी भाषा भी अपेक्षाकृत परिष्कृत थी। 1854 से 8 जनवरी 1956 तक पहले पृष्ठ में ही अग्रलेख छपता था। विज्ञापन बढ़ जाने के कारण अग्रलेख दूसरे, तीसरे या चौथे पृष्ठ पर छप जाया करता था। देश-विदेश के रोचक समाचारों के साथ ही युद्ध-विवरण इसमें छपता था। अँग्रेज़ों के अनैतिक आचरण की भी बेबाक आलोचना की जाती थी।

इस अख़बार के संपादक श्यामसुंदर सेन भारतीय समाचार-पत्रों की आजादी के अनन्य

सेनानी थे। 1857 के सिपाही विद्रोह में मीडिया की भूमिका की जब भी चर्चा होगी तो श्यामसुंदर सेन का उल्लेख अनिवार्यत: आएगा। 'समाचार सुधावर्षण' ने लगातार ब्रिटिश सेना के अत्याचारों की खबर साहस के साथ प्रकाशित की। 26 मई 1857 के अंक में अख़बार ने लिखा–'हाल ही में अँग्रेज़ों ने हमारे धर्म को नष्ट करने का प्रयास किया। अत: ईश्वर उन पर क्रुद्ध है। ऐसा आभास मिलता है कि ब्रिटिश साम्राज्य का अब अंत आ गया। जब दास मालिक को जवाब देने लगता है तब समझ लो मालिक का अंत निकट है। साम्राज्य पर जब संकट पड़ा, तब गवर्नर ने अनेक वायदे किए। लेकिन विद्रोही सेना का उन वायदों पर कोई विश्वास नहीं। वे युद्ध को समाप्त करने के पक्ष में नहीं। सच्ची बात तो यह है कि युद्ध में दम आ रहा है और अनेक क्षेत्रों की जनता सेना में मिल रही है।'[3] 5 जून 1857 के अंक में 'समाचार सुधावर्षण' ने लिखा कि मेरठ और दिल्ली के विद्रोह ने गवर्नर को इतना भयभीत कर दिया है कि उसने अपने सुरक्षाकर्मियों की संख्या बढ़ा दी और राजनिवास के सभी रास्तों को प्रतिदिन रात आठ बजे बंद करने का आदेश दिया। गवर्नर की दयनीयता का आलम यह है कि वह प्रतिदिन दमदम, बैरकपुर में जाकर सिपाहियों से दोनों हाथ जोड़कर कहता–मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा, जिससे आपके धर्म को ठेस पहुँचे। आपका धर्म जो कहे, वही करिए, इसके लिए आपको कोई नहीं रोकेगा। श्यामसुंदर सेन ने समाचार सुधावर्षण के 5, 9 और 10 जून 1857 के अंकों में भी विप्लवी सेना की तैयारी और प्रगति के समाचारों को प्रकाशित किया था। उन समाचारों से ब्रिटिश सरकार इतनी डर गई कि गवर्नर जनरल ने 12 जून 1857 को श्यामसुंदर सेन पर मुकदमा चलाने का निश्चय किया।

दिल्ली के अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने जब 25 अगस्त 1857 को घोषणा-पत्र जारी किया तो उसे भी श्यामसुंदर सेन ने प्रमुखता से प्रकाशित किया। वह घोषणा-पत्र भारत के पहले स्वाधीनता-संग्राम का विरल दस्तावेज है। उस घोषणा-पत्र में बहादुरशाह जफर ने कहा था–'खुदा ने जितनी बरकतें इंसान को अता की हैं, उसमें सबसे कीमती बरकत आजादी है। क्या वह जालिम फिरंगी जिसने धोखा देकर हमसे यह बरकत छीन ली है, हमेशा के लिए हमें उससे महरूम रखेगा? क्या खुदा की मर्जी के खिलाफ इस तरह का काम हमेशा जारी रह सकता है? नहीं, कभी नहीं, फिरंगियों ने इतने जुल्म किए हैं कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज हो चुका है। यहाँ तक कि हमारे पाक मजहब का नाश करने की नापाक ख्वाहिश भी उनमें पैदा हो गई है। क्या तुम अब भी खामोश बैठे रहोगे? खुदा यह नहीं चाहता कि तुम खामोश रहो, क्योंकि खुदा ने हिंदुओं-मुसलमानों के दिलों में उन्हें मुल्क से बाहर निकालने की ख्वाहिश पैदा कर दी है और खुदा के फजल और तुम लोगों की बहादुरी के प्रताप से जल्द ही अँग्रेजों को इतनी कामिल शिकस्त मिलेगी कि हमारे इस मुल्क हिंदुस्तान में उनका जरा भी निशान न रह जाएगा। हमारी फौज में छोटे और बड़े की तमीज भुला दी जाएगी और सबके साथ बराबरी का बर्ताव किया जाएगा, क्योंकि इस पाक जंग में अपने धर्म की रक्षा के लिए जितने लोग तलवार खींचेंगे, वे सब एक समान यश के भागी होंगे। वे सब भाई हैं। उनमें छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं। इसलिए मैं अपने तमाम हिंदू भाइयों से कहता हूँ–उठो और ईश्वर के बताए इस परम कर्तव्य को पूरा करने के लिए मैदान-ए-जंग में कूद पड़ो।'[4]

1857 में ही लार्ड केनिंग ने लेखन व मुद्रण की आजादी पर अंकुश लगाने के लिए एडम रेगुलेशन लगा दिया था। उसी के तहत समाचार सुधावर्षण पर मुकदमा चला। लेकिन श्यामसुंदर

 ISSN 0975-735X

सेन ने तर्क दिया कि उस समय तक भारत का वैधानिक शासक मुगल बादशाह था और जिसे देश का शासक माना जाता हो, उसके फरमान को छापना देशद्रोह की तकनीकी परिभाषा के अंतर्गत नहीं आता। इस घटना के बाद भी श्यामसुंदर सेन जहाँ भी अँग्रेज सरकार का प्रतिकार हो रहा रहा था, उसके समाचार 'समाचार सुधावर्षण' में छापते रहे।

'समाचार सुधावर्षण' ने 19 सितंबर 1858 के अंक में लिखा–कैप्टन मेह के नेतृत्व में अतिरिक्त सेनाएँ दमदम आ गई हैं और 19वीं रेजीमेंट का एक भाग मेजर हक के नेतृत्व में चिनपुरा भेजा गया है। 29 सितंबर 1858 के अंक में समाचार सुधावर्षण में कहा गया है–'कैप्टन मिनी के 19 सितंबर को रीवा से लिखे गए पत्र से पता चलता है कि कमांडर माइकेल ने मेहू राज्य से सेनाएँ लेकर तात्या टोपे की सेनाओं पर हमला किया। हम लोग लड़ाई जीत गए हैं, विद्रोही हार गए हैं और हमने उनकी कुछ तोपें अपने कब्जे में कर ली हैं। विद्रोही इधर-उधर बिखर गए हैं और उत्तर-पूर्व की ओर भाग रहे हैं। हमारी घुड़सवार सेना, जिसके पास बंदूकें और हथियार हैं, पैदल सेना के साथ उनका पीछा कर रही हैं। ये विद्रोहियों के अंतिम दिन हैं। ब्रिगेडियर कारपेंटर ने उनके छिपने की जगहों को नष्ट कर दिया है और उनके एक सरदार रामनाथसिंह को घायल कर दिया है।' समाचार सुधावर्षण की एक अन्य खबर में कहा गया है–कैप्टन माइकेल ने महू क्षेत्र की सेनाओं के साथ तात्या टोपे के सहयोगियों पर राजगढ़ और रीवा में आक्रमण किया और बीस या तीस तोपें कब्जे में कर लीं, पर उनका कोई आदमी हताहत नहीं हुआ है। कहने की जरूरत नहीं कि 1857-58 के दौरान श्यामसुंदर सेन ने अपनी साहसपूर्ण पत्रकारिता से हिंदी-पत्रकारिता को वह गौरवशाली परंपरा दी, जिसे हमेशा याद किया जाता रहेगा। श्यामसुंदर सेन ने हिंदी-पत्रकारिता के संग्राम को जो दिशा दी, वह सदैव पत्रकारिता के लिए प्रेरणादायी रही। कोलकाता के बंगीय साहित्य परिषद् में 'समाचार सुधावर्षण' के चुनिंदा अंक उपलब्ध हैं।

अमृतलाल चक्रवर्ती की पत्रकारिता

अमृतलाल चक्रवर्ती (1863-1936) बांग्लाभाषी होते हुए भी हिंदी के अनन्य सेवी थे। 24 परगना के नादरा गाँव में 1963 में जन्मे अमृतलाल चक्रवर्ती की प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में अपने मामा के पास काफी दिनों तक रहने और वहाँ स्कूल में पढ़ने के कारण हिंदी पर उनका अधिकार हो गया तो भोजपुरी पर भी। वे भोजपुरी बोल भी लेते थे। हिंदी, अँग्रेज़ी, फारसी और संस्कृत पर भी उनका अधिकार था और बांग्ला तो खैर उनकी मातृभाषा ही थी। अमृतलाल चक्रवर्ती ने औपचारिक शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही इलाहाबाद में प्रकाशित 'प्रयाग-समाचार-पत्र' से पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। कुछ दिन कालाकांकर से प्रकाशित राजा रामपाल सिंह के पत्र 'हिंदोस्थान' में भी वे रहे। कालाकांकर में रहते हुए अमृतलाल चक्रवर्ती को शिक्षा पूरी करने का मन हुआ सो घर गए, फिर कालाकांकर नहीं लौटे। कोलकाता जाकर उन्होंने कानून की डिग्री ली, लेकिन वकालत में नहीं गए। योगेंद्रचंद्र बसु ने 1890 में जब 'हिंदी बंगवासी' निकाला तो उसके संपादन का दायित्व अमृतलाल चक्रवर्ती को सौंपा। यह अख़बार डबल रायल आकार के दो बड़े पन्नों में हर हफ्ते प्रकाशित होता था। इसका वार्षिक मूल्य दो रुपए था और प्रसार संख्या दो हजार। उस जमाने में यह संख्या अपने आपमें एक कीर्तिमान मानी जाती थी।

'हिंदी बंगवासी' को निकले एक साल ही हुआ था कि अँग्रेज सरकार ने एज आफ कांसेट बिल पारित कर दिया। अमृतलाल चक्रवर्ती ने हिंदी बंगवासी में इसका पुरजोर विरोध किया। सरकार ने उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। उन्हें तीन दिनों तक जेल में रहना पड़ा। इस घटना से 'हिंदी बंगवासी' की प्रसिद्धि बढ़ गई। इसकी प्रसार संख्या और बढ़ गई। अमृतलाल चक्रवर्ती दस वर्षों तक हिंदी बंगवासी के संपादक रहे। हिंदी बंगवासी ने हिंदी-पत्रकारिता में कई नए प्रयोग किए। समाचारों को विषय और स्थान के अनुसार समायोजित करने की शुरुआत हिंदी बंगवासी ने ही की। तीसरे पृष्ठ का नाम होता था—कलकत्ता और मुफस्सिल। इस पृष्ठ पर कलकत्ता और आस-पास की खबरें छापी जाती थीं। इसमें समाचार भेजनेवाले का नाम भी छापा जाता था। प्रेषक अपना नाम छपने के कारण बेहद सजग रहता था। हिंदी बंगवासी ने विज्ञापन का भी नया तरीका अपनाया। कलकत्ता से बाहर जानेवाली गाड़ियों पर अख़बार का पोस्टर चिपका दिया जाता था। अख़बार के हर अंक में महापुरुषों की जीवनी सचित्र प्रकाशित होती थी। हर अंक में कोई-न-कोई कहानी भी छपती थी। अख़बार अनुवाद छापने को लेकर भी उदार था। बांग्ला भाषा के महाभारत का अनुवाद हिंदी बंगवासी ने छापकर खासी लोकप्रियता बटोरी। सबसे बड़ी बात यह है कि पूरे अख़बार की वर्तनी एक होती थी। अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है—पत्रकारिता का प्राथमिक विद्यालय था हिंदी बंगवासी। पत्रकार के लिए भाषा की एकरूपता पहली आवश्यकता है। एक शब्द जिस रूप में एक जगह लिखा गया है, उसी रूप में सर्वत्र लिखा जाना चाहिए। यह बात हिंदी बंगवासी में कुछ दिन काम करने से आ जाती थी।

अमृतलाल चक्रवर्ती ने दस साल तक संपादन करने के बाद हिंदी बंगवासी के संचालकों की नीति से असंतुष्ट होकर संपादक-पद छोड़ा और श्री वेंकटेश्वर समाचार का संपादन करने लगे। उनके संपादनकाल में श्री वेंकटेश्वर समाचार ने बहुत प्रसिद्धि पाई। वहाँ भी संपादक के काम में मालिकों के दखल के विरोध में ही श्री चक्रवर्ती को हटना पड़ा। घटना इस प्रकार है—संपादक के पास मालिक से एक मजमून पर एक आदेश प्राप्त हुआ जिसमें लिखा था—आज्ञा श्रीमान छापो। अमृतलाल चक्रवर्ती ने उसे इस टीप के साथ लौटा दिया कि पत्र का विषय और उसे छापने न छापने के संबंध में विचार किए बिना केवल आदेश के कारण वह न छापा जाएगा। अख़बार के मालिक सेठ खेमराज इससे बहुत नाराज हुए। उन्होंने श्री चक्रवर्ती को संपादक पद छोड़ने को कहा, साथ ही बालमुकंद गुप्त से संपादक बनने की प्रार्थना की। गुप्त जी ने मना करते हुए उन्हें नसीहत दी कि संपादक के काम में मालिक को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

बालमुकुंद गुप्त जब 'भारतमित्र' के संपादक बने तो अमृतलाल चक्रवर्ती को वहाँ ससम्मान ले गए। अमृतलाल चक्रवर्ती 1907 से 1910 तक भारतमित्र के संपादक रहे। अमृतलाल चक्रवर्ती ने मासिक उपन्यास कुसुम, कलकत्ता समाचार, श्री सनातन धर्म, फारवर्ड, निगमागम चंद्रिका, उपन्यास तरंग और श्रीकृष्ण संदेश पत्रों में भी काम किया। अमृतलाल चक्रवर्ती ने चालीस वर्षों तक हिंदी-पत्रकारिता की सेवा की। उस समय के हिंदीसेवी किन कठिनाइयों में काम करके राष्ट्रभाषा का ध्वज उठाए रहते थे, इसकी एक झलक अमृतलालजी के जीवन से मिलती है। उन्हें 1925 में वृंदावन के सोलहवें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाया गया था। उस समय उनके पास न तो किराए के पैसे थे, न पहनने के ठीक कपड़े। बड़े आग्रह पर मतवाला संचालक महादेवप्रसाद सेठ से उन्होंने कुछ आर्थिक सहायता स्वीकार की, किंतु इस

 ISSN 0975-735X

शर्त पर कि वे बदले में उनका कोई काम कर देंगे।

अमृतलाल चक्रवर्ती ने कहा था–दरिद्रता मेरी चिरसंगिनी है, जिसका बड़ा लाडला है स्वाभिमान और छोटी लाडली है भावुकता। शिवपूजन सहाय द्वारा सरस्वती में लिखी गई उनकी जीवनी के मुताबिक अमृतलाल चक्रवर्ती के पास हमेशा दो धोती और दो पंजाबी कुर्ते ही होते थे। ओढ़ने के लिए एक फटा-पुराना कंबल और बिछाने के लिए एक टूटी चटाई के अलावा कुछ न था। अमृतलाल चक्रवर्ती की वह कोरी भावुकता ही तो थी कि राजपूताने की आठ सौ रुपए की मिल की मैनेजरी छोड़कर चंद रुपए की अख़बारनवीसी की, लेकिन पत्रकारिता भी उन्होंने अपनी शर्तों पर की। समाचार-पत्रों के संचालकों की स्वेच्छाचारिता को उन्होंने कभी बर्दाश्त नहीं किया और उनके जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए कि नौकरी को लात मारकर उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। मणिमय के यशस्वी संपादक रामव्यास पांडेय ने लिखा है कि यदि अमृतलाल चक्रवर्ती राष्ट्रभाषा हिंदी को छोड़कर अपनी मातृभाषा बांग्ला में लिखते तो बंगाली उन्हें कंगाल न होने देते। चक्रवर्ती जी यदि चाहते तो वकालत के द्वारा पैसे का पहाड़ खड़ा कर लेते और एक अदद नौकरी के लिए उन्हें दर-दर न भटकना पड़ता। न पत्नी का सोने का हार बेचना पड़ता, न उन्हें साग-सब्जी भी बेचनी पड़ती और गाँव के लोग उन्हें कुजाति छाँटने की धमकी भी न देते।[5] अभावों में भी अमृतलाल चक्रवर्ती ने अपनी अखंड शब्द-साधना को मद्धिम न पड़ने दिया।

शारदाचरण मित्र और 'देवनागर'

जस्टिस शारदाचरण मित्र (17 दिसंबर, 1848-1917) बंगाल के ऐसे मनीषी थे, जिन्होंने भारत जैसे विशाल बहुभाषा-भाषी और बहुजातीय राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से 1905 में 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना की थी। इस संस्था का एक-मात्र उद्देश्य भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को सामान्य लिपि के रूप में प्रचलित करना था। जाहिर है कि शारदाचरण मित्र ने देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता और व्यापकता को भली-भाँति समझ लिया था और इसीलिए वे इसे भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बनाना चाहते थे। एक लिपि विस्तार परिषद् के लक्ष्य को आंदोलन की शक्ल देते हुए शारदाचरण मित्र ने परिषद् की ओर से 1907 में 'देवनागर' नामक मासिक पत्र निकाला था, जो बीच में कुछ व्यवधान के बावजूद उनके जीवनपर्यंत यानी 1917 तक निकलता रहा। 'देवनागर' के पहले संपादक यशोदानंदन अखौरी थे। इसके मुखपृष्ठ पर यह वाक्य छपा रहता था–'भारतीय चित्र-विचित्र भाषाओं के लेखों से विभूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक पत्रिका।' 'देवनागर' के प्रवेशांक में उसके उद्देश्यों के बारे में इस तरह प्रकाश डाला गया, 'जगद्विख्यात भारतवर्ष ऐसे महाप्रदेश में जहाँ जाति-पाँति, रीति-नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रांतवासियों के विचारों से दूसरे प्रांतवालों का उपकार नहीं होता। इसमें संदेह नहीं कि भाषा का मुख्य उद्देश्य अपने भावों को दूसरे पर प्रकट करना है, इससे परमार्थ ही नहीं समझना चाहिए, अर्थात मनुष्य को अपना विचार दूसरे पर इसलिए प्रकट करना पड़ता है कि इससे दूसरे का भी लाभ हो, किंतु स्वार्थ-साधन के लिए भी भाषा की बड़ी आवश्यकता है। इस समय भारत में अनेक भाषाओं का प्रचार होने के कारण प्रांतिक भाषाओं से सर्वसाधारण

का लाभ नहीं हो सकता। भाषाओं को शीघ्र एक कर देना तो परमावश्यक होने पर भी दुस्साध्य-सा प्रतीत होता है। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है–भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है। देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रांत के निवासी का अपनी लिपि व भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अपने परिचित मंडल को बढ़ाना पड़ेगा। पहले इस पत्र को पढ़ने में पाठकों को बड़ी नीरसता जान पड़ेगी, किंतु इस दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनंत भविष्यत के गर्भ में पड़े हुए पचास वर्ष के अनंतर उत्पन्न होने के शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अंगीकार करेंगे।'[6]

देवनागर में बांग्ला, उर्दू, नेपाली, उड़ीया, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, मलयालम और पंजाबी आदि की रचनाएँ देवनागरी लिपि में लिप्यंतरित होकर छपती थीं। उस पत्र में पं॰ रामावतार शर्मा, डॉ॰ गणेशप्रसाद, शिरोमणि अनंतवायु शास्त्री, अक्षयवट मिश्र, कोकिलेश्वर भट्टाचार्य और पांडेय लोचनप्रसाद जैसे विशिष्ट लोग लिखते थे। देवनागर में प्रकाशित रिपोर्टों से पता चलता है कि अनेक अहिंदीभाषी विद्वान खुलकर देवनागरी तथा हिंदी का पक्ष-समर्थन करने लगे थे। सोचनेवाली बात है कि शारदाचरण मित्र ने देवनागरी तथा हिंदी के पक्ष में उस काल में किस तरह अन्य प्रांतों में भी एक अनुकूल वातावरण का निर्माण किया था।

'देवनागर' का परिवेश भारतव्यापी था। गोपालकृष्ण गोखले, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, मोतीलाल घोष जैसे मनीषियों ने भी 'देवनागर' के प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। बालमुकुंद गुप्त ने 'भारत मित्र' में लेख लिखकर 'देवनागर' के प्रयास की सराहना की थी और शारदाचरण मित्र के आंदोलन के औचित्य को प्रकाशित किया था। गुप्तजी ने 'जमाना' के अप्रैल-मई 1907 के अंक में भी देवनागरी के पक्ष में लंबा लेख लिखा था। शारदाचरण मित्र को विश्वास था कि पाँच वर्ष में न हो, दस वर्ष में न हो, किंतु किसी-न-किसी समय संपूर्ण भारतवर्ष में एक लिपि प्रचलित होगी ही और तब भारतीय भाषाएँ और साहित्य एक हो जाएँगी। शारदाचरण मित्र ने कहा था–'इस समय हमलोग अन्य प्रदेश के साहित्य में प्रायः निपट अनभिज्ञ हैं, इस समय कितने ही विद्वान बंगाली लोग तुलसीदास के भी प्रबंध नहीं पढ़ सकते। यह क्या सामान्य दुःख की बात है, महाकवि चंद के ग्रंथों की बड़े-बड़े काव्यों के साथ तुलना की जाती है, यह राजपूत लोगों का इलियड है किंतु कितने ही इसे जानते तक नहीं। इधर राजनीतिक विषय को लेकर समस्त भारतवर्ष को आलोड़ित करने की कामना तो हम करते हैं, किंतु आपस की भाषाओं को समझने के लिए कोई प्रधान उपाय करने के विषय में हमलोग कुछ भी चेष्टा नहीं करते।'[7]

'देवनागर' की दृष्टि व्यापक थी। उसकी व्यापकता का अंदाजा पत्र में चित्र-विचित्र शीर्षक से प्रकाशित टिप्पणियों को ही देखकर लगाया जा सकता है। शारदाचरण मित्र की दृष्टि केवल भारत पर नहीं थी, अपितु संपूर्ण पूर्वी एशिया पर थी। इस संदर्भ में देवनागर में प्रकाशित उनके लेख 'भारतवर्ष में बौद्धधर्म' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–वस्तुतः समस्त प्राचीन और मध्य एशिया में अभी एक ही धर्म प्रचलित है और उसे हिंदू अथवा भारतवर्ष का धर्म कहना चाहिए। बाहर से कुछ विभिन्नता दिखने पर भी मूल और अंतःप्रकृति सबकी एक है। बौद्धधर्म भारत का धर्मज्ञान है। बौद्धधर्म में आस्था प्रदर्शित कर हम प्राचीन और मध्य एशिया में भी एकता स्थापित कर सकेंगे। शारदाचरण मित्र 1904 से 1908 तक कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश रहे। देवनागरी

 ISSN 0975-735X

के भारतव्यापी प्रचार-प्रसार के लिए शारदाचरण मित्र इतने कटिबद्ध थे कि देवनागर वे लगातार घाटे में निकालते रहे और उस घाटे को अपने निजी कोष से भरते रहे।

रामानंद चट्टोपाध्याय और 'विशाल भारत'

बंगाल के जिन मनीषियों ने हिंदी की अप्रतिम सेवा की, उनमें एक प्रमुख नाम रामानंद चट्टोपाध्याय (1865-1943) का है। रामानंद बाबू ने घाटा सहकर भी हिंदी मासिक 'विशाल भारत' निकाला और उसके संपादकों को पूरी स्वतंत्रता दी। वैसे अँग्रेज़ी और बांग्ला की पत्रकारिता में भी उनका बड़ा अवदान है। रामानंद बाबू 1895 में जब कायस्थ पाठशाला इलाहाबाद में प्रिंसिपल बने तो उस कालेज से 'कायस्थ समाचार' नामक एक उर्दू पत्र प्रकाशित होता था। इसका संपादनभार रामानंद बाबू पर ही आया। उन्होंने उसका रूप ही बदल दिया, उर्दू के स्थान पर उसे अँग्रेजी का पत्र बना दिया तथा उसका उद्देश्य शिक्षा-प्रचार रखा। इलाहाबाद जाने से पहले रामानंद बाबू प्रथम श्रेणी में एम॰ए॰ करने के बाद 1887 में कलकत्ता के सिटी कॉलेज में प्राध्यापक बने थे। उसी दौरान वे केशवचंद्र सेन के संपर्क में आए और ब्रह्मसमाजी हो गए थे।

रामानंद बाबू ने 1901 में इंडियन प्रेस के चिंतामणि घोष के सहयोग से बांग्ला मासिक 'प्रवासी' निकाला। उसके कुछ समय बाद मतभेद के कारण उन्हें कायस्थ कालेज से इस्तीफा देकर कलकत्ता वापस आना पड़ा। बंग-भंग के समय चले आंदोलन से रामानंद बाबू खुद को अलग न रख सके। अत: 1907 में फिर इलाहाबाद आए और 'माडर्न रिव्यू' प्रकाशित करने लगे। 'मार्डन रिव्यू' की गिनती अँग्रेजी संसार के आधे दर्जन श्रेष्ठ पत्रों में की जाती थी। कई प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय लेखक 'माडर्न रिव्यू' में लेख लिखने में अपना गौरव मानते थे। रामानंद बाबू ने ही सबसे पहले रवींद्रनाथ टैगोर को अँग्रेज़ी जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया। रवि बाबू की सबसे पहली अँग्रेजी रचना 'माडर्न रिव्यू' में ही प्रकाशित हुई। अमेरिका के पादरी जे॰टी॰संडरलैंड की पुस्तक 'इंडिया इन बॉण्डेज' को उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' में धारावाहिक रूप में और बाद में 'प्रवासी' प्रेस से पुस्तक रूप में प्रकाशित की। यह पुस्तक जब्त कर ली गई और रामानंद बाबू को पुस्तक के प्रकाशन के लिए दंडित होना पड़ा। सर यदुनाथ सरकार और मेजर वामनदास बसु के ऐतिहासिक शोध विषयक लेख 'माडर्न रिव्यू' में छपे। 'माडर्न रिव्यू' के कुछ अंकों ने ही देश-विदेश में अपना प्रभाव फैला लिया। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर तथा उनकी आलाचनाओं से विचलित होकर तत्कालीन सरकार ने उन्हें तुरंत उत्तर प्रदेश छोड़ने का आदेश दिया। अत: वे पुन: कोलकाता वापस आ गए।

रामानंद बाबू के पत्रकार और गद्यलेखक रूप को देशव्यापी ख्याति मिली। उनकी शैली तेजयुक्त, प्रवाहपूर्ण और निर्लिप्त थी। रामानंद बाबू की तीन पुस्तकें—राजा राममोहन राय, 'आधुनिक भारत' तथा 'स्वशासन की ओर' भी बहुत चर्चित कृतियाँ रही हैं। रामानंद बाबू कुशल पत्रकार और लेखक ही नहीं, वरन् सच्चे समाजसुधारक भी थे। 1826 में राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) की बैठक में उपस्थित होने के लिए रामानंद बाबू आमंत्रित किए गए। उस बैठक में वे अपने ही खर्च से गए। सरकारी खर्च से यात्रा करना इसीलिए अस्वीकार कर दिया ताकि उनके स्पष्ट और निर्भीक विचारों पर किसी प्रकार भी आर्थिक दबाव की आँच न आने पाए। 1929 में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर जात-पाँत तोड़कर मंडल के अधिवेशन का सभापतित्व उन्होंने किया।

'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' के संपादक रामानंद बाबू हिंदी की व्यापकता से भली-भाँति वाकिफ थे। देश के ज्यादा से ज्यादा पाठकों तक अपने विचार पहुँचाने के लिए 1928 में उन्होंने हिंदी मासिक 'विशाल भारत' निकाला। बनारसीदास चतुर्वेदी उसके संस्थापक संपादक हुए। जनवरी 1928 में 'विशाल भारत' का प्रवेशांक निकला। 144 पृष्ठों का। साहित्य, समाज सुधार, राजनीति, इतिहास और अर्थशास्त्र पर पठनीय लेखों से सुसज्जित। प्रवेशांक में चतुर्वेदी जी ने पत्र के उद्देश्य के बारे में लिखा–'विशाल भारत' के संचालक श्री रामानंद चट्टोपाध्याय लगभग चालीस वर्षों से पत्र-संपादन का कार्य कर रहे हैं। हिंदी जनता को उनके 'माडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। जिन सिद्धांतों तथा विचारों का प्रचार आप अँग्रेजी तथा बांग्ला-पत्र द्वारा करते हैं, उन्हीं को अब आप राष्ट्रभाषा हिंदी द्वारा जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं। 'विशाल भारत' की आयोजना का एक मात्र उद्देश्य यही है।[8] बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन में 'विशाल भारत' जल्द की हिंदी का सर्वश्रेष्ठ मासिक बन गया। शुरू के तीन वर्षों में ही उसने साहित्यांक, प्रवासी अंक तथा कला अंक जैसे विशेषांक निकालकर अपनी धाक जमा ली।

कतिपय मामलों पर बनारसीदास चतुर्वेदी से रामानंद बाबू के मतभेद हुए, किंतु कभी भी रामानंद बाबू ने बनारसीदास जी की संपादकीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप नहीं किया। रामानंद बाबू जब सूरत में हिंदू महासभा के अध्यक्ष बने तो 'विशाल भारत' में उनकी कटु आलोचना छपी। रामानंद बाबू ने उसका उत्तर लिखकर दिया और उसे भी चतुर्वेदी जी ने छापा। 1937 में बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशाल भारत' का संपादन करने के लिए अज्ञेय कलकत्ता आ गए। अज्ञेय 'विशाल भारत' में डेढ़ वर्ष तक रहे पर उस अल्प अवधि में ही उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी।

अज्ञेय का भी रामानंद बाबू से विरोध हुआ। हिंदी के स्वाभिमान के सवाल पर। उस प्रसंग का विवरण खुद अज्ञेय ने 'कलकत्ते की याद' शीर्षक लेख में इस तरह दिया है–'प्रवासी तथा माडर्न रिव्यू में रामानंद चट्टोपाध्याय की कुछ टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें हिंदी के प्रति अवज्ञा का भाव था। इससे क्लेश तो बहुत से लोगों को हुआ, लेकिन बोला कोई नहीं क्योंकि रामानंद बाबू की और उनके द्वारा संपादित पत्रों की बहुत धाक थी। अपनी अनुभवहीनता में मुझे लगा कि उनके आरोपों का खंडन आवश्यक है और मैंने 'विशाल भारत' की संपादकीय टिप्पणियों में उनके तर्कों का उत्तर भी दे दिया। सप्ताह-भर बाद मुझे रामानंद बाबू का हाथ का लिखा पत्र मिला। उन्होंने मेरे तर्कों का जवाब तो दिया ही था, पत्र के अंत में उन्होंने दो बातें और लिखी थीं। एक तो उन्होंने मुझे याद दिलाया था कि वह स्वयं बंगाली होकर हिंदी का साहित्यिक पत्र निकाल रहे हैं और लगातार उस पर घाटा उठा रहे हैं। उन्होंने मुझसे पूछा था कि बहुत से हिंदीभाषी धनिक और सेठ भी तो हैं, क्या एक भी ऐसा हिंदीभाषी व्यक्ति है जो बांग्ला में पत्र निकाल रहा हो-उस पर घाटा उठाना तो दूर? दूसरे, उन्होंने मुझे स्मरण दिलाया था कि 'विशाल भारत' प्रवासी प्रेस से निकलता है, जिसके मालिक वे स्वयं हैं। क्या कोई दूसरा ऐसा मालिक भी होगा जो अपने संगठन के किसी कर्मचारी को यह अधिकार दे कि वह उसी के पत्र में उसी की आलोचना करे। पत्र के उत्तर में मैंने लिखा कि 'विशाल भारत' की टिप्पणी में जो कुछ लिखा गया है, उसे मैं ठीक मानता हूँ और उनके पत्र के बाद भी मुझे कुछ बदलने

 ISSN 0975-735X

की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। इस बात को मैंने स्वीकार किया कि हिंदी-पत्रकारिता में उन्होंने जो योगदान किया है, उसके तुल्य किसी हिंदीभाषी ने बांग्ला के लिए कुछ नहीं किया और यह भी मैंने स्वीकार किया कि 'विशाल भारत' के संपादक को उन्होंने जो स्वतंत्रता दी है, उसके लिए भी उनका सम्मान होना चाहिए। मैंने यह भी जोड़ दिया कि मेरे मन में श्रद्धा और भी अधिक होती अगर यह बात स्वयं उन्होंने मुझे न लिखी होती और दूसरे ही उसका उल्लेख करते।'[9] इस पत्र प्रकरण के बाद अज्ञेय लिखते हैं–'मैं अपने को उतना ही स्वाधीन मानता रहा, जितना पहले मानता था और जितना संपादक के नाते अपने को हमेशा रखता रहा हूँ।' संपादकीय स्वतंत्रता का जो सम्मान रामानंद बाबू करते थे, उसका यह एक उदाहरण है। 'विशाल भारत' ने जो श्रेष्ठता तथा ऊँचाई अर्जित की, उसके पीछे एक कारण यह भी था कि रामानंद बाबू संपादकीय स्वतंत्रता का पूरा सम्मान करते थे। उनकी इस भूमिका को कभी लघु करके नहीं देखा जा सकता।

चिंतामणि घोष और 'सरस्वती'

इंडियन प्रेस, प्रयाग के मालिक चिंतामणि घोष ने प्रथम सर्वश्रेष्ठ मासिक 'सरस्वती' द्वारा और हिंदी के अनेक ग्रंथों को छापकर हिंदी-साहित्य की जितनी सेवा की है, उतनी सेवा हिंदीभाषा भाषी किसी प्रकाशक ने शायद ही की होगी। चिंतामणि घोष ने 1884 में इंडियन प्रेस की स्थापना की और 1899 में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रस्ताव किया कि सभा एक सचित्र मासिक पत्रिका के संपादन का भार ले, जिसे वे प्रकाशित करेंगे। नागरी प्रचारिणी सभा ने इसका अनुमोदन तो कर दिया, किंतु संपादन का भार लेने में अपनी असमर्थता जताई। अंत में संपादन का भार एक समिति को सौंपने पर सहमति बनी। इस समिति में पाँच लोग थे। वे थे बाबू श्यामसुंदर दास, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकप्रसाद, बाबू जगन्नाथदास और किशोरीलाल गोस्वामी। और इस तरह 'सरस्वती' की योजना को अंतिम रूप मिला। जनवरी 1900 में इसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ। प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर पाँच चित्र थे-सबसे ऊपर वीणावादिनी सरस्वती का चित्र था। ऊपर बाईं ओर सूरदास और दाईं ओर तुलसीदास तथा नीचे बाईं ओर राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और बाबू हरिश्चंद्र के चित्र थे। पत्रिका के नाम के नीचे लिखा रहता था–काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित। पत्रिका के प्रकाशक चिंतामणि बाबू ने पत्रिका का नीति वक्तव्य इस तरह घोषित किया था, 'परम कारुणिक सर्वशक्तिमान जगदीश्वर की असीम अनुकंपा ही से ऐसा अनुपम अवसर आकर प्राप्त हुआ है कि आज हम लोग हिंदीभाषा के रसिक जनों की सेवा में नए उत्साह से उत्साहित हो एक नवीन उपहार लेकर उपस्थित हुए हैं जिसका नाम सरस्वती है। इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थ पूर्ति हो तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावभरित ग्रंथराजि को प्रसव करे।'[10]

'सरस्वती' के एक साल बीतते न बीतते यह स्पष्ट हो गया कि संपादक मंडल से काम नहीं चलेगा तो जनवरी 1901 से बाबू श्यामसुंदर दास उसके संपादक हो गए। 1902 के आखिर में बाबू श्यामसुंदर दास ने आगे से संपादन करने में असमर्थता जताई और उन्होंने सरस्वती प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष से नए संपादक के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सुझाया। चिंतामणि घोष द्विवेदी जी के महत्त्व से परिचित थे। उन्होंने द्विवेदीजी को आमंत्रित किया और द्विवेदी जी ने रेलवे की पौने दो सौ रुपए की स्थापित नौकरी छोड़कर इक्कीस रुपए मासिक के

वेतन पर 'सरस्वती' के संपादन का दायित्व स्वीकार किया। द्विवेदी जी जितने बड़े कवि, निबंधकार, समीक्षक और अनुवादक थे, उतने ही श्रेष्ठ संपादक भी सिद्ध हुए। इसीलिए उस युग को द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 1903 के जनवरी महीने में 'सरस्वती' का संपादक बनने के साथ ही उसे ज्ञान के सभी अनुशासनों का खुला मंच तो बनाया ही, यह भी सुनिश्चित किया कि प्रकाशन के पूर्व हर रचना की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शास्त्रसम्मत हो। उन्होंने भरसक कोशिश की कि पूरी पत्रिका एक ही वर्तनी में निकले।

द्विवेदीजी ने 1904 में जब नागरी प्रचारिणी सभा की खोज संबंधी रिपोर्ट की आलोचना की तो सभा ने पत्रिका के प्रकाशक चिंतामणि घोष को लिखा कि पत्रिका से सभा का अनुमोदन हटा लिया जाए। चिंतामणि घोष संपादक की स्वतंत्रता के इतने बड़े हिमायती थे कि उन्होंने द्विवेदी जी को कुछ कहने से ज्यादा बेहतर सभा से नाता तोड़ना समझा। 1905 में नागरी प्रचारिणी सभा के 12वें वार्षिक विवरण में पृष्ठ 38 पर इसका इस तरह उल्लेख किया गया है, 'मासिक पत्रों में अब सबसे श्रेष्ठ सरस्वती है। यद्यपि कई कारणों से अब इस पत्रिका के साथ इस सभा का कोई संबंध नहीं है। सभा को दु:ख है कि सरस्वती के प्रकाशक ने उसमें अपवादपूर्ण लेखों को रोकना उचित न जानकर नागरी प्रचारिणी सभा से अपना संबंध तोड़ना उचित समझा।'[11]

भाषा-परिमार्जन के साथ ही सर्जनात्मक साहित्य की हर विधा से लेकर साहित्य समालोचना के लिए द्विवेदीजी के संपादन में 'सरस्वती' ने युगांतकारी भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए सिर्फ कहानी विधा को लें तो रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' 1903 में द्विवेदीजी के संपादन में 'सरस्वती' में ही छपी। बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष) की कहानी 'कुंभ की छोटी बहू' 'सरस्वती' के सितंबर 1906 के अंक में छपी। 'सरस्वती' में 1909 में वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखी बंद भाई' और 1915 में प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' और 1916 में उन्हीं की बहुचर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर' छपी। 1915 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' में छपी। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' और 'गुलबहार' तथा भगवान दास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' पहले ही 'सरस्वती' में छप चुकी थीं। 'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियाँ और समालोचनाएँ महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे और उनकी समालोचना की साख इतनी थी कि जिस भी किताब की वे प्रशंसा कर देते थे, उसकी प्रतियाँ देखते-देखते बिक जाती थीं।

साहित्य की विधाओं–कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवनी, आलोचना के समांतर समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नागरिकशास्त्र, इतिहास और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी पत्रिका में महत्त्व दिया और इस तरह उसका फलक विस्तृत कर दिया। अनेक रचनाकारों को सबसे पहले द्विवेदी जी ने ही अवसर दिया और जिनकी कविता या कहानी या लेख 'सरस्वती' में छपते थे, वे भी चर्चा में आ जाते थे। 'सरस्वती' के रचनाकारों में श्यामसुंदर दास, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संत निहालसिंह, माधवराव सप्रे, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारीसिंह दिनकर जैसे साहित्यकार शामिल थे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दिसंबर 1920 में 'सरस्वती' से विदा ली। उनका अंतिम संपादकीय 'संपादक की विदाई' शीर्षक से जनवरी 1921 की 'सरस्वती' में छपा। उसमें द्विवेदी

 ISSN 0975-735X

जी ने लिखा, 'सरस्वती को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था, उस समय हिंदीभाषा और हिंदी-साहित्य की क्या दशा थी, यह बात लोगों से छिपी नहीं है। जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। 'सरस्वती' के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन-शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया। अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, उसका शतांश भी मुझमें नहीं।' इसी टिप्पणी में द्विवेजी जी ने चिंतामणि घोष के बारे में लिखा था, 'मैं सेवा का अर्थ अच्छी तरह जानता हूँ। अतएव मैं कह सकता हूँ कि मैंने सेवा-भाव से प्रेरित होकर सरस्वती का संपादन नहीं किया। हिंदी की सेवा मैंने तो नहीं, चिंतामणि घोष ने अवश्य की है। जन्मभूमि उनकी बंगदेश है और मातृभाषा बांग्ला। यदि उनमें उदारता की मात्रा इतनी अधिक न होती तो सरस्वती का विसर्जन कभी का हो गया होता।' 'सरस्वती' 1975 तक निकलती रही। दिसंबर 2013 में इलाहाबाद में चिंतामणि घोष की प्रतिमा लगाकर देश ने उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की। इलाहाबाद में घोष बाबू की प्रतिमा का अनावरण राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने किया।

इस तरह हम पाते हैं कि हिंदी-पत्रकारिता को आदिकाल से ही बांग्लाभाषी सींचते आ रहे हैं। निकट अतीत में 'माया' जैसी राष्ट्रीय पत्रिका इलाहाबाद के जिस मित्र प्रकाशन समूह से छपती थी, उसके कर्ता-धर्ता बांग्लाभाषी क्षितिंद्र मोहन मित्र ही थे। 'रविवार' जैसी पत्रिका आनंद बाजार पत्रिका समूह से ही निकली थी। 'संडे इंडियन' तथा 'राष्ट्रीय सहारा' निकालनेवाले भी मूलत: बांग्लाभाषी हैं। परितोष चक्रवर्ती और कल्लोल चक्रवर्ती से लेकर सुमन चट्टोपाध्याय तक दर्जनों बांग्लाभाषी हिंदी-पत्रकारिता को नई धार देने में जुटे हुए हैं।

संदर्भ

1. भारतीय पत्रकारिता : नींव के पत्थर, डॉ॰ मंगला अनुजा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ॰ 15
2. वही, पृ॰ 16
3. वही, पृ॰ 72
4. 1857, नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, सं॰ शंभुनाथ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 2008, पृ॰ 228
5. हिंदी साहित्य : बंगीय भूमिका, सं॰ डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र व रामव्यास पांडेय, मणिमय, कोलकाता, संस्करण 1983, पृ॰ 102
6. हिंदी-पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ीबोली साहित्य की निर्माण भूमि, कृष्णबिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण 2004, पृ॰ 321
7. हिंदी-पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ीबोली साहित्य की निर्माणभूमि, कृष्णबिहारी मिश्र, पृ॰ 331
8. पहला संपादकीय, विजयदत्त श्रीधर, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ॰ 70
9. हिंदी साहित्य : बंगीय भूमिका, सं॰ डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र व रामव्यास पांडेय, मणिमय, कोलकाता, संस्करण 1983, पृ॰ 397
10. भारतीय पत्रकारिता: नींव के पत्थर, डॉ॰ मंगला अनुजा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1996, पृ॰ 215-216

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के हिंदी-उपन्यासों में राजनेताओं का चारित्रिक विघटन

मीनाक्षी फोगाट

राजनीति मानव-जीवन में अपनी अहम भूमिका निभाने के कारण जीवन का अभिन्न अंग बनती जा रही है। राजनीति विभिन्न स्तरों पर समाज को तथा व्यक्ति के जीवन को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य करती है। राजनीति का समाज पर इतना गहरा प्रभाव रहता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व उससे प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता। मनुष्य चाहकर भी अपने युग की राजनीतिक धाराओं से विमुख नहीं रह सकता है।

इक्कीसवीं सदी की राजनीति और राजनेताओं का विचार आते ही मनुष्य को विचित्र उथल- पुथल से गुजरना पड़ता है, जो अंततः मानसिक दुविधा पर आकर समाप्त होती है। इक्कीसवीं सदी का प्रथम दशक राजनीतिक उथल-पुथल का दशक है, जिसमें राजनेता एक अखाड़े की भाँति एक-दूसरे को मात देने व स्वयं बाजी मारने की होड़ में लगे प्रतीत होते हैं। राजनेता बुद्धिजीवी वर्ग को इस राजनीतिक दंगल से दूर रहने की सलाह देते हैं ताकि वे अपनी राजनीति बिना किसी हस्तक्षेप के करते रहें। इस संदर्भ में रमेश कुंतल मेघ लिखते हैं, 'छात्रों, अध्यापकों तथा बुद्धिजीवियों को राजनीति से अलग रहने की सलाह सत्ताधारी पार्टी के नेताओं ने दी। इनका पालन करने वालों को कई तरह से प्रतिष्ठा, धन और शक्ति पुरस्कार भी मिले। अतः सत्ताधारी नेताओं की राजनीतिक विचारधारा को स्वीकार करके भी यह अराजनीतिक बना रह सका, शक्ति की राजनीति यानि पावर पॉलिटिक्स खेलने में माहिर होकर भी वह राजनीति यानि चुनाव-कार्यों से दूर रहा तथा सामाजिक पतन के प्रति आँखें मूँदकर भी वह आधुनिक बनने का झूठा आत्मसत्य पा गया, उसमें कोई भी रिस्क उठाने की हिम्मत न रही।'[1]

इक्कीसवीं सदी नई चेतना व नए-नए परिवर्तनों की सदी है, जहाँ व्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, चाहे इसके लिए व्यक्ति विभिन्न राजनीतिक खेलों का अंग बन गया हो। इस खेल के सबसे बड़े धुरंधर राजनेता दिखाई देते हैं, जिनका चरित्र इस सदी के प्रथम दशक में कुछ अलग से रूप में सामने आ गया है। राजनेताओं का जो व्यक्तित्व पिछले दशकों में प्रतिबिंबित हुआ, वह राजनेताओं के चरित्र के सभी रंग हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। दूसरे शब्दों में वर्तमान परिवेश व परिस्थितियों में राजनेताओं का चरित्र विघटन की कगार पर खड़ा है, जहाँ पहले राजनेता जनसेवा के लिए राजनीति करते थे, वहीं अब वे जनकल्याण के लिए नहीं बल्कि जनसंहार के लिए राजनीति कर रहे हैं। उनके व्यक्तित्व के नकारात्मक व स्वार्थपरक आचरण ने उनकी कथनी व करनी के अंतर को जनता के समक्ष प्रकट कर दिया है।

 ISSN 0975-735X

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के उपन्यासकार अपनी कृतियों में घटनाओं व पात्रों के माध्यम से राजनेताओं के चरित्र के विघटन को कई रूपों में सामने लाए हैं। राजनेता अपने पद की गरिमा का ध्यान न रखते हुए और पद का अनुचित लाभ उठाकर नारी का शोषण करते हैं, जिसे भगवानदास मोरवाल ने अपने उपन्यास 'रेत' में स्पष्ट किया है। एक घटना में मुरली बाबू जो एक बड़े राजनेता हैं, ज्योतिषी द्वारा समस्त गणनाओं के आधार पर अपना नामांकन भरने के लिए तत्पर होते हैं तो अपनी अश्लील तस्वीरें अपने सामने अखबार में देखकर बदहवास हो जाते हैं। ये तस्वीरें उनके चारित्रिक पतन का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। उन्हें सांत्वना देने के लिए सावित्री चमचागिरी करते हुए समझाती है। इस पर नेताजी कहते हैं, 'सही कह रही है तू सावित्री। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि धन की भरपाई हो सकती है, हत्या-मर्डर में भी आदमी बच सकता है, किंतु चरित्र एक ऐसी चीज है कि अगर वह है तो सब-कुछ है। वह नहीं है तो कुछ नहीं।'[2] नारी-शोषण के चरित्र विघटन के इसी रूप को मेहरुन्निसा परवेज के उपन्यास 'अकेला पलाश' में राजनेताओं के चरित्र के गिरते स्तर पर कटाक्ष करते हुए नायिका अपनी भाभी को स्वयं के अनुभवों के आधार पर समझाती है। नेता नौकरी का झाँसा देकर नारी का शारीरिक शोषण करते हैं, जिसका शिकार 'अकेला पलाश' की नायिका भी होती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास लेखिका ने नायिका के माध्यम से इस प्रकार किया है, 'यह दुनिया बहुत बुरी है तरू, औरत की मजबूरी का सौदा करना खूब अच्छे से जानती है और इन नेताओं की नीयत को तो समझना असंभव-सा होता है। इसमें कोई शक नहीं कि तुम्हें नौकरी की आवश्यकता है, क्योंकि तुम्हारे साथ दो बच्चे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि तुम किसी के अहसान तले इतना दब जाओ कि फिर उठ ही न पाओ। तुम इन नेता लोगों को नहीं जानती हो। मैं जानती हूँ। बस इससे आगे कुछ नहीं कहूँगी। अपना निर्णय खुद ले लो।'[3]

वर्तमान राजनेता स्वार्थ व स्वयं को सबसे श्रेष्ठ सिद्ध करने की होड़ में लगे रहते हैं। ये अपने कारनामों की डींगें हाँकते हैं, जिनका कोई आधार ही नहीं होता है। उनकी वास्तविकता जब जनता के सामने आती है तो उनका दोहरा चरित्र उन्हें जनता के सामने नंगा कर देता है। स्वयं को सही सिद्ध करने का एक भी मौका ये राजनेता नहीं छोड़ते हैं। इसी कड़ी में असगर वजाहत अपने उपन्यास 'कैसी आगी लगाई' में राजा साहब के माध्यम से बताते हैं कि जब वेस्टर्न यू॰पी॰ में कम्युनल रॉयट्स बार-बार भड़क जाते हैं तो राजा साहब दूसरी पार्टी के नेताओं पर आरोप लगाते हैं। राजा साहब के शब्दों में, 'एडमिनिस्ट्रेशन की सबसे छोटी लेकिन बुनियादी शर्त है कि लॉ और आर्डर मेनटेन रहे। ये इडियट्स इतना तक नहीं कर पाते। क्या हक है उन्हें गद्दियों से चिपके रहने का।'[4] मुल्क की सत्ता और सियासत पर अपना अधिकार जमाए हुए नेताओं के चारित्रिक विघटन का सटीक प्रसंग महीपसिंह जी ने अपने उपन्यास 'अभी शेष है' में अपने समय की शक्तिशाली राजनेत्री पर कटाक्ष करते हुए लिखा है, 'लोकतंत्र का तकाजा यह है कि अगर अदालत ने इंदिरा जी के खिलाफ फैसला दिया तो बड़ी अदालत का फैसला आने तक प्रधानमंत्री पद से इस्तीफा दें और किसी सीनियर मिनिस्टर को प्रधानमंत्री की जिम्मेदारी सौंप दें। लेकिन इंदिरा जी ने यह करने की बजाय अपनी कोठी पर भीड़ इकट्ठी करनी शुरू कर दी। उनका बेटा घूम-घूमकर अपनी माँ की गद्दी बचाने के लिए भाड़े पर लाए गए लोगों की भीड़ जमा कर रहा है। हरियाणा के चीफ मिनिस्टर को अपनी वफादारी दिखाने का पूरा मौका मिल गया है। वह

ट्रकों में भर-भरकर लोगों को दिल्ली भेज रहे हैं। वाह री जम्हूरियत, वाह रे लोकतंत्र।'[5]

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के रचनाकारों ने वर्तमान सत्तालोलुप नेताओं का जो दोहरा चरित्र है, उसे जनता के सामने लाकर रख दिया है। राजनेताओं के निहित स्वार्थों को उपन्यासकारों ने यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिए विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। राजेंद्र त्यागी जी ने 'महाभारत का अभियुक्त' में राष्ट्र एवं प्रजा के प्रति राजा के धर्मविहीन होकर राजकीय व्यवस्था का उपयोग स्वहित में करने को निष्ठाहीन बताया है। महाभारत की कहानी को आधार लेकर लिखे इस उपन्यास में एक राजा अर्थात धृतराष्ट्र की सत्ता पर बने रहने व पुत्रमोह की पुष्टि सत्ता द्वारा करने का प्रयास करता है। इस प्रकार के संदर्भ आज की राजनीति में भी विद्यमान हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए राजेंद्र त्यागी लिखते हैं, 'मोह के वशीभूत राजा कर्तव्य-अकर्तव्य के मध्य अंतर न कर प्रजा को कष्ट देता है तो शीघ्र ही राज्य से भ्रष्ट होकर अपने कुलसहित नष्ट हो जाता है। ऐसे राजा का बहिष्कार करना ही राज्यहित में है। अन्यथा न राजा बचेगा और न राजा। कभी-कभी यदि प्रतिज्ञा और स्वप्रतिष्ठा से उपर राज्यहित में चिह्नित किया होता तो धरा रक्तरंजित नहीं होती, क्यों होता विनाश, किंतु राजा के इस चारित्रिक पतन ने ही ऐसा भयंकर परिणाम दिया।'[6] उसी धृतराष्ट्र की अंधी राजनीति पर कटाक्ष करते हुए राजेंद्र त्यागी विदुर के शब्दों में लिखते हैं, 'सर्वहित में राजा को अपने प्रिय विषयों का नि:संदेह त्याग कर देना चाहिए। महाराज, नीति तो यही कहती है। राजा को केवल राज्य व प्रजा के प्रति ही मोह होना चाहिए। प्रजाहित में शेष सभी मोह त्याग देने चाहिए।'[7]

राजनेता जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करते हैं और जनता को भ्रमित करके अपने झूठे वादों के प्रपंचों में फँसा लेते हैं। राजनेता दिखावा करके जनता को इस प्रकार बहला लेते हैं, जैसे वे सारे कार्य जनहित में कर रहे हैं, परंतु वास्तविकता में वे स्वहित को सर्वोपरि रखते है। उपन्यासकार दूधनाथसिंह ने 'आखिरी कलाम' में नेताओं के इस भ्रमित करने वाले अभिनय और दोहरे चरित्र की भूमिका को स्पष्ट करते हुए व जनता को सावधान करते हुए लिखते हैं, 'जिन नेताओं के लिए तुम दौड़ रहे हो न, वे सिर्फ तुम्हारा इस्तेमाल करते हैं, यकीन नहीं करते। समाज को बदलने का स्वप्न व्यर्थ है। तुम सिर्फ इस्तेमाल की राजनीति का शिकार हो, वे तुम्हें लतर की तरह कूड़े के ढेर में फेंक देंगे।'[8] जनता को स्वार्थ-पूर्ति के लिए माध्यम बनाना और मनमाने तरीके से प्रयोग करना आज के नेता ही नहीं करते, बल्कि राजा भी पुराने समय से करते आ रहे हैं। महाभारतकालीन पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास 'महाभारत का अभियुक्त' में राजेंद्र त्यागी आज भी उसे प्रासंगिक बताते हुए कहते हैं कि उस युग में भी एक राजा ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर भोली-भाली जनता को ठगा था और इतना बड़ा नरसंहार हुआ, जिसकी कल्पना करके ही मन सिहर जाता है। स्वार्थ ने राजनेताओं की सोच को पंगु बना दिया है। उस समय की सारी नीतियाँ धृतराष्ट्र की सतालोलुप अंधी आँखों के आगे बौनी होकर रह गईं। राजेंद्र त्यागी के अनुसार उस वक्त की राजनीति में समावेश झूठ, छल, कपट, धोखाधड़ी आदि दुष्ट प्रवृत्तियों की गुलाम विचारधारा आज भी पूरी तरह से राजनेताओं के चरित्र की शोभा बढ़ा रही है। इसी उपन्यास में संत सुदीर्घ महाभारत के युद्ध में मारे गए योद्धाओं के समीप खड़े होकर कुछ समय तक निश्छल से खड़े हो जाते हैं। फिर बोलना आरंभ करते हैं, 'एक व्यक्ति, हाँ एक ही व्यक्ति के निहित स्वार्थों के कारण लिए फैसलों से संपूर्ण राज्य नष्ट हो जाता है। प्रजा लहूलुहान हो जाती है। पराजित हो जाती है। विजयी कहलाता है केवल एक व्यक्ति,

 ISSN 0975-735X

जिसे सम्राट कहते हैं। जय हो अथवा पराजय, वही सत्ता का सुख भोग करता है, जिसे वह विवेकहीनता से नैतिक मान बैठता है, जो वास्तव में अनैतिकता ही होती है।'[9]

राजनेता व राजनीतिक दल स्वयं को सही, उचित ठहराने के लिए सामने वाली पार्टी पर आरोप पर आरोप लगाते हैं और प्रमाणों के माध्यम से उन्हें प्रमाणित करने का भी प्रयास करते हैं। अपने राजनीतिक लाभ के लिए सभी दल और नेताओं का अप्रत्यक्ष रूप में एक ही एजेंडा है। किसी प्रकार से अपने अस्तित्व एवं वजूद की जड़ों को मजबूती से जमीन से जोड़े रखना जो किसी के उखाड़ने से भी न उखड़े। वे राजनीति के मंच पर ही अपने को सशक्त अभिनेता के रूप में प्रस्तुत करने के लिए सदैव इच्छुक रहते हैं। इसलिए उनकी सोच में यही रहता है कि राष्ट्र जाए भाड़ में अथवा राजनीति की कीचड़ किसी पर भी किसी रूप में गिरे, परंतु उनका दामन दूध-सा धुला दिखना चाहिए। स्वयं को अच्छा व सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने की उत्सुकता में ये स्वयं को चारित्रिक हनन की कगार पर ले आते हैं। उनकी इसी सोच को दूधनाथ जी अपने उपन्यास 'आखिरी कलाम' में जनता के समक्ष लाते हैं। उनका मानना है कि राजनेता शतरंज की चाल की तरह राष्ट्रीयता के अभाव वाली गंदी व घटिया राजनीति करते हैं। वह लिखते हैं, 'नेता पुलिसमैन, फौज व कानून के महात्मा सभी अपने-अपने नशे में है। सभी पर यह जोगिया रंग चढ़ा हुआ है। बाकी सब नाट्य है नाट्य। राजनीतिक पार्टियों को तुम्हारे वर्गयुक्त मानस की जनता की परवाह नहीं। यह राजनेताओं का आपस में लेन-देन है। सारा बाकी सब फटकन है। कितनी उठापटक होती है, परंतु अंदर से सभी नेतागण एक होते हैं।'[10]

आजादी की लड़ाई के वक्त भी कुछ नेताओं का यही दृष्टिकोण उभरा है, जो अमरकांत अपने उपन्यास 'इन्हीं हथियारों से' में प्रस्तुत करते हैं। नेता तुच्छ, व्यर्थ विचारधारा का समर्थन करते हैं और देशहित को ताक पर रखकर अपने मतलब के लिए भगवान की झूठी कसम खाने में भी नहीं हिचकिचाते, जिसे लेखक ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–'तुम्हारी बुद्धि कितनी छोटी संकीर्ण है, इस सवाल से स्पष्ट है। इसलिए छोटी-छोटी नगण्य बातों की ओर जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि चूँकि मैं भगवान को नहीं मानता हूँ, इसलिए मैं बुरा इंसान हूँ। यही कहना चाहतो हो न? खैर तुमको बताना मेरा फर्ज है कि मेरा विचार क्या है। मैं सोचता हूँ कि आज जब आजादी मिलने जा रही है तो छोटी पार्टियों, दलबंदियों की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है। महत्त्व है आज देश का, उसकी एकता का, देश की मजबूती का। इसलिए सभी पार्टियों को आजाद सरकार को मजबूत करना चाहिए। आजादी मिलने के साथ हर व्यक्ति स्वतंत्र, राष्ट्रवादी और देशभक्त होगा। इसलिए सभी को आजाद सरकार को अपना समर्थन देकर आजादी की मजबूती के लिए काम करना चाहिए। जहाँ तक समाजवाद का सवाल है तो वह भी सुन लो कि मैं समाजवादी था, समाजवादी हूँ, समाजवादी रहूँगा।'[11] राजनेता स्वयं की साख बचाने के लिए अपराधियों को भी आश्रय दे देते हैं और बाद में वही अपराधी नेताओं की कुर्सी के लिए खतरा बन जाते हैं और उन्हें अपने साथ रखना नेताओं के लिए अनिवार्य हो जाता है। वीरेंद्र जैन की कृति 'गैल और मन' में जब राजनेता एक गिरोह के सरदार को पकड़वाना चाहता है तो वह उन्हीं की जुबान में उन्हें समझा देता है, 'वकील, डॉक्टर, कोर्ट-कचहरी, सभी जगह भत्ता बाँधा हुआ है और विधायक मंत्री के इशारे पर ही तो हमारे हौसले बुलंद करते हैं।'[12]

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के राजनेताओं के चरित्र पर पुराने नेताओं की भी छाप

है। पहले से लेकर वर्तमान सदी तक राजनेताओं के चरित्र का जितना पतन हुआ है, उतना शायद किसी और का नहीं। इंदिरा गांधी ने अपनी सत्ता अपने हाथ से फिसलती देख देश पर इमरजैंसी थोप दी। उनके शासनकाल की यह घटना कहें या दुर्घटना, जिसने राजनीतिक मूल्यों के विघटन की एक मिसाल भारत के इतिहास में दर्ज करा दी, जो काले अक्षरों के बदनुमा दाग बनकर आने वाली पीढ़ियों के हृदय को छलनी करती रहेगी। इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक को यदि राजनीतिक मूल्यों एवं राजनेताओं के चारित्रिक अवमूल्यन की चरमसीमा कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। अपनी इस इमरजैंसी लगाने की इस कायराना कार्यवाही को उचित ठहराने के लिए अनेकानेक दलीलें इसके पक्ष में देकर राजनीति को कलुषित किया, जिसको सशक्त उपन्यासकार महीपसिंह ने अपने उपन्यास 'बीच की धूप' में बखूबी अभिव्यक्त किया है। अन्य नेता भी उनकी इसी अनैतिकतापूर्ण राजनीति को सही ठहराते हुए कहते हैं, 'इमरजैंसी ने सबको सीधा कर दिया है। आम जनता इस व्यवस्था से खुश है। सरकारी दफ्तरों से रिश्वतखोरी पंख लगाकर उड़ गई है। बाबू लोगों की शक्ल ग्यारह-साढ़े ग्यारह से पहले दिखाई नहीं देती थी। अब हर आदमी साढ़े नौ से पहले अपनी सीट पर बैठा काम करता दिखाई देता है। ऐसी हालत में अकालियों का बिना सोचे-समझे मैडम का विरोध करना सरकार की समझ में नहीं आता।'[13]

इस सदी के प्रथम दशक में राजनेताओं के चारित्रिक विघटन का एक अन्य रूप भी सामने आता है, जिसे हम अर्थ की राजनीति अर्थात् धन कमाने की राजनीति कहे तो उचित होगा। 'जीरो रोड' उपन्यास में नासिरा शर्मा ने एक नेता की इसी मंसा को सामने लाने का प्रयास किया है। जब नेता कहता है, 'ये मामला केवल धर्म व जाति का नहीं, बल्कि जेबें गर्म करने का है। अब तुम्हीं बताओ, जिसने जीवन-भर मिठाई न बनाई हो, न बेची हो, वह बिना कुछ दिए हलवाई बन रहा है।'[14] राजनीति के अन्यायसंगत स्वरूप में माया का सर्वत्र पसारा हो गया है, जो आज के दौर में सर्वभौम हो गया है। सत्ता के कर्णधार सबको अपने इशारों पर नचा रहे हैं और परेशान कर रहे हैं। असगर वजाहत ने 'कैसी आगी लगाई' में उनकी इसी मनोवृति को कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'अरे भइया, लड़ना-झगड़ना, मारपीट, दंगे-फसाद किसे पसंद है? न हिंदू को, न मुसलमान को। ये तो नेताओं का खेल है, जब चाहे जहाँ फसाद करा दें।'[15] राजनेता अपने विरोधियों को नीचा दिखाने के लिए नए-नए तरीके अपनाते हैं और लोगों पर उनको आजमाते हैं, इस कोशिश में वे कुछ भी कर गुजरने को तत्पर रहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि भगवानदास मोरवाल ने अपने उपन्यास 'रेत' के माध्यम से सावित्री के शब्दों में की है, जो मुरली बाबू को समझाते हुए कहती है, 'मुझे क्या पता था भाई साहब कि आपके विरोधी यहाँ तक गिर सकते हैं। राजनीति में सब संभव है। इसलिए अपनी छाया पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, राजनीति में। एक मैं हूँ, जिसे जो मिला उस पर भरोसा कर लिया।'[16]

राजनेताओं के चरित्र का स्तर इतना नीचे गिर चुका है कि वे जनता की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील न होकर उसे रोकने के लिए राजनीतिक दाँव-पेंच लगाते रहते है। नासिरा शर्मा द्वारा रचित उपन्यास 'कुइयाँ जान' में उठाई गई पानी की समस्या पर जब नेताओं ने आँख खोली व नींद तोड़ी तो यह उनके लिए राजनीतिक मुद्दा बन गया। जल तो मानव की मूलभूत आवश्यकता है, जिसका लोकहित में वितरण करना राजनेताओं का परम व प्रथम कर्त्तव्य है, परंतु वे इस पर भी अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेकने से बाज नहीं आते

हैं। उनकी इस भावना को नासिरा जी ने कुछ ऐसे भावों के साथ प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़कर राजनेताओं के चरित्र का यह पक्ष भी सामने आ जाता है। वे लिखती हैं, 'उन राजनेताओं का क्या होगा, जो पानी देने से इंकार कर रहे हैं। आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री गोदावरी का पानी देने से इनकार कर रहे हैं। उड़ीसा की महानदी का पानी आंध्र प्रदेश भेजा गया है। उड़ीसा की सरकार कहती है कि महानदी में हमारे अपने राज्य की जरूरतों से ज्यादा पानी नहीं है, जो हम बाहर दे सकें।'[17]

नि:संदेह, इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के उपन्यासों में उपन्यासकारों ने अपने अनुभवों एवं जीवन के साक्षात्कारों के माध्यम से स्वतंत्रता से पहले तथा बाद की राजनीति के प्रभावों का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने चाहे विभिन्न विचार रखे हों, किंतु राजनीतिक गतिविधियों के प्रभाव को बहुत ही सफलता के साथ चित्रित करके उनका सैद्धांतिक व व्यावहारिक विवेचन किया है, जिसमें राजनेताओं के अपने चरित्र का हनन करते या करवाते हुए ही प्रस्तुत किया है। आज के इस युग में चाहे हम राजनेताओं को कितना ही सही प्रमाणित करने की कोशिश कर लें, किंतु उनके विघटित चरित्र की परतें धीरे-धीरे खुलकर सामने आ जाती हैं। जागरूक साहित्यकारों ने राजनेताओं को आचरण एवं व्यवहार में अपनी स्वार्थसिद्धि को मुख्य मानकर स्वयं को समाज के सर्वोच्च शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में पेश करने का प्रयास किया है, जो आज के जीवन की वास्तविकता है। राजनेताओं के चरित्र का यह पतन देशहित के लिए सबसे बड़ा संकट है।

संदर्भ

1. डॉ॰ रमेश कुंतल मेघ, आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, पृ॰ 157-158
2. भगवानदास मोरवाल, रेत, पृ॰ 281
3. मेहरुन्निसा परवेज, अकेला पलाश, पृ॰ 215
4. असगर वजाहत, कैसी आगी लगाई, पृ॰ 22
5. महीपसिंह, अभी शेष है, पृ॰ 198
6. राजेंद्र त्यागी, महाभारत का अभियुक्त, पृ॰ 22
7. वही, पृ॰ 20
8. दूधनाथसिंह, आखिरी कलाम, पृ॰ 124
9. राजेंद्र त्यागी, महाभारत का अभियुक्त, पृ॰ 32
10. दूधनाथसिंह, आखिरी कलाम, पृ॰ 150
11. अमरकांत, इन्हीं हथियारों से, पृ॰ 254
12. वीरेंद्र जैन, गैल और मन, पृ॰ 103
13. महीपसिंह, अभी शेष है, पृ॰ 22
14. नासिरा शर्मा, जीरो रोड, पृ॰ 73
15. असगर वजाहत, कैसी आगी लगाई, पृ॰ 114
16. भगवानदास मोरवाल, रेत, पृ॰ 281
17. नासिरा शर्मा, कुइयाँ जान, पृ॰ 406

द्वारा डॉ॰ संदीप फोगाट
फ्लेट नं॰ 473, **सेकिंड फ्लोर, ओमेक्स क्लब के उत्तर में**
ओमेक्स हैपी होम्स, ओमेक्स सिटी, सेक्टर 26
दिल्ली रोड, रोहतक (हरियाणा)

उत्तर-आधुनिक हिंदी-कहानी में भोगवादी संस्कृति

डॉ॰ ओमप्रकाश सैनी
एसोसिएट प्रोफेसर आर॰के॰एस॰डी॰ कॉलेज,
कैथल (हरियाणा)

आज हम जिस समाज में जी रहे वह एक बड़े संस्कारिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। तकनीक और भूमंडलीय पूँजीवाद ने हमारी सांस्कृतिक सीमाओं में जबरदस्त घुसपैठ कर दी है। सांस्कृतिक संक्रमण के उस भयावह दौर में भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने हमारे जीवन-मूल्यों तथा जीवानदर्शों को अत्यधिक प्रभावित किया है। यूँ कहें कि भारतीय समाज परिवर्तन के जिस दौर से गुजर रहा है, उससे भारतीय सांस्कृतिक संवेदना में नवसाम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव-दबाव से जो भीतरी परिवर्तन आए हैं, वे पूरे भारतीय मानस में प्रदूषण फैला रहे हैं। पश्चिमी समाजशास्त्री और पत्रकार आल्विन टाफलर ने 'पावर शिफ्ट' और 'फ्यूचर शाक' नामक पुस्तकों में संसार के भविष्य का जो भयावह 'बिंब' दिया है, वह भारतीय अस्मिता से कहीं मेल नहीं खाता। वस्तुतः यूरोप का खंडित मनुष्य, खंडित इतिहासबोध, विकृत इंद्रियवादी आधारों पर टिका दर्शन भारतीय चिंतन-परंपरा की अखंड आत्म-अनुगूँज को सुन नहीं सका। नवसाम्राज्यवाद ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की ओट में भारतीय संस्कृति के वे सेतु तोड़ दिए, जो मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक अनुभवों की ऊँचाइयों से जोड़ते थे। 'विश्वगाँव', 'विश्वव्यापार' तथा 'विश्वमानव' की पूरी अवधारणा में 'मनुष्य' और 'मनुष्यता' के लिए कहीं जगह नहीं बची। हमारे नैतिक आदर्श और महान संस्कृति का दिवाला पिट गया। अनुमान ही नहीं था कि परिवर्तन की आँधी में सब-कुछ मिट जाएगा। यहाँ तक कि रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद, गांधी और तिलक भी पीछे छूट जाएँगे। शेष बचेगी दिशाहीनता और उपभोक्तावादी वृद्धि। सभी कलाएँ ध्वस्त हो जाएँगी और लघु-उद्योग धंधे दम तोड़ देंगे। विराट मशीनीकरण से अंधाधुंध उत्पादन और खपत का 'बाजारवाद' काबिज हो जाएगा। एक भरे-पूरे नए बाजार को देखने के बाद हम पाएँगे कि इस वातावरण में एक 'मृगतृष्णा' का साम्राज्य है, वही मायामृग साहित्य को निरंतर गुमराह कर रहा है।

वेश्यावृत्ति से अभिप्राय देह व्यापार से है। जब कोई युवती ग्राहकों की यौन-संतुष्टि के लिए अपने शरीर को बेचती है, वह देह-व्यापार या वेश्यावृत्ति कहलाता है। शरीर स्वेच्छा से नहीं बेचा जाता, अपितु उसके पीछे अनेक कारण हैं, जिनमें भूख, गरीब, अशिक्षा अथवा कोई मजबूरी हो सकती है, किंतु इन सबके पीछे मुख्य कारक पुरुष की काम-पिपासा या संकीर्ण मानसिकता ही होती है, जो भोली-भाली युवतियों को अपने प्रेमजाल में फँसाकर जबरन वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर करता है। अमरीकसिंह दीप की कहानी 'कसाई' की युवा बहनें अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अपना शरीर बेचने को विवश है। अपने सामने बैठी अल्हड़ जवान लड़की से

 ISSN 0975-735X

नायक प्रश्न करता है–'अपने मन से आई हो?' युवती उत्तर देती है–'कुँवारी लड़कियाँ क्या अपने मन से आती हैं ऐसे होटलों में? सुनना चाहते हो क्यों आई हूँ मैं, तो सुनो, आज दोपहर हमारे पापा को लोगों ने चोरी के इल्जाम में पकड़ लिया था। हरामजादों ने हमारे पापा को इतनी बेरहमी से पीटा कि उनका पूरा शरीर लहूलुहान हो गया। मुँह से खून गिरने लगा। गंभीर रूप से घायल पापा को मोहल्ले वालों ने नर्सिंग होम में भर्ती करा दिया। उनके इलाज के लिए ढेरों रुपए चाहिए। भला हो मोहल्ले की इस होटल में सप्लाई करने वाली कस्साबिन का, जो हम दोनों बहनों को यहाँ ले आई।'[1] युवती का उत्तर हमारे समाज के छद्म को उद्घाटित करता है।

वेश्यावृत्ति कोई नई समस्या नहीं है। प्राचीन राजसी घरानों में वेश्याओं के होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अपनी विलासप्रियता के कारण अनेक राजसी-घराने और परिवार तबाह हो गए। अरविंदकुमार सिंह की कहानी 'विषपाठ' राजसी खानदानों की जिंदगी का यथार्थपरक चित्रण करती है। 'जुलाहाताल से बाईस किलोमीटर दूर चाँदा एक कस्बा है। यहाँ की वेश्याओं के बारे में कहा जाता है कि वे जाति की जोंक है। जिस देह से चिपकती हैं, बस चूस लेती हैं। लखनऊ के नवाबों की बरबादी के कारणों में वेश्याएँ भी थीं। लखनवी रासलीला की एक भागी हुई उपेक्षित कली बहुत समय पहले चाँदा आई थी। उसी की औलादें एक गली में आबाद हो गईं।'[2] ऐसा नहीं है कि केवल गरीब तबके की स्त्रियाँ इस घिनौनें कृत्य को स्वीकार करती हैं। कई बार संपन्न घरानों की शिक्षित युवतियाँ भी वेश्यावृत्ति का शिकार हो जाती है। ऐसी स्त्रियाँ अपने नजदीकी व्यक्ति के झाँसें में आकर इस दल-दल में उतर जाती हैं। 'अनाम रिश्ता' कहानी का पति पदोन्नति के लालच में स्वयं अपनी पत्नी को बॉस को सौंप देता है। वह पत्नी से कहता है–'सुनयना! सोसायटी में सब-कुछ चलता है। तुम तो पंद्रहवीं सदी की बात कर रही हो। अरे, अच्छी चीज को भोगने का सभी का मन करता है। फिर कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है। बॉस ने मुझे इतनी ऊँची पोस्ट दे दी है और तुम्हें क्या चाहिए।'[3] बेबस सुंदर सुनयना का जीवन अभिशप्त हो गया था। स्त्रियाँ उसे देखकर कहने लगतीं, 'यह तो वेश्या से भी गई-गुजरी स्त्री है। पति इसका दलाल बनकर लोगों को लूट रहा है।'[4] शिवमूर्ति ने 'केसर कस्तूरी' में इस सामाजिक समस्या को बखूबी उकेरा है। शनीचरी की 'बेटी' का भी सामूहिक विवाह हुआ था, जो कोठे पर पहुँचा दी जाती है।'[5]

वर्तमान नवउपभोक्तावादी संस्कृति की बाजारवादी व्यवस्था में नारी बिकने को तैयार है। वह आत्म-संतुष्टि और अपनी दैहिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी इस व्यवसाय में उतरने लगी है। अंजु दुआ जैमिनी की कहानी 'बताना जरूरी है क्या' की नायिका इतनी बोल्ड है कि उसे यह स्वीकारने में तनिक भी संकोच नहीं है कि वह एक कॉलगर्ल है।

उपभोक्तावादी उत्तर आधुनिकयुग में नारी न तो गरीबी या भूख के कारण इस धंधे में आ रही है, न ही किसी विवशता के कारण। वह केवल मौज-मस्ती या शौक के लिए इस कुत्सित एवं घिनौने कार्य को अपना रही है। नायिका स्वयं स्वीकारती है कि 'एक विजिट का पाँच हजार लेती हूँ। मेरे कस्टमर ज्यादातर विदेशी होते हैं या बड़ी कंपनियों के एग्जीक्यूटिव।'[6] 'आप मुझे पूरे दिन के लिए बुक क्यों नहीं कर लेते? पाँच हजार दीजिए और पूरे दिन-भर जो पूछना है, पूछिए और जो करना है कीजिए।'[7] कॉलगर्ल बनी इन लड़कियों की असली जिंदगी के बारे में अमितकुमार सिंह बताते हैं कि 'फर्राटेदार अँग्रेजी बोलने वाली ये लड़कियाँ संपन्न परिवारों की

होती हैं। अधिक पैसा कमाने या अपनी ख्वाहिशें पूरा करने के लिए ये कॉलगर्ल बन जाती हैं।'[8] आचार्य भालचंद्र वेश्याजीवन के सच को उघाड़ते हुए कहते हैं, 'कॉलगर्ल वेश्यावृत्ति का ही एक परिष्कृत रूप है। ये कॉलगर्ल आमतौर पर मध्यमवर्ग की अधिकांश पढ़ी-लिखी लड़कियाँ हैं।'[9]

समग्रत: कहा जा सकता है कि उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में मॉडलिंग या सौंदर्य प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाली युवतियाँ जिस कदर नग्न प्रदर्शन करती हैं या अपने उत्तेजक अंगों का जलवा बिखेरकर युवामनों को रोमांचित करती हैं, फिर भले ही वह उसे (शरीर) बेचकर या समर्पित करके धनोपार्जन करें, इसमें कुछ भी बुरा नहीं है क्यों, यह समय की डिमांड है। स्त्रियों की अपनी स्वतंत्रता भी है। वे चाहें तो अपनी देह के उपयोग का अधिकार औरों को दे सकती हैं।

इक्कीसवीं सदी में बढ़ता लिंगानुपात एक बड़ी चुनौती बनकर उभरा है, जिसका प्रमुख कारण कन्या भ्रूणहत्या है। प्राय: वैज्ञानिक तकनीक यानी भ्रूणजाँच के अवैधानिक तरीके (अल्ट्रासांउड) को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। भारत जैसे देश में लिंग जाँच के पश्चात् गर्भपात करवाना सामान्य-सी बात हो गई है, जिस कारण आए-दिन असंख्य माताएँ अकालमृत्यु के आगोश में समा जाती हैं। लेखिका शमीम शर्मा निरंतर घट रही लड़कियों की संख्या को लेकर चिंतित हैं–'मैं सोचती हूँ कि दो हजार लड़कियाँ तो बैठी हैं, पर प्रति हजार डेढ़ सौ लड़कियाँ कम होती जा रही हैं। वे कहाँ गईं? मुझे इन डेढ़ सौ अजन्मी लड़कियों की शक्ल दिखनी शुरू हो जाती है। धीरे-धीरे मुझे मुट्ठी बाँधे माँ के गर्भ में तैरती, सपने देखती हुई बाहर आने को आतुर इन बेटियों की प्यारी-प्यारी आकृतियाँ दिखती हैं और धुँधली पड़ने लगती हैं।'[10] इक्कीसवीं सदी की हिंदी-कहानी पाठकीय विवेक को जाग्रत करने के लिए कन्या भ्रूणहत्या जैसी निकृष्ट कुरीति पर तीक्ष्ण प्रहार करती है। इस कड़ी में मो॰ आरिफ की 'फूलों का बाड़ा', दिव्या माथुर की 'फिक्र', शमीम शर्मा की 'जल्लाद की जमात', शकुंतला ब्रजमोहन की 'जैसी करनी वैसी भरनी' विशेष उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। ज्ञानीदेवी की कहानी 'काश' में भ्रूण में मार दी गई बच्ची का कथन देखिए–'मुझे मरने का दुख नहीं है, क्योंकि यह तो शाश्वत है। देर-सवेर सबको आखिर एक दिन इस संसार को छोड़ना पड़ता ही है। दुख मुझे इस बात का है कि मेरे माता-पिता दोनों उच्च-शिक्षित व उच्च पदों पर आसीन अच्छी-खासी संपत्ति के मालिक तथा संभ्रांत परिवारों में गिने जाते हैं। समाज के प्रतिष्ठित वर्ग से संबंध रखने वाले माता-पिता ने अपनी गलती का बदला अपनी संतान से लिया, वास्तव में मुझे इस बात से आंतरिक पीड़ा होती है और ऐसे लोगों से घृणा भी। उन लोगों ने मुझे मारकर समझ लिया होगा कि वे अनचाहे बोझ से मुक्त हो गए होंगे। लेकिन मैं दावे से कह सकती हूँ कि ढाई किलोग्राम के इस मांस के लोथड़े को मरवाने के बाद वे आज तक अपनी आत्मा पर ढाई मन का बोझ उठाए घूम रहे होंगे।'[11] कहा जा सकता है कि कन्या भ्रूणहत्या न केवल सामाजिक कलंक है, अपितु नारी सशक्तिकरण की दिशा में दखलंदाजी भी है, जिसे सभ्य समाज किसी भी सूरत में स्वीकार नहीं कर सकता।

दहेज का दानव भारतीय समाज को दीमक की तरह चाट रहा है। लड़की के जन्म के साथ ही माँ-बाप को यह चिंता सताने लगाती है कि लड़की के लिए यदि अच्छा घर-वर देखना है तो भरपूर दान-दहेज भी देना होगा। दहेज के कारण अक्सर बेटियों को सुसराल में अनेक

 ISSN 0975-735X

शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं को भोगना पड़ता है। कभी वे स्वयं आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाती हैं, तो कभी उन्हें जिंदा जला दिया जाता है। दहेज के विरुद्ध कड़े कानून बनाने के बावजूद यह कुप्रथा हमारे समाज में प्रचलित है, बल्कि दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यादवेंद्र शर्मा चंद्र की कहानी 'पिछला दरवाजा' में नायिका का पिता इसी सदमे में दम तोड़ देता है। नायिका के शब्दों में–'मेरी शादी के पहले मेरे पिता की हृदयगति रुक जाने से अचानक देहांत हो गया है। मेरी माँ को लगभग चार लाख रुपये मिलते हैं। मेरी माँ शादी पर दो लाख रुपये मेरे मना करने पर भी खर्च कर देती है। मुझे हैरानी होती है कि लड़की के साथ वह सब-कुछ दिया जाता है, जो गृहस्थी के लिए जरूरी है, जो सुहागरात मनाने के लिए भी आवश्यक है, उपयोग व उपभोग की समस्त सामग्री। लड़के व लड़के के माँ-बाप को क्यों नहीं लज्जा आती है?'[12]

अनिता गोपेश की कहानी 'टैडी बीयर' का नायक (पति) पत्नी से विवाहपूर्व यौन-आनंद के अनुभवों को शेयर करता है, परंतु नवविवाहिता से उम्मीद करता है कि यह उसका पहला अनुभव होना चाहिए। कथानायिका जिन शब्दों में अपने अनुभवों को पाठकों से साझा करती है, वे दहेज-प्रथा की भयावहता को उजागर करते है। सूर्यबाला ने अपनी कहानी 'पूर्णाहुति' में इस कुप्रथा पर विस्तार से प्रकाश डाला है 'मित्रों-हितैषियों के बताए परिवारों में वह अपनी बेटी का रिश्ता लेकर गया वह वापस हो लेते।'[13] कविता की कहानी 'तमाशा' की नायिका, जो विभिन्न स्त्री-समस्याओं को केंद्र में रखकर एक तमाशा कंपनी में काम करती है, अपने अनुभव बताते हुए लिखती है–'मैं एक दिन नववधुओं को जलाए जानेवाले लेख के सिलसिले में वर्न वार्ड गई थी। मैं वहाँ पति और सास द्वारा जलाई गई एक लड़की से मिली। वह 90 प्रतिशत जली हुई थी, लेकिन उस हाल में भी वह उन लोगों के खिलाफ मुँह खोलने को तैयार नहीं थी, क्योंकि उसके दो बच्चे थे, जिन्हें उसी परिवार में रहना था और उसके मायके में सिवाय भाई-भाभी के और कोई नहीं था, जिन्हें उसमें या उसके बच्चों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। नीला चुप हो गई थी कुछ देर को और पिता ने भी नहीं कुछ कहा था इस बीच–।'[14] भारतीय पारिवारिक संरचना में स्त्री का दोयम दर्जा तथा पराया धन जैसी धारणाओं के कारण वर-पक्ष का उत्पीड़न और शोषण ज्यादा भयानक रूप धारण कर लेता है, क्योंकि ऐसे मामलों में समाज और कानून का कोई भय उन पर नहीं होता, ज्यादातर मामले घर में ही निपटा लिए जाते हैं और लोकलाज और लोकभय के नाम पर स्त्री के हिस्से में केवल अवसाद और बेचैनी आती है। उसे घर-परिवार में अपने ही विरुद्ध समझौता करना पड़ता है। यदि वह समझौता नहीं करती तो उसे 'देहरी भइल परदेस रे' की मीनल की तरह पारिवारिक षड्यंत्र के अंतर्गत हत्या का शिकार होना पड़ता है। मीनल जब ससुराल के उत्पीड़न तथा जबरन देह-व्यापार का विरोध करती है तो पूरा घर भयभीत हो गया था, इस बात से कि एक बार ये बाहर गई तो सारी बात सबको मालूम हो जाएगी। अब उससे छुटकारा पाने की कोशिश करने लगे लोग। मीनल के जेठ को भी बुलवा लिया गया था बाहर से और छुट्टी के एक दिन घर बंद करके जला देने की योजना बना डाली थी सबने। गुस्सा तो मशहूर था ही मीनल का। हत्या को आत्महत्या में बदल देने में क्या मुश्किल थी। घरवालों ने किस चालाकी से उसे नीचे वाले कमरे में बुलाकर एक कोने में घेर लिया था। ससुर बाहर वाले कमरे में थे पहरेदारी पर कि कोई आ न जाए। हाथ-पाँव पकड़कर लिटा दिया था सास-ननद और जेठ ने मिलकर। पूरा मिट्टी के तेल का केन उस पर उलट दिया था।[15] कहने की जरूरत नहीं कि

आज न केवल पढ़े-लिखे संभ्रांत परिवारों में बल्कि मध्यम और निम्न-मध्यमवर्गीय परिवारों में बहू-बेटियों को दहेज की बलि चढ़ा दिया जाता है।

फ्रांसीसी दार्शनिक ल्योतार ने कहा था कि ज्ञान के भंडारण का समय अब लद गया है। ज्ञान के लिए अब खुला बाजार है। एक नई संस्कृति ज्ञान-व्यवस्था के भीतर से उभर रही है, जिसमें पुरातन शिक्षा के पवित्र मूल्य-चिंतन को जगह नहीं है। नव पूँजीवाद बहुराष्ट्रीय निगमों के रूप में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद विकसित कर रहा है। मूल बात यह है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विद्यमान पुरानी मूल्य-व्यवस्था का पूरी तरह संहार और एक मूल्यहीन, चरित्रहीन, पैसा-खोर व्यवस्था का भरण-पोषण। आज शिक्षा के क्षेत्र में नए जमींदार तंत्र का उदय हो रहा है, जिसका लक्ष्य जमकर मुनाफा वसूलना है। शिक्षा के स्तर में ऐसी गिरावट राष्ट्रीय दुर्घटना है। प्रमुख कहानीकार राकेशसिंह शिक्षा के गिरते स्तर पर चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि रे विद्यार्थी लोग-पढ़ा लिखा कोरबे ना कि...? बेशी चा खेयो ना। तीन कोपेर वेशी देबो ना।'[16] आज की महँगी शिक्षा व्यक्ति के वश से बाहर होती जा रही है। वेदप्रकाश अमिताभ ने 'कंधे' के पहाड़ पर' नामक कहानी में इस समस्या को बखूबी उठाया है। कितना होता है? फाइव माने पाँच' सोनी ने खिसियाने स्वर में कहा 'फाइव नहीं फोटी फाइव। नहीं जानता न, लिख लीजिए बाबू जी' दीपू ने बाजी जीत ली थी। अब मुझे क्या मालूम था तेरी तरह स्कूल जाता तो मैं भी जानता।'[17] आज देश में चाहे 'शिक्षा का अधिकार' नियम क्रियान्वित क्यों न हो गया हो, फिर भी शिक्षा के स्तर पर लड़कियों से दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। दिवा भट्ट की कहानी 'अ-रचित' की नायिका पढ़ी-लिखी है। फिर भी ससुराल के लोग उस पर तंज कसते हुए उसे गँवार होने का अहसास दिलाते हैं-'हुँह! दस पास की पढ़ाई भी कोई पढ़ाई हुई? अब तो तू अनपढ़ से भी बदतर लगती है। तू तो-तू तो तुझे आता ही क्या है?'[18] वस्तुतः आज के सुविधाभोगी युग में उपलब्ध शिक्षा-व्यवस्था स्त्रियों के लिए अवसर नहीं सौंपती। गैरपारंपरिक उच्च रोजगारोन्मुखी शिक्षा की उपलब्धता स्थान व साधन की दृष्टि से अति सीमित है। गरीब तबकों में आज भी बेटी का समय छोटे भाई-बहन को सँभालने अथवा घर में झाड़ू-बुआरी या बर्तन माँजने तक सीमित होता है। अमरकांत की 'सवालों' के बीच लड़की' कहानी की जानकी परंपरागत बंधनों को तोड़कर अपने विरुद्ध होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने की ताकत दिखाती है। वह साहसपूर्वक कहती है-ऐं मावों, गाली तो देना मति, यहाँ कोई सहने वाला नहीं है। मैं पढ़ रही हूँ तो कोई जुर्म नहीं की रही हूँ। क्या चाहती हो कि तुम्हारी तरह मैं भी भाड़ में जल-बुझकर अपना जीवन चौपट कर लूँ? तुम आज कान खोलकर सुन लो, मैं न भाड़ झोकूँगी और न ही कहीं जाऊँगी, बल्कि पढ़ूँगी, पढ़ूँगी, पढ़ूँगी।'[19]

बावजूद सारी सीमाओं के भारतीय मध्यवर्ग स्त्री-शिक्षा पर ध्यान दे रहा है। वहीं आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान, समाज में उच्च वरीयता और पुरुषों की समकक्षता ने स्त्रियों में शिक्षा के प्रति रुझान में वृद्धि की है।

भूमंडलीकरण तथा बाजारीकरण के इस दौर में हमारी पारिवारिक तथा सामाजिक संरचना में काफी बदलाव आया है। आज स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी के संबंधों में अविश्वास की भावना पैदा हुई है। पहले संयुक्त परिवारों का विघटन, फिर एकल परिवारों की टूटन और अब लिव-इन-रिलेशनशिप जैसे संबंधों का अस्तित्व में आना हमारी परिवार तथा विवाह-संस्था के

विचलन और उसके प्रति हमारी मानसिकता में आए गहरे परिवर्तन को दर्शाते हैं।

वस्तुतः आज के उपभोक्तावादी समाज में हर वस्तु 'यूज एंड थ्रो' के मानक हो गई है। लंबे समय तक किसी एक जीवनसाथी के साथ बंधन में बँधकर रहना अब और नीरसता को जन्म देता है, इसलिए युवा पीढ़ी स्वतंत्र और उच्छृंखल जीवनशैली की ओर आकर्षित हो रही है। जिसके चलते लिव-इन-रिलेशनशिप का प्रचलन समाज में तीव्रता से बढ़ रहा है। वरिष्ठ स्त्रीवादी लेखिका सुधा अरोड़ा के कथन से सहमत हुआ जा सकता है। 'पहले महिलाएँ एक गुस्से और टीस के साथ संवेदना और निष्ठाविहीन पुरुषों के विचलन देखतीं और अचंभित होती थीं। आज बाजार में नए सिरे से पनपती युवा लड़कियों की एक नई जमात के 'यूज एंड थ्रो' के खेल को हकबकायी-सी देख रही है। लड़कियों की यह जमात, मर्दों के सिर्फ कार्यक्षेत्र में ही कंधे से कंधा मिलाकर नहीं चल रही, व्यभिचार क्षेत्र में भी अपने झंडे गाड़ रही है और अपने-आप पर शर्मिंदा भी नहीं है, बल्कि मूल्यों को सहेजकर रखने वाली महिलाओं को नीची निगाह से देखती है, उन पर तरस खाती है और अपनी एक नई असरदार आचारसंहिता गढ़ रही है, जिसे अपने को बुद्धिमान समझने वाला आज का पुरुष भी पहचान पाने में असमर्थ है। या शायद समझ पा भी रहा है तो उसके लिए भी यह अस्थायी अनुबंध सहज स्वीकार्य है।'[20] लिव-इन-रिलेशनशिप उन्मुक्त जीवन-शैली में विश्वास रखता है। जीवन का असली मजा 'योग में नहीं भोग' में है। नव उपभोक्तावादी संस्कृति में 'शरीरवाद' का भोगदर्शन ही सर्वस्व है। हमारी युवा पीढ़ी एक नई सैक्स क्रांति की ओर बढ़ रही है। भोग और मस्ती का जीवन ही असली जीवन है, जिसमें आनंद है। वास्तव में आज लिव-इन-रिलेशनशिप अपनी अनिवार्य स्वीकार्यता के लिए कुतर्क गढ़ता है। अमरीकसिंह दीप की कहानी 'कसाई' के प्रमुख पात्र राजू के विचार इस संदर्भ में विचारणीय हैं–मनुष्य और पशु दोनों में ही सेक्स समान रूप से मौजूद रहता है। फिर भी पशु बार-बार अपना सेक्स साथी बदलता रहता है। अगर सेक्स में उम्र-भर विपरीतलिंगियों को एक सूत्र में बांधे रखने की क्षमता होती तो पशु भी जीवन-भर अपना सेक्स साथी न बदलते। इसलिए स्त्री-पुरुष के बीच सेक्स संबंध के आधार पर वैवाहिक संबंध ताउम्र नहीं चल सकते। जहाँ कहीं चलते नजर आते है, उनकी पृष्ठभूमि में जरूर किसी-न-किसी इतर संबंध का हाथ होता है। साथ रहने के लिए बेहद जरूरी है स्त्री-पुरुष के बीच दोस्तपन और यह दोस्तपन दोनों के स्वभाव, रुचियों और विचारों की एकरूपता से ही संभव हो पाता है।'[21] इसी प्रकार अशोक प्रजापति की कहानी 'अपने-अपने स्वर्ग' का चिन्मय डॉक्टर पत्नी से तलाक लेकर प्रेमिका देवांगी से वर्षों से 'लिव-इन-रिलेशन' में था।[22] जिसे वह जीवन का सच्च सुख मान बैठा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कहानियों में ऐसे अनेक दृश्य हैं, जो लिव-इन-रिलेशनशिप की उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा को पुष्ट करते हैं। डॉ॰ स्वाति तिवारी मानती हैं कि 'आजकल विवाह एक रूढ़ि है–मात्र दो देह के मिलन की रस्में। जब देह बगैर रस्मो-रिवाज के एकाकार हैं तो विवाह का बंधन क्यों? जब तक चले चलाओ, वरना आत्मा से उतार फेंको। अनचाहा बोझ नहीं चाहिए उन्हें...।'[23] रमेश उपाध्याय की कहानी 'अविज्ञापित' की नायिका अलका कहती है– 'सामान्य जीवन एक जेल है। स्त्री-विवाह नामक अपराध करके इस जेल में जा पहुँचती है और फिर कभी बाहर नहीं आ पाती।'[24] केवल लड़कियाँ ही नहीं, आजकल लड़के भी विवाह न करना फैशन समझते हैं और लिव-इन-रिलेशन को अपना रहे हैं। कमलकुमार की कहानी

'धारावी' का नायक अपनी प्रेमिका के विवाह प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकारता है कि–'ऐसे भी तो ठीक है। तुम्हें आज एक राज़ की बात बताऊँ, आई हेट वुमन एज ए वाइफ। पत्नी बनते ही उसका सारा मेटामॉरफॉसिस हो जाता है। वह ऑक्टोपस में बदल जाती है। अपने कई-कई हाथों-पंजों से आदमी को दबोच लेती है और उसे लाश बना देती है।'[25] लिव-इन-रिलेशनशिप को अपने लिए किसी प्रकार का बंधन न मानकर युवा लड़के-लड़कियाँ इसे सहजता से अपना रहे हैं। उनका मानना है कि ऐसे संबंधों में वे अपनी मर्जी से बिना गुलामी के जीवन-यापन कर सकते हैं। आजकल कुछ विवाहित जोड़े भी इस प्रकार के संबंधों की ओर आकर्षित हो रहे है। दिव्या माथुर की कहानी 'फिर कभी सही' में यही दिखाया गया है। नायिका नेहा और बसंत विवाहित होने के बाद भी लिव-इन में रहते हैं। बसंत अपनी पत्नी दीप्ति के अतिरिक्त तलाकशुदा नेहा के साथ भी रहता है। उसे बसंत से प्यार और सुरक्षा दोनों मिल रहे हैं। ऐसी अपेक्षा लिव-इन-साथियों द्वारा की जाती है।

वस्तुत: विवाह और परिवार के जिस बंधन से अलग होकर स्वच्छंद जीवन की कल्पना लिव-इन से की जाती है, वैसा होता नहीं। स्त्री यहाँ भी भावुकता का शिकार हो जाती है और मर्द की दरिंदगी को झेलती है। स्वाति तिवारी की कहानी 'आजकल' लिव-इन में रहने वाले जोड़ों की समस्त गुत्थियाँ खोलती नजर आती है। प्रतिमा प्रणव के बच्चे की माँ बनने वाली है। वह सोचती है–मेरा बच्चा भी तो एक रिश्ता है, क्या इस रिश्ते को मैं और प्रणव अनजाने रिश्ते की तरह नकार पाएँगे कभी? मेरा बच्चा जब प्रणव कहेगा तो मैं क्या अपने बच्चे पर उसके अधिकार को रोक पाऊँगी? प्रतिमा प्रणव के बच्चे को अपनी देह में पाल रही है, प्रणव के आदेशों का पालन करना आज भी उसकी मजबूरी है। प्रतिमा की उधेड़बुन लिव-इन-संबंधों के यथार्थ को उभारती है–'एक छत के नीचे, एक बिस्तर पर साथ रहते, सोते स्वतंत्रता को बचा पा रही है वह? अपने अस्तित्व को बचाए रखना संभव नहीं रहा। प्रणव अपनी इच्छापूर्ति के बाद करवट बदलकर सो गया, पर प्रतिमा का मंथन चलता रहा। एक प्रश्न आकर लेट गया उसके और प्रणव के बीच। क्या उसका बिन ब्याहे माँ बनने का निर्णय गलत है? उसका प्रणव से रिश्ता एक दैहिक सुख की मृगतृष्णा नहीं...।'[26]

मंजू शर्मा महापात्र की कहानी 'सुनो माँ' में नई पीढ़ी लिव-इन के प्रति आश्वस्त दिखाई देती है। अपने दोनों बच्चों के प्रति चिंतित माँ जब भी विवाह की बात करती तो दोनों से एक ही जवाब पाती कि 'आपको ब्याह से क्या मिला मम्मी? अब हम बड़े हो चुके हैं। हम भी दुनिया देख रहे हैं। सड़े-गले संबंधों से हमारा विश्वास उठ चुका है। ऐसे संबंधों की लाश ढोना हमें मंजूर नहीं है। शोषक और शोषित भी कभी सुख से रहते हैं क्या? हमारे साथियों का भी यही विचार है, मम्मी। हममें से अधिकांश को सहजीवन यानी लिव-इन-रिलेशन पसंद आ रहा है। हम दोनों ही अब आर्थिक रूप से मजबूत हैं। किरण और मैं अपने-अपने साथी के साथ लिव-इन-रिलेशन में रह रहे हैं। अभी हम एक-दूसरे को परख रहे हैं। यदि हम ठीक तरह से साथ रह सके तो आगे चलकर आपकी सहमति से शादी कर लेंगे। अन्यथा अपने-अपने रास्ते चले जाएँगें।' किरण भी कहती है–'मुझे आप जैसी दब-दबकर, घुट-घुटकर, पिट-पिटकर जिंदगी नहीं जीना है, मम्मी! मैं स्वाभिमान से जीना चाहती हूँ।' मम्मी को सुनकर खुशी तो होती, पर चिंता भी घेर लेती। वे मन-ही-मन सोचती, 'अरे, पगलो! पूरी-की-पूरी जिंदगी बीत जाती है, तब भी किसी को जाना

नहीं जा सकता। ये क्या हो रहा है? समाज किधर जा रहा है?'[27] वे सोच में पड़ जातीं। वस्तुतः हमारा परंपरित समाज ऐसे संबंधों को स्वीकारने में असमर्थ अनुभव करता है।

यहाँ सहज जीवन और विवाह का अंतर समाप्त हो जाता है। मुंबई महानगर के सुप्रसिद्ध मनोरोग विशेषज्ञः डॉ॰ हरीश बेडेकर का कहना है–शादी का अर्थ है 'सदा तुम्हारे लिए', जबकि लिव-इन-रिलेशनशिप का अर्थ है 'जब तक तुम मेरे लिए, तब तक मैं तुम्हारे लिए।' वस्तुतः लिव-इन ऐसी स्थिति है, जहाँ महिला का शारीरिक, मानसिक व आर्थिक शोषण पहले से कहीं ज्यादा होने लगता है। कहा जा सकता है कि लिव-इन-की अवधारणा भारतीय सामाजिक संरचना के अनुकूल नहीं है। मूल रूप से यह पाश्चात्य सभ्यता की देन है, जिसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्वीकारना नितांत भूल होगी।

सुरेश उनियाल की कहानी 'पनमेसरी काका का भूत' में लिव-इन की समस्या को उठाया गया है। 'घनश्याम की माँ को अब भी पता नहीं है कि उसके बड़े पोते विमल की शादी हो गई है और छोटा अक्षय बिना शादी के किसी लड़की के साथ रह रहा है। छोटे की पत्नी या लिव-इन-पार्टनर एम॰बी॰ए॰ थी और एक प्राइवेट बैंक की एग्जीक्यूटिव थी।'[27] दरअसल हमारा गाँव आज भी उन पुराने जीवनमूल्यों में जी रहा है, जहाँ बिरादरी का अपना महत्त्व है।

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर कहानी का सामाजिक परिवेश आधुनिक तथा वैज्ञानिक चेतना और संस्कार के विस्तार के बावजूद अनेक समस्याओं तथा विकृतियों के साथ हमारे समक्ष मौजूद है। नव पूँजीवादी साजिश ने गौरवमयी संस्कृति के भीतरी तंतुजालों को काटने का संकल्प कर लिया है। आदर्श मानवीय मूल्यों के स्थान पर विकृत भोगवादी संस्कृति को अपनाने पर बल दिया जा रहा है। अर्थकेंद्रित समाज में रक्त के संबंध ढीले पड़ने लगे हैं। अब संबंधों का आधार लाभ-हानि हो गया है। यही कारण है कि संबंधों की ऊष्मा तथा स्नेह के अभाव में पला हुआ मनुष्य आत्मकेंद्रित हो जीवन-सुखों से वंचित अभाव, निराशा, कुंठा, तनाव एवं पीड़ा से भरा जीवन जी रहा है। वह पारिवारिक तथा सामाजिक रिश्तों की मिठास भूल गया है और अपनों के बीच अकेला अनुभव करता है। अब एकल परिवार में मनुष्य मनोरोगों का शिकार होकर अवसाद व तनाव को झेल रहा है। उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद ने मानो पारिवारिक संबंधों की जड़ें ही हिलाकर रख दी हैं। विवाह एवं प्रेम जैसी बातें गायब हो गई हैं। नई पीढ़ी यौनिक आजादी को ही जीवन का ध्येय मान बैठी है। फलस्वरूप तलाक और लिव-इन की प्रवृत्ति के प्रति मोह बढ़ रहा है। समग्रतः कहा जा सकता है कि भूमंडलीय और बाजारीकरण के दौर में हमारी पारिवारिक तथा सामाजिक संरचना में बहुत बदलाव आए हैं। समाज में वेश्यावृत्ति, बलात्कार एवं भ्रूणहत्या जैसी विकृतियाँ पनपी हैं, जो हमारे समाज को दीमक की तरह चाट रही हैं। स्वातंत्र्योत्तर कहानियाँ इन विकृत्तियों के धुँधलके को पाटने का भरसक प्रयास है।

संदर्भ

1. अमरीकसिंह दीप, एक कोई और पृ॰ 37
2. अरविंदकुमार सिंह, उसका सच, पृ॰ 38
3. शकुंतला ब्रजमोहन, उलझन, पृ॰ 20

4. वहीं, पृ॰ 37
5. शिवमूर्ति, केसर कस्तूरी, पृ॰ 29
6. अंजु दुआ जैमिनी, क्या गुनाह किया, पृ॰ 31
7. वही, पृ॰ 31
8. अमितकुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत: परिदृश्य और विकल्प, पृ॰ 183
9. आचार्य भालचंद्र गोस्वामी, आधी दुनिया दोहरा भार, पृ॰ 68
10. शमीम शर्मा, हिंदुस्तान के ससुर, पृ॰ 23
11. ज्ञानीदेवी, टूटती शृंखलाएँ, पृ॰ 32
12. यादवेंद्र शर्मा चंद्र, 'वाह किन्नी वाह', पृ॰ 123
13. साहित्य अमृत, फरवरी, 2000, पृ॰ 44
14. कविता, नदी जो अब भी बहती है, पृ॰ 102.
15. अनिता गोपेश, कित्ता पानी, पृ॰ 92
16. राकेशकुमार सिंह, जोड़ा हारिल की रूप कथा, पृ॰ 10
17. वेदप्रकाश अमिताभ, 'दु:ख के पुल से', पृ॰ 48-49
18. दिवा भट्ट, अ-रचित आजकल पत्रिका, सितंबर 2010, पृ॰ 32
19. अमरकांत, सवालों के बीच लड़की, समकालीन भारतीय साहित्य, पृ॰ 55
20. प्रमोद भार्गव का सुधा अरोड़ा से साक्षात्कार, प्रेरणा त्रैमासिक, अप्रैल-सितंबर 2011, पृ॰ 106
21. अमरीकसिंह दीप, एक कोई और, पृ॰ 35
22. अशोक प्रजाप्रति, 'अपने-अपने स्वर्ग' कथादेश, नवंबर 2014, पृ॰ 56
23. कथाबिंब जन॰-मार्च॰ 2011, पृ॰ 28
24. वागर्थ, जनवरी, 2011, पृ॰ 49
25. वही, पृ॰ 56
26. कथाबिंब, जन॰-मार्च॰ 2011, पृ॰ 29
27. हरिगंधा, महिला विशेषांक, मार्च 2014, पृ॰ 54
27. सुरेश उनियाल, 'पनमेसरी काका का भूत' कथादेश, नवंबर 2014, पृ॰ 11

एसोसिएट प्रोफेसर आर॰के॰एस॰डी॰ कॉलेज
कैथल (हरियाणा) 136027
मो॰ 094665-44566
email: sainiop100@gmail.com

 ISSN 0975-735X

बुनियादी जिज्ञासा : साहित्य क्या है?

बागेश्री चक्रधर
हिंदी विभाग, शहीद भगतसिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समय के साथ साहित्य बदलता है और जब साहित्य बदलता है तो उसकी परिभाषाएँ भी बदलती हैं। आज जिसे हम 'साहित्य' और 'साहित्य-शास्त्र' कहते हैं, प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में 'काव्य' और 'काव्यशास्त्र' कहलाता था। भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में कहा, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा'[1] यानी, शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं और उसके गद्य और पद्य दो भेद होते हैं। भामह की राह पर चल कर अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रंथों के नामकरण में 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया। दंडी का 'काव्यादर्श', वामन का 'काव्यालंकार सूत्र', राजशेखर का 'काव्यमीमांसा' और मम्मट का 'काव्यप्रकाश' ऐसे ही ग्रंथ हैं। चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा था।

भरतमुनि अपने पंचम वेद कहे जाने वाले ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के अंतर्गत काव्य-साहित्य की चर्चा बहुत पहले कर चुके थे। उन्होंने पहले ही कह दिया कि शब्द में रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता, 'न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।' तदनंतर संस्कृत काव्यशास्त्र में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[2] और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[3] तक बात पहुँची, जिन्हें हम आज तक घोटते चले आ रहे हैं और अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते आ रहे हैं। वाक्य रसात्मक हो तो काव्य। शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे तो काव्य। कवि की महिमा का भी बखान हुआ कि वह सब कुछ जानता है और सब-कुछ का वर्णन कर सकता है, कवयति सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कवि। कविर्द्रष्टा कविर्स्रष्टा, वह स्रष्टा है वह द्रष्टा है। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः, वह मनीषी और स्वयंभू इसलिए है, क्योंकि माँ सरस्वती की उस पर कृपा है। हर कोई साहित्यकार नहीं बन सकता। जिस पर वाणी की विधात्री शक्तियाँ अनुकंपाएँ रखें, उसी के हृदयांगन में साहित्य का अवतरण होता है। ऐसा सिखाया गया, ऐसा सीखा, मन से माना और ऐसा ही सिखाने लगे। लेकिन, दौर बदले, सोच हिले, क्योंकि पाश्चात्य चिंतनधाराओं का भी परिचय मिला।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रेडरिक नीत्शे ने कह दिया, 'गॉड इज डैड'[4] किसकी कृपा और किसकी अनुकम्पा? नीत्शे एक प्रोटेस्टेंट पादरी के घर जन्मा था। उसका पूरा परिवार पिछली कई पीढ़ियों से धर्मोपदेश के कार्य में लगा हुआ था। उसने धर्मशास्त्र तथा भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया। विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान का प्राध्यापक बना। पैंतीस साल की उम्र में बीमार पड़ा तो नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। फिर लगभग दस वर्ष तक वह स्वास्थ्य-सुधार के

लिए जगह-जगह भटकता फिरा।

इसी दौर में उसने उन पुस्तकों की रचना की जिनसे उसे ख्याति मिली। अंतिम दिनों में वह मानसिक रूप से विक्षिप्त हो गया। ईश्वर से उसकी आस्था उठ गई। उसकी अतिमानव की अवधारणा ने व्यापक प्रसिद्धि पाई। विसंगतियों से भरा सोच रख कर वह दैवीय शक्तियों का मुखापेक्षी नहीं रहा। दुनिया ने नीत्शे की अतिमानव की अस्तित्ववादी अवधारणा पर कालांतर में ध्यान दिया। उसका दर्शन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से विकसित पूँजीवादी पाश्चात्य देशों का केंद्रीय चिंतन बन गया।

विज्ञान की प्रगति और उसके अनंत विकास की संभावनाओं ने साहित्य को परिभाषित करने में भावनाओं के स्थान पर तर्क को स्थान दिया। रूढ़िवादी सोच का अनुगमन करने के स्थान पर विचार-स्वातंत्र्य की नई-नई शाखाएँ फूटने लगीं। डॉ. रघुवंश लिखते हैं, 'राष्ट्रीय तथा प्रजातंत्र की भावना के विकास के साथ विचार-स्वातंत्र्य की ऐसी महत्ता हुई कि व्यक्ति ने अपने को प्रधानता देकर धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से विचार करना शुरू किया।'[5]

तर्क के आयाम अनेक थे। ईसाई मतावलंबियों ने परमार्थवाद को अपना तर्क बनाया और उसके आधार पर सामाजिक प्रगति से जुड़े समाजवाद की नियतिवादी भाग्यवादी व्याख्याएँ कर डालीं। नीत्शे का विरोध प्रायः सभी तरफ से हुआ, लेकिन हम जानते हैं कि किसी व्यक्ति या विचार का ज्यादा विरोध होता है तो सर्वाधिक ध्यान उसी की ओर जाता है। हीगेल से प्रेरित हुए इतिहासवादियों, डार्विन से प्रेरित विकासवादियों, बेंथम के उपयोगितावादियों ने नीत्शे पर भरपूर प्रहार किए।

जिन भी दार्शनिकों ने नियम बनाए उन्होंने दावा किया कि ज्ञान से जुड़े होने के कारण नियम सार्वभौमिक हैं। नीत्शे ने कह दिया कि नियम भी सार्वभौम नहीं होते, वे स्वयं हमारी रुचियों से, मूल्यों एवं संकल्पों से, प्रतिबंधित होते हैं। कीर्केगार्द ने भी अपने लेखन में मनुष्य की तार्किक एवं बौद्धिक क्षमता की सीमाओं को रेखांकित किया। नए नए प्रश्न उठे, हम सत्य को ही क्यों जानना चाहते हैं, क्यों नहीं असत्य, अनिश्चितता या अज्ञान को जानना चाहते? हिंदी विकीपीडिया पर नीत्शे का उत्तर देखा जा सकता है, 'अनिश्चितता में हमें जीने की संभावना नहीं प्रतीत होती। ज्ञान इस विश्व को व्यवस्थित, सुनियोजित एवं पूर्वानुमेय बनाता है। अतः हमारा ज्ञान और यह विश्व हमारे जीने के संकल्प का परिणाम है, परंतु जीवन का अर्थ है आत्मसातीकरण, विस्तार तथा शक्ति का संकल्प। 'शक्ति का संकल्प' ही सार्वभौम सत्य है, यही हमारे ज्ञान के रूप को निर्मित करता है।'[6]

'शक्ति का संकल्प' कोई अतिमानव ही कर सकता है। कहाँ है अतिमानव का अस्तित्व? अतिमानव पुराणों और दंतकथाओं में थे, यथार्थ में कहीं नहीं हैं। अतिमानव की तर्ज पर भारत में लघुमानव की कल्पना कर ली गई। श्यामबिहारी राय ने लिखा है, 'आधुनिक व्यक्ति ने संपूर्ण व्यवस्था को नकार कर अपने को अनास्था के, संशय एवं अविश्वास के हाथों में सौंप दिया। उसने पूर्ववर्ती अवस्था का कोई विकल्प नहीं प्रस्तुत किया। फलस्वरूप एक विचित्र निर्वात

 ISSN 0975-735X

की स्थिति पैदा हो गई। इसने संपूर्ण यूरोप को झकझोर कर रख दिया और जिस नए संसार का आविर्भाव हुआ, उसमें सब कुछ निरर्थक और विसंगतिपूर्ण था।'[7]

दो विश्वयुद्धों के बीच अस्तित्ववादी दर्शन को पुनर्विकसित होने की भूमि मिल गई। नीत्शे के बाद काफ्का, सार्त्र और कामू आए। यथार्थवाद को ध्वस्त करने के लिए अतियथार्थवादी आंदोलन हुए। भावनाओं और कल्पनाओं के अनियंत्रित आवेग और प्रवाह को ही साहित्य माना जाने लगा।

उस गद्य जैसी कविता के बारे में अगर आप पूछ लें कि साहब इसका अर्थ क्या हुआ, तो गालियाँ खानी पड़ती थीं। कविता का कोई अर्थ-वर्थ नहीं होता है। अर्थ नहीं पूछा जाना चाहिए और अगर कविता का अर्थ ही समझ में आ गया तो उसका तीन-चौथाई सौंदर्य तो नष्ट ही हो गया।

शब्द से जब अर्थ की दूरी बढ़ने लगी तब अर्थ विभिन्न दिशाओं में भटक गया। शब्द का एक अर्थ एक आदमी लगाए, दूसरा अर्थ दूसरा आदमी लगाए। सौ आदमी सौ अर्थ निकालें। क्या आपने सौ अर्थ निकालने के लिए ही साहित्य रचना की? क्या हमसे बहुत समय तक कवायद कराना ही अभीष्ट था? लगने लगा कि 'शब्दार्थौ रहितौ काव्यम्' भी एक मान्य परिभाषा हो सकती है। शब्द यदि अर्थरहित हो तो भी वह काव्य है।

बहरहाल, आज विमर्शों की चर्चा न करो तो साहित्य परिभाषित नहीं हो सकता। रीतिकाल में अगर टीका साहित्य की बात न करो तो समीक्षा नहीं हो सकती, साहित्य नहीं हो सकता। भक्तिकाल और पूरे मध्यकाल में अगर छंदविहीन रचना रचो तो आपको कोई कवि न मानेगा। उस जमाने के कवि कोसा करते थे कि विदाई का धन देना नहीं चाहता, कहता है छंद बनाना नहीं आता और पूछता है केशव की कविताई!

हर युग में अपने समय-समाज और उसकी जरूरतों के साथ साहित्य बदलता है। पहले साहित्य में गुण-दोष देखे जाते थे कि इसमें अलंकार हों तो साहित्य होगा। गुण हों तो साहित्य होगा। गुण क्या थे? अब वे सारी बातें गुजरे जमाने की चीजें मानी जाने लगी हैं। अब कहाँ शास्त्रसम्मत साहित्य आपको मिलेगा, जिसके लिए इतना स्थैर्य, इतना धैर्य, इतनी तसल्ली, इतनी चैनदारी हो। अब साहित्य में वे गुणवत्ताएँ नहीं मिलेंगी। साहित्य अब एक आरोपित बेचैनी भी है। बिना बेचैनी से साहित्य सृजित नहीं हो सकता, यह भी साहित्य का एक प्रकल्प है।

अपने 'काव्यशास्त्र' में भी तो मत-मतांतर थे। ऐसा भी कहा जाता था कि करुणा ही साहित्य है। एकोरस करुण एव। कोई कहता था शृंगार ही काव्य है। कोई कहता था रीति ही काव्य है। रस और काव्य की आत्मा हम अपने पाठ्यक्रमों में पढ़ते-पढ़ाते रहे। समकालीन साहित्य कभी तत्काल नहीं पढ़ाया जाता। तत्काल तो रचनाकारों को खोटी-खरी सुननी पड़ती है। रचनाकार तत्काल समझ में नहीं आते।

अज्ञेय के पास नीत्शे से लेकर चौथे सप्तक के अंतिम कवि तक का तामझाम था लेकिन मुक्तिबोध अपने जमाने में समझ में नहीं आए। धीरे-धीरे सतही तौर पर समझ में आने लगे तो पाठ्यक्रमों में भी लगाए जाने लगे। मुक्तिबोध सचमुच समझ में नहीं आए, इसलिए

पाठ्यक्रमों में भी आ गए। सचमुच समझ में आ जाते तो फिलहाल पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं मिलता। सुधीजन जानते हैं कि मुक्तिबोध के साथ अभी तक न्याय नहीं हुआ है। जिस मात्रा में उनको समझा जाना चाहिए था, समझा नहीं जा सका। ऐसे और भी उदाहरण हैं।

हम अतीत का गुणगान करने बैठ जाते हैं। आज की अपनी दृष्टि से ही तो गुणगान करते हैं न? आज की दृष्टि से हम कालिदास को देखते हैं। कालिदास के जमाने की दृष्टि से हम कालिदास को नहीं देखते। हमारा दृष्टिकोण समय सापेक्ष होता है। कल तक 'आप' का अर्थ कुछ और था, आज 'आप' का अर्थ कुछ और है। कल तक टोपी का अर्थ कुछ और था, आज टोपी का अर्थ कुछ और है। शब्दों के नए-नए अर्थ समाज में आ रहे हैं।

मान लीजिए आने वाले दस साल में किसी शोधार्थी को 'आम आदमी पार्टी' पर शोध करना हो और वह किसी कहानीकार के साहित्य से यह डेटा निकाले कि उसमें 'आप' शब्द कितनी बार आया है, तो भ्रामक निष्कर्षों तक पहुँच सकता है। कहानीकार यदि अपने संबोधन की भाषा में शालीन रहा हो, जिसने अपनी कहानियों में तूतड़ाक और तू-तू, मैं-मैं ज्यादा न हो, तो संख्या की दृष्टि से हो सकता है कि उसके संपूर्ण साहित्य में दस हजार बार 'आप' शब्द आया हो। इसके बाद अगर वह शोधार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँच जाए कि जी, इस लेखक पर 'आम आदमी पार्टी' का प्रभाव था, तो ऐसा कहना जाहिर है गलत होगा।

हम साहित्य और उसकी समीक्षा में गलतियाँ करते हैं। अपने समय के व्यक्ति को पहचान नहीं पाते और किसी पर भी पत्थर उछालने लगते हैं। और यह जो फेसबुक, ट्विटर, गूगल-प्लस, इंस्टाग्राम, फ्लिकर और लिंक्डइन वगैरा-वगैरा का नया जमाना आया है, इसने अभिव्यक्ति और अनुभूति के प्लेटफॉर्म बदल दिए हैं। साहित्य के मंच बदल दिए हैं।

अब कोई दावा नहीं कर सकता कि मैं ही साहित्यकार हूँ, क्योंकि मेरी किताब अमुक महान प्रकाशन-गृह से छप गई है। नए लेखक स्वयं को किसी से कम नहीं मानते। अब एक आदमी जो रोजाना ट्वीट कर रहा है, फेसबुक पर लिख रहा है, उसका भी तो शब्द-कारोबार छपित रूप में बढ़ रहा है। उसके शब्दों में अर्थ कितना है, व्यर्थ कितना है, देखना चाहें तो देखें। सब कचरा नहीं निकलेगा। कुछ साहित्य ऐसा भी निकलेगा, जिनके लिए उपलब्ध परिभाषाएँ पर्याप्त न लगें।

अब तक साहित्य के बारे में जितना कहा गया है, उसमें से सकारात्मक सोच की परिभाषाओं को देखा जाए तो मैं एक परिभाषा की समर्थक हूँ, 'वैविध्यमय जीवन के प्रति, आत्मचेतस व्यक्ति की, संवेदनात्मक प्रतिक्रिया ही साहित्य है'। मुक्तिबोध के एक लेख के बीच में कहीं चुपचाप से यह वाक्य आता है। पहली बार पढ़ा तो याद हो गया। इस वाक्य को बार-बार दोहरा-दोहरा कर समझना चाहिए। साहित्य वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, किसी मूर्ख व्यक्ति की नहीं है। प्रतिक्रिया सजग व्यक्ति की है और वह प्रतिक्रिया रूखी-सूखी नहीं है, क्योंकि संवेदनात्मक है।

हर युग में आसपास का जीवन विविधताओं से भरा होता है, उसके प्रति आपके अंदर ज्ञान कितना है? भावना कितनी है? अंदर-बाहर के आचरण, विचार, चिंतन क्या हैं? बाहर के घमासान के प्रति प्रतिक्रियाएँ क्या हैं? वे प्रतिक्रियाएँ संवेदनात्मक हैं या नहीं?

 ISSN 0975-735X

वस्तुतः, प्रतिक्रियाएँ ही साहित्य होती हैं। प्रतिक्रियाएँ अंदर रह जाएँ तो साहित्य बाहर नहीं आ सकता। रचनाकार के अंदर ही बना रहेगा उसका साहित्य। ललित और लालित्य होने के लिए, साहित्य के बदलते हुए औजारों के प्रयोग की प्रविधियाँ समझनी होंगी। साहित्य के औजार हैं, कल्पना, बुद्धि और भावना। अस्तित्ववादी दर्शन ने कल्पना, बुद्धि और भावना के लिए नकारात्मक आधुनिक भावबोध दिया। घुटन, निराशा, सड़ाँध, बदबू, घुटन, अकेलापन, अजनबीपन, कुंठा, हताशा, संत्रास ने या तो अतिमानव चाहा या लघुमानव। मानव कहाँ खो गया? फिर भी आप समझते हैं कि संवेदनशील हैं और आपके पास जो संवेदना है उसका कोई मकसद है, उद्देश्य है? है या नहीं है? सिर्फ रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही साहित्य हो, ऐसा क्यों? सिर्फ रसात्मक वाक्य ही काव्य हो, ऐसा ही क्यों?

वह कसैलात्मक भी हो सकता है!
कड़वात्मक भी हो सकता है!
रसात्मक ही हो, ये जरूरी तो नहीं!

संदर्भ

1. भामह, काव्यालंकार, 1/16
2. विश्वनाथ कविराज, साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद
3. पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ॰ 26
4. नीत्शे, उद्धृत, श्यामबिहारी राय : शुक्लोत्तर काव्य-चिंतन : पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य, पृ॰ 501
5. डॉ॰ रघुवंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ॰ 16
6. नीत्शे, हिंदी विकीपीडिया
7. श्यामबिहारी राय : शुक्लोत्तर काव्य-चिंतन : पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य, पृ॰ 553

जे-116, **सरिता विहार**
नई दिल्ली

आधुनिकता बोध : से॰रा॰ यात्री की कहानियों के कथ्य के संदर्भ में

डॉ॰ ऊषा सिंह

बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार से॰रा॰ 'यात्री' जी सन् 1960 से हिंदी साहित्य की समस्त विधाओं में अपना अमूल्य योगदान दे रहे हैं। लगभग 250-300 कहानियों, 35 उपन्यासों, व्यंग्य विधाओं, संस्मरणों, यात्रा वृतांतों तथा संपादन कला द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। 'यात्री' जी मुंशी प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक मध्यवर्गीय समाज की तत्कालीन दशा का यथावत् चित्रण तथा बदलते मानवीय रिश्तों को चित्रित करने वाले प्रसिद्ध कथाकार हैं।

कहानी में कथ्य

संस्कृत की 'कथ' धातु में 'यत्' प्रत्यय जोड़ने से कथ्य शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। कथ का अर्थ है 'कहना' और कथ्य का अर्थ है 'कहने योग्य'।[1] उच्चतर हिंदी कोश के अनुसार 'कहने की वास्तविक बात।'[2] हिंदी अँग्रेजी शब्द कोश के अनुसार Subject-Matter होता है।[3] अत: कथ्य से तात्पर्य है, साहित्यकार किसी भी विधा के माध्यम से जो बात कहना चाहता है, वह कथ्य है। कथ्य प्रत्येक रचना का मुख्य तत्त्व होता है। कहानी में कथ्य वह बिंदु वह लक्ष्य है, जिसको केंद्र में रखकर या जिसके सहारे कथाकार कहानी का सृजन करता है। कविता में जो स्थान लय का होता है, कहानी में वही स्थान कथ्य का है। गीत की लयात्मकता तो सभी जानते हैं, किंतु उस लय में कितने वाद्ययंत्र सम्मिलित हैं, इसका ज्ञान कठिन है। उसी प्रकार कहानी में संवेदना के कितने स्तर व कितनी लेयर्स (परतें) कथ्य के रूप में विद्यमान है, इसका ज्ञान कठिन मनुष्य, मनुष्य का मन उसकी संवेदनाएँ, उसका विरोध, तृप्ति व चरित्र का भीतरी-बाहरी सब-कुछ भावों से प्रेरित होता है। जब भाव, काल व समयानुसार प्रासंगिक व परिवर्तनशीलता से परिपूर्ण हो, पाठक से तादात्म्य स्थापित कर उसके बाह्य व आंतरिक द्वंद्वों, तनावों को अभिव्यक्ति प्रदान कर सके, तभी कथ्य सार्थक होता है।

कथ्य में आधुनिकता-बोध

प्राचीन साहित्य में मन के चेतन अंश और अहं की अभिव्यक्ति प्रमुख थी। प्राचीन जीवन-प्रणाली और उच्च नैतिक जीवनमूल्य मनुष्य के अर्द्धचेतन व अति चेतनवृत्तियों में पोषक परिस्थितियों को पल्लवित ही नहीं होने देते थे। अत: उस समय साहित्य में भावना के साथ तृप्ति के स्वर सुनाई देते थे, किंतु आधुनिकयुग में साहित्य में अर्द्धचेतन और अति चेतन की अभिव्यक्ति सर्वाधिक है। क्योंकि जीवन की भौतिकतावादी जीवन-प्रणाली ने मानव को अधिक शंकालु,

 ISSN 0975-735X

अमानवीय, अनिश्चित व अमर्यादित बनाया है। अर्थतंत्र में जकड़ा मानव अभाव का अनुभव करता है। अपरिमित आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर यही अभाव, कुंठा, मूल्यहीनता मानव के अर्द्धचेतन में उतर जाते हैं। इन्हीं भावों व कथ्यों से युक्त अवसाद व निराशा के स्वरों का आधुनिक साहित्य व कहानी में प्राधान्य है।

आधुनिकता-बोध की प्रक्रिया समय और देश के साथ बदलती रहती है। अत: आधुनिक युग में उसी का स्वरूप शेष बचेगा, जो देश-कालानुसार स्वयं में परिवर्तन ला सके। कहानी के संदर्भ में हृदयेश के अनुसार–'अन्य अंगों की अपेक्षा कहानी में प्रयोग कुछ अधिक ही हुए हैं, किंतु कहानी की विधा इतनी लचीली है कि उसने अपने संरचनात्मक रूप में बिना कोई विशेष परिवर्तन लाए इन प्रयोगों को आत्मसात् कर लिया।[4] इसी प्रकार रचनाकार भी वही प्रासंगिक है, जिसमें परिवर्तनशीलता व समसामयिकता से जुड़ाव का गुण होगा और इस गुण को अपने साहित्य का विषय (कथ्य) बना सके। कथ्य संसार के अंतर्गत रचनाकार की प्रतिभा और व्यक्तित्व अहम् प्रश्न हो सकते है। इरफान हबीब ने लिखा है कि 'मेरे नजदीक विवेकशीलता का अर्थ है किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए तर्क और बुद्धि का इस्तेमाल, न कि किसी पूर्व निर्धारित धारणा को आधार बनाना।'[5] तर्क और बुद्धि से अभिप्राय वास्तविक सत्य की तलाश से है। एक रचनाकार के संदर्भ में यह तर्क और बुद्धि समाज के भीतर व्यक्ति के द्वारा सापेक्ष भागीदारी की ओर संकेत करती है। 'यात्री' जी ने स्वयं लिखा है कि 'मैं एक बहुपक्षीय व्यक्तित्व को जानने में रुचि रखता हूँ और अनेक अगामी रचनाओं से भी ...मैं किसी आंतरिक प्रेरणा से नहीं लिखता, बल्कि बाह्य जीवन की विविधता से मेरी मानसिकता में जो प्रतिक्रिया जागती है, वह मेरे लेखन को गति देती है। अंतत: जीवन इतना विविध और भरपूर है कि वह स्वयं लिखने को उकसाता है।'[6] अत: यथार्थ और वास्तविकता आधुनिक कथ्य में महत्त्वपूर्ण तथ्य होता है। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं के अनुभव द्वारा ही संभव है। समस्या के भीतर से निकलना और समस्या पर भाषण देना दो अलग-अलग बात हैं। अर्थात् दिल्ली के वातानुकूलित घर के अंदर बैठकर लिखना और राजस्थान की गर्मी को अपनी पीठ पर सहकर लिखना, दोनों में अंतर अवश्य होगा। अत: 'यात्री' जी ने अपनी कहानियों के कथ्यनिर्मिती में स्वानुभूति, सजग सामाजिक अध्ययन और सतर्क अंतर्दृष्टि द्वारा यथार्थ-बोध की व्यापकता को पकड़ते हुए रूमान-बोध से यथासंभव बचते हुए, गहरे रचनात्मक संघर्ष का प्रमाण दिया है। अत: से॰रा॰ 'यात्री' की कहानियों के कथ्य संसार में आधुनिकता-बोध का समावेश समग्र रूप से निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

युवा पीढ़ी की मनोवृत्ति

'गार्जियन' कहानी आधुनिक युवा पीढ़ी की मनोवृत्ति को स्पष्ट करती है, जिसमें आधुनिकता की दृष्टि से कथ्य में राकेश नामक युवक अपनी व्यक्तिगत जीवन-शैली में अन्य द्वारा हस्तक्षेप से बुरी तरह संत्रस्त व उत्तेजित हो जाता है। 'जीनियस' कहानी का नलिनाक्ष घटिया, थोथी, खोखली मानसिकता का सहारा ले आधुनिकता का दंभ भरते हुए स्वयं को जीनियस सिद्ध करने के लिए दूर की रिश्ते की बहन को प्रेमिका बताते हुए स्वयं विजयी बने रहता है। 'कैद-बामशक्कत' कहानी में फैशन के नाम पर नए जमाने के जूतों को पहनने से हुई असुविधा का लेखक ने अत्यंत रोचक व सहज वर्णन कर आधुनिकता की नकाब ओढ़ने वालों पर व्यंग्य

किया है।

लालफीताशाही और भ्रष्टाचार

'अफसर' कहानी में अफसर बनने के पश्चात् नायक का अपने कार्य-क्षेत्र से बाहर सामान्य जन-जीवन में स्वाभाविक व्यवहार नहीं कर पाता, वह वहाँ भी अपनी अफसरशाही चलाने का प्रयत्न करता है। 'आतंक' कहानी में सरकार की नीतियों से गहरा और तीखा असंतोष है। अपने निरीह आक्रोश को अभिव्यक्ति देने के लिहाज से वह तैश में बोलता चला गया 'छँटनी हमेशा होती है–यह बीस साल से नौकरी करने वाले को भी चाट जाती है। यह लगभग उसी तरह किया जाता है, जैसा कि अमूमन जानवरों को जिबह करते वक्त होता है।[7] 'नौकरी न रहने पर व्यक्ति का तनाव चरम पर होता है, वह स्वयं में टूटने-बिखरने, हताश होने लगता है। यही हताशा कहानी का मूल है। 'अंतत: कहानी में रामदास को सबसे बड़ा संतोष इस बात का था कि मजदूरों से मसाला प्राप्त करने के लिए उसे अपनी यातनाओं को नाटकीय दास्तान में नहीं बदलना पड़ा था।'[8] क्योंकि विकास-प्राधिकरण के सरकारी कर्मचारियों के समक्ष रामदास को अपने शौचालय के टूटे पाट की कहानी बार-बार और प्रत्येक कर्मचारियों के समक्ष सुनानी पड़ती थी, किंतु इतने पर शिक्षित, संस्कृत सरकारी कर्मचारियों ने अपना कार्य करने में कोई रुचि नहीं दिखाई। सरकारी कार्यालयों की लचर कार्य-पद्धति तथा क्लर्कों, बाबुओं के खोखलेपन व कामचोरी में आधुनिकता झलकती है। इसी प्रकार भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे सरकारी तंत्र की 'गोपनीय प्रतिवेदन' कहानी में व्यंग्यात्मक शैली में पोल खोली गई है, जिसमें बिल सत्तर हजार से अधिक था, किंतु बड़े साहब हिसाब देते है केवल सात हजार नौ सौ छाछठ रुपये का।'[9]

बेरोजगारी

औद्योगिकीकरण द्वारा जहाँ देश व समाज में रोजगार के विराट अवसर उपलब्ध हुए हैं, वहीं बेरोजगारी भी विकट रूप में देश के समक्ष उपस्थित हुई है, जिसका से०रा० 'यात्री' ने अपनी कहानियों के माध्यम से सजीव व यथार्थ अंकन किया है। 'खुली आँखों का दुख' कहानी में नीलकांत के स्थान पर शिवराम (नेत्रहीन) को नौकरी मिल जाती है तब बेरोजगारी से त्रस्त व हताश होकर नीलकांत का सोचना 'काश में भी अंधा होता, भीख तो मिल जाती' में आधुनिकता का बोध भीतर तक होता है। 'हमसफर' कहानी में नौकरी के लिए इंटरव्यू देने जाने वाले लड़के के साथ ऑटो में एक लड़की भी साथ में बैठ जाती है, किंतु न तो लड़के को नौकरी मिलती है और न ही उस लड़की को लड़के से कुछ कमाई होती है। दोनों की निरर्थकता में आधुनिकता का बोध होता है। 'पलायन' कहानी में एक शिक्षित युवक अपनी बेरोजगारी से कुंठित हो शादी के लिए लड़का देखने आई बहन शोभा और चाचा को बीच रास्ते में ही छोड़कर आने वाली वित्तीय संघर्षपूर्ण परिस्थितियों से बचने के लिए पलायन कर जाता है। बेरोजगारी उसे इतना भीरु और निरीह बना देती है कि भागते समय उसे अपनी बहन और चाचा की इज्जत का भी ध्यान नहीं रहता कि गाँव-देहात की लड़की शोभा उसके बिना लड़के वालों के समक्ष कैसे जाएगी? क्या जवाब देगी। 'अतिक्रमण' कहानी में आभा विपिन के इंटरव्यू के समय पर उसको बहला-फुसलाकर चाय पीने के लिए कैंटिन ले जाती है और स्वयं समय पर इंटरव्यू स्थल पर पहुँच नौकरी प्राप्त कर लेती है। बेरोजगारी से घबराकर आधुनिक मनोवृत्ति बेईमानी पर भी उतर

 ISSN 0975-735X

आती है। 'उधार की खुशी' कहानी में बेरोजगारी के संताप से संत्रस्त युवक की मनोदशा का मार्मिक चित्रण किया है। एम॰ए॰ पास होते हुए सत्ताईस वर्ष की उम्र निकल जाने पर भी राजन को कहीं नौकरी नहीं मिलती। बेरोजगारी से त्रस्त राजन् कहता है 'दादा दुनिया में तुम्हारे बुद्धिजीवी की कानी-कौड़ी कीमत नहीं है। निर्लज्ज और अवसरवादी लोगों ने अगले दरवाजों पर ताले जड़ दिए हैं। मैं अपनी व्यर्थता से तंग आ चुका हूँ।'[10]

नैतिकता

'हमसफर' कहानी में से॰रा॰ 'यात्री' व्यक्ति मन के आंतरिक उथल-पुथल को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कहानी में निम्न मध्यवर्गीय बाबू टाईप व्यक्ति को किसी के गिरे हुए पर्स को देखकर उन पैसों को हड़पने की इच्छा और बाह्य रूप से सज्जन बने रहने की इच्छा की छिछोरी एवं टुच्ची मनोवृत्ति का अत्यंत सजीव स्वाभाविक अंकन किया है। इसी प्रकार 'चोर और चोर' कहानी में दान में मिले नए कंबल को ओढ़कर सोते हुए भिखारी से रेलगाड़ी में सज्जन से दिखाई देने वाले व्यक्ति का कंबल खींचने में नैतिकता का पतन दिखाया गया है। 'राशनकार्ड' कहानी में सहयोग व सद्भाव की भावना का क्षरण दिखाया गया है, जहाँ कथानायक राशन का गेहूँ अच्छा न होने के कारण स्वयं लेता नहीं, किंतु जब आर्थिक विपन्नता से घिरा उसका दोस्त राशनकार्ड माँगता है तो कथानायक मना कर देता है। 'आत्मा की आवाज' में जीवन-भर सच्चाई, ईमानदारी के रास्ते पर चलने वाले पांडेजी को रिटायरमेंट वाले दिन आर्थिक दवाब और व्यावहारिकता से नाताजोड़ एक लाख रुपये की रिश्वत लेने के दवाब में नैतिकता का ह्रास हुआ है, किंतु कुछ शाश्वत् जीवनमूल्य अभी भी शेष है अगर समाज में बुराई हावी हुई है तो अच्छाई का स्वरूप भी अभी जिंदा है। से॰रा॰'यात्री' ने अगर आधुनिक नैतिकता का खंडित होता स्वरूप पाठक के समक्ष स्थापित किया है तो आदर्श, नैतिकता के बचे स्वरूप का भी यर्थाथवत् सजीव अंकन किया है। 'संशयग्रस्त' कहानी में घर में एक पैसा न हाने पर बच्चों व घर के लिए सब्जी लाने के लिए वह रद्दी बेचता है। उन्हीं पैसों से कुछ की सब्जी व पचास व अस्सी पैसों से बच्चों के लिए मीठी गोलियाँ खरीद लेता है, किंतु भूलवश उसे ध्यान नहीं रहता कि अस्सी पैसों के साथ उसने पचास पैसे दिए हैं या नहीं। अंत में संशयग्रस्त होते हुए भी वापस जाकर उस गोली वाले को पचास पैसे दे देता है। इस कहानी द्वारा 'यात्री जी' ने संत्रास भरी जिंदगी में भी मानवीयता, जिजीविषा, आदर्श के उफान और मूल्यों की चेतना की स्थापना की है। 'परजीवी' में ऐसा व्यक्ति है, जो स्वयं आर्थिक तंत्र-जाल में फँसा है, किंतु अपने दोस्त की सहायता करने के लिए अपनी किताबों को औने-पौने दाम में बेचकर सहयोग की भावना का विकास करता है। 'जूझते हुए लोग' कहानी के केंद्र में सुरेश, नलिनी व छोटे-छोटे दो बच्चों का परिवार है, जो आर्थिक अभावों को संघर्ष द्वारा दूर कर स्वर्णिम भविष्य-निर्माण में लगे हैं। उनकी इसी सक्रियता में आधुनिकता के गुण छिपे हुए हैं।

आर्थिक तंत्र

आधुनिकीकरण से पूर्व भारत में 'सादा जीवन उच्च विचार' पर आधारित सामाजिक पद्धति थी। पहले लोगों की अंकाक्षाएँ व आवश्यकताएँ कम थीं, किंतु संतोष और सुख की भावना अधिक। किंतु आधुनिक समाज-व्यवस्था घोर भौतिकावादी प्रणाली पर आधारित है, जहाँ मानव

की अनंत इच्छाएँ उसे कभी तृप्त होने ही नहीं देतीं, इसलिए वह सुख-संतोष के स्थान पर भय और संत्रास में अपना जीवन गुजारता है। से॰रा॰ 'यात्री' द्वारा रचित 'बोझ' कहानी भी आर्थिक तंत्र के रिश्तों पर हावी होने की कहानी है। कहानी में मुख्य पात्र में घर गाँव से बड़े भाई साहब अपना इलाज करवाने आते हैं। उनकी अत्यंत क्षीण व चिंताजनक अवस्था देख मुख्य पात्र व उनकी पत्नी अस्पताल जा इलाज करवाना चाहते हैं, किंतु आर्थिक कारण एवं परिस्थितियों से विद्रोह न कर पाने की स्थिति में वह अपने बीमार भाई को उसी अवस्था में वापस मझले भाई के पास भेज देते हैं, क्योंकि भौतिक आवश्यकताओं के प्रति व्यक्ति इतना मजबूर हो गया है कि वह अपनी आत्मिक तुष्टि की किंचित भी परवाह नहीं करता। खून के रिश्ते-नाते अब उसके लिए गौण हो गए हैं और अर्थ (धन) प्रमुख। 'मुर्दाफरोश' कहानी में सड़क दुर्घटना में मारे गऐ भाई को न्याय दिलवाने के स्थान पर उसका छोटा भाई ढाई हजार रुपये के लिए ट्रक मालिक से समझौता कर अपने भाई की लाश घर ले आता है। केवल कुछ रुपयों के कारण ड्राइवर को दंड दिलवाने की इच्छा का अंत होता है। 'मोहभंग' कहानी में से॰रा॰ 'यात्री' अर्थजाल में फँसे व्यक्ति का रूप उजागर करते हैं। कथावाचक आर्थिक रूप से संपन्न दिखाई देने वाले शुक्ल जी से सौ-सवा सौ रुपये उधार माँगने में संकोचवश डेढ़-दो घंटे लगा देते हैं, 'वही बात शुक्ल जी ने बेलौस कह दी, 'आप शायद नहीं जानते हम कितना गरीब हूँ। गाड़ी रखनी पड़ती है। सब टीम-टाम जुटानी होती है, इंस्योरेंस का हैवी प्रीमियम, क्लब का मेंबरशीप। सामान की किस्त और इनकम टैक्स देह में रत्ती भर खून नहीं छोड़ता। महीना का आखिरी कड़की में होता है। कहते हुए वर्मा साहब के हाथ पर मात्र पच्चीस रुपये रखते हैं। कहते हैं, 'यह फ्रिज चार मास पहले लिया। सारी किस्त देना है। पंद्रह तारीख को पहली किस्त देने का बोला। जितनी जल्दी हो, रुपया लौटाने की परम चेष्टा कीजिएगा।'[11] सुनकर वर्मा जी को लगता है कि गाड़ी-बँगले में रहने वाला शुक्ल तो उनसे भी अधिक फटीचर निकला।

नगरबोध (महानगरीय संस्कृति)

औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में लोग रोजगार की तलाश में भिन्न-भिन्न गाँवों, कस्बों व राज्यों से आकर नगरों में बसे, जहाँ अजनबीपन, एकाकीपन, स्वार्थ व स्वयं की आर्थिक उन्नति की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। गाँवों के मेल-मिलाप, भाईचारे की भावना यहाँ क्षीण होने लगी। से॰रा॰ 'यात्री' ने अपनी कहानियों में इस स्थिति का वास्तविक व मर्मस्पर्शी अंकन किया है। 'मरीचिका' कहानी में नगरबोध की पराकाष्ठा तब होती है, जब वह अपने पति को कथावाचक के मकान की सिक्योरिटी के पाँच सौ रुपये देने पर कहती है, 'मैंने देश के इन सब लोगों को बहुत देखा है। रुपया लेने के नाम पर ये सब एकदम अपरिग्रही और सीधे बन जाते हैं। क्या वे वृत्तिहीन हैं? तो फिर सूद पर कहीं से क्यों नहीं ले लेते।'[12] ये शब्द उसी पारुल के हैं, जो कभी कथावाचक से स्मितमुख बोली थी-'चलो, तो फिर कभी मेरा भी अपना घर होगा और तुम वहाँ छलना से ही सही, आओगे तो।'[13] वही पारुल आज शहर में आ किसी की सद्गृहणी बन कितनी सतर्क व सचेत हो गई है कि पति के सामने अपने पूर्व प्रेमी के प्रति पूर्ण अपरिचित और कठोर बन जाती है। यह शहरों व नगरों की वास्तविकता है कि यहाँ दूसरों की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं। 'अतिक्रमण' कहानी का कथ्य है कि आभा विपिन के इंटरव्यू के समय पर बहला-फुसलाकर

चाय पीने के लिए कैंटिन ले जाती है और स्वयं समय पर इंटरव्यू स्थल पर पहुँच नौकरी प्राप्त कर लेती है। इस कहानी में महानगरों की गलाकाट प्रतियोगिता का बोध होता है। 'उतरती धूप' कहानी में व्यापारी नंदलाल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा व लोकलाज के भय से अपनी पत्नी लता के कमरे में पर-पुरुष की उपस्थिति देखकर भी कुछ नहीं कहता। वहाँ से दबे पाँव वापस चले जाने में उसकी नगरीय भीरुता व कुंठा उजागर होती है।

पारिवारिक संबधों का चित्रण

'छछूँदर' कहानी पारिवारिक रिश्तों के भीतर धन की भूमिका को रेखांकित करती है। वर व वधू दोनों पक्ष आर्थिक व सामाजिक रूप से संपन्न एवं प्रतिष्ठित हैं। कार से उतरने वालों का घराती स्वागत करते हैं, किंतु श्यामलाल भतीजी की शादी में रिक्शे से आया है। इसलिए श्यामलाल का सगा बड़ा भाई उसे अपने किसी बराती और घराती से मिलवाता तक नहीं है। साथ ही शादी के किसी कार्यक्रम में उसकी भागीदारी नहीं चाहता। ऐसे वातावरण में श्यामलाल को अपने घर की शादी में स्वयं की स्थिति छछूँदर-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'संत्रास, फिर से इंतजार, केवल पिता, कहीं ओर कहानियों में पारिवारिक रिश्तों को टूटते-बिखरते दिखाया गया है।

दांपत्य जीवन

'अनुपस्थित' कहानी में नरेश अपने दोस्त इंद्रजीत को कानपुर जाने पर अपनी अनुपस्थिति में पत्नी गीता व बच्चों की देखभाल के लिए अपने घर छोड़ जाता है, किंतु इतने चार दिनों में गीता व इंद्रजीत के बीच संकोच की दीवार गिर जाती है। उनके व्यवहार में दोस्ती की स्वाभाविकता आ जाती है। नरेश के घर लौटने पर उन्हें आपस में हँसता-बोलता देख नरेश गीता को गलत समझ बैठता है। यही शक दांपत्य जीवन में कटुता का कारण बनता है। 'अलग-अलग अस्वीकार' कहानी पति-पत्नी दोनों के कमाने के कारण दांपत्य-जीवन में आए बिखराव को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। शकुंतला का मुख्य दुख उसका पति है, जो कुतुब मीनार देखने जाने पर होने वाले खर्चे के डर से रास्ते से ही शकुंतला का पर्स लेकर घर वापस भाग आता है। कथावाचक के पूछने पर कहती है-'जायज खर्च क्या है, इसका निर्णय कौन करेगा शकुंतला तल्खी से बोली-पति ही न, यह बात अलग है कि पत्नी भी नौकरी करती है।' अधिक गुस्से में आकर अपने प्रोफ़ेसर पति के लिए कहती है-'पत्नी को पतिपरायण होना चाहिए, उसे पति की प्रत्येक इच्छा पूरी करनी चाहिए। ... बसों और गाड़ियों में अकेले नहीं चलना चाहिए, क्योंकि उसमें लंपट भी सफर करते हैं, परंतु जब वह नौकरी करने जाती है। अपनी तरक्की के लिए बॉस को रिझाती है, तो उस क्षण वह कोई और हो जाती है।'[14]

अंततः से॰रा॰ 'यात्री' द्वारा रचित कहानियों के कथ्य का फलक बहुत व्यापक है, उनकी कहानियों में आधुनिक जीवन की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ती है। आधुनिक नगरों, महानगरों में संबंधों का थोथा, खाली और अजनबीपन, भय, संत्रास, आर्थिक अभाव, बेरोजगारी तथा निम्न वर्ग के छल-छद्म, विद्रूपता, बहुविध विसंगतियों, आशा-निराशाओं को कहानियों का कथ्य बनाया गया है। निष्कर्षतः आधुनिकता-बोध की दृष्टि से यात्री जी की कहानियों का कथ्य संपन्न है।

संदर्भ

1. डॉ॰ कालिकाप्रसाद, हिंदी हिंदी कोश, पृ॰ 242
2. डॉ॰ हरदेव बाहरी, हिंदी शब्दकोश, पृ॰ 82
3. डॉ॰ हरदेव बाहरी, हिंदी-अँगेजी शब्दकोश, पृ. 299
4. डॉ॰ अशोक भाटिया, समकालीन हिंदी-कहानी का इतिहास, पृ॰ 247
5. इरफान हबीब, इतिहास और विचारधारा, पृ॰ 204।
6. डॉ॰ एम॰बी॰ हिरे, कथाकार से॰रा॰ यात्री व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ॰ 28, 29
7. से॰रा॰ यात्री, आतंक, केवल पिता, कहानी-संग्रह, पृ॰ 27
8. से॰रा॰ यात्री, अंततः खारिज और बेदखल, पृ॰ 17
9. से॰रा॰ यात्री, गोपनीय प्रतिवेदन, परजीवी, पृ॰ 70
10. से॰रा॰ यात्री, उधार की खुशी, टापू पर अकेले, पृ॰ 68
11. से॰रा॰ यात्री, मोहभंग, अलग-अलग अस्वीकार, पृ॰ 107
12. से॰रा॰ यात्री, मरीचिका, अलग-अलग अस्वीकार, पृ॰ 46
13. से॰रा॰ यात्री, मरीचिका, अलग-अलग अस्वीकार, पृ॰ 48
14. से॰रा॰ यात्री, अलग-अलग अस्वीकार, पृ॰ 126

मकान नं. 48, **सेक्टर**-7,
आर.के.पुरम, दिल्ली 110022

ISSN 0975-735X

आज का युवा और मूल्यबोध

डॉ॰ ऊषा सिंह

'मूल्यबोध' में दो शब्दों का योग है–मूल्य एवं बोध। मूल्य एक मानक है। यदि किसी वस्तु के बारे परखना होता है तो सबसे पहले हम उस वस्तु के मूल्यों का पता लगाते हैं। मूल्यों के ज्ञात होने के उपरांत ही हम वस्तु की श्रेष्ठता का अनुमान लगा सकते हैं। 'बोध' शब्द संस्कृत की 'बुध' धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर बना है। जिसका अर्थ 'प्रत्यक्ष ज्ञान', 'विचार' आदि होता है[1]।' बोध का कोशगत् अर्थ प्रतीति, ज्ञान, जानकारी अथवा किसी के अस्तित्व, प्रकार, स्वरूप आदि होने का मानसिक भाव।'[2] अतः बोध से तात्पर्य है 'किसी वस्तु, विषय, धारा अथवा व्यवहार का ज्ञान[3]।' वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और बोध मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण वस्तुतः यह बोध रूपी शक्ति मानव-मस्तिष्क की ही देन है। वास्तविक बोध केवल चिंतन द्वारा अपने भीतर उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिए मानव-चेतना और बाह्य जगत् में संपर्क होना आवश्यक है। इस कारण बोध का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव एवं उसके व्यावहारिक प्रयोग द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध करना है।

निरंतर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह बोध का मूलाधार है। परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन एकता और साहचर्य अपेक्षित रहता है। बोध का प्रवाह हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और उसकी अविच्छित एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से संबंध रखती है। विभिन्न विषयों का अलग-अलग समय पर बोध होने पर हम अनुभव करते हैं कि मैंने अमुक वस्तु देखी थी। यदि हमारा बोध अखंड और अविच्छिन्न न होता तो यह अनुभव हमें कदापि नहीं होता। वस्तुतः बोध शब्द 'धारण' तथा प्रत्यय का अर्थ प्रदान करता है।

मानवमूल्य व नैतिक मान्यताएँ होती है, जिनका मानव-जीवन में समर्थन व विरोध करता है। दिनकर जी के अनुसार, 'मूल्य आचरण के सिद्धांतों को कहते हैं। मूल्य वे मान्यताएँ है, जिन्हें मार्ग-दर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और इनकी उपेक्षा करने वालो को परंपरा अनैतिक उच्छृंखल या बागी कहती है।'[4] प्राचीनकाल से ही हमारे महापुरुषों ने मानव के जीने के लिए कुछ-कुछ मूल्य निर्धारित किए हुए थे। मानव उन मूल्यों को अपनाकर जीवन जीता तो उसके जीवन में पवित्रता, आदर्श, नैतिकता का समावेश सदा के लिए रहता था और मानवमूल्यों का मुख्य लक्ष्य मानव में पवित्रता, निर्मलता, को बनाए रखना ही मानवमूल्य है। 'बिना मानव के मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं। मूल्य चाहे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक हो या सांस्कृतिक, दार्शनिक, सबका अंतिम लक्ष्य है–मानव।'[5] किंतु आधुनिककाल से पूर्व नैतिक मूल्य

मानवता से ऊपर समझे जाते थे। व्यक्ति आचार-विचार में नैतिक मूल्यों को अधिक महत्व देते थे। पूर्व निर्धारित मूल्यों को सत्य ब्रह्म माना जाता था ईश्वरीय आज्ञा व सत्ता को स्वीकार कर नैतिक मूल्यों का पालन किया जाता था। व्यक्ति के सुख-दुःख जन्म-जन्मांतर व कर्मफल द्वारा निर्धारित होते थे। इन्ही मूल्यों की स्थापना के लिए अहिल्या को पाषाण, द्रौपदी को पाँच पुरुषों की पत्नी, सीता की अग्निपरीक्षा, उर्मिला यशोधरा को विरह वेदना, शकुंतला को परित्कत्या होने का दंश सहना पड़ा। वे नैतिक मूल्यों के कारण विरोध करने का साहस नहीं कर पाई, किंतु आधुनिक युग में स्थिति बदल गई है। आधुनिक तर्क व ज्ञान दशा ने समाज में ईश्वर के स्थान पर मानव को स्थापित किया है। अज्ञेय लिखते हैं कि 'विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मानव का मूल्य बढ़ता गया और मानवेत्तर का मूल्य घटता गया है। विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वरपरक न मानकर मानव-सापेक्ष मान लिया है[6]।' ईश्वर के स्थान पर मानव की स्थापना ने नैतिक मूल्यों में परिवर्तन ला दिया है। एक समय था, जब चींटी या खटमल के लिए अपने प्राणों को संकट में डालने वाला पुण्यात्मा कहलाता था, एक समय है कि कौओं और बंदरों को रोटी खिलाने वाला समाजद्रोही कहलाता है, क्योंकि मानव के लिए रोटी की कमी थी और आज केंद्र में मानव है, ज्ञान इतना बढ़ गया है कि मानव हर चीज को शंका से देखता है। इस सवाल पर भी गंभीरता से सोचने लगा है कि जीवन जीने योग्य है या नहीं।

'आधुनिकता अपने साथ ऐसे विचार और चिंतन लाई है, जिन्होंने मानव-जीवन को मध्यकालीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों और तज्जन्य विकृतियों से मुक्त कर व्यक्ति स्वातंत्र्य और समाज निर्माण के नए धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। यह उसका मूल्य पक्ष है।'[7] इस प्रकार आधुनिक व्यक्ति बुद्धि को प्रमुखता देते हुए नैतिक मूल्यों में विशालता को अपनाता है। वह अपने विचारों में मुक्त और स्वतंत्र रहता है। अपनी बुद्धि से स्वयं मार्ग चुनता है। श्रद्धा के स्थान पर तर्क को स्वीकारता है, किंतु यही बुद्धि, तर्क, मुक्त और स्वतंत्र रहने की अतिवादी इच्छा उसे अपनो से दूर ले जाती है। उस पर स्वार्थ इतना हावी हो जाता है कि वह स्वयं की प्रगति के लिए अपने निकटतर संबंधों को भी दाँव पर लगा देता है। सद्भाव, सहकार, संतोष जैसे मूल्य उसके लिए व्यर्थ होते हैं। भौतिक सुविधाओं से उत्पन्न संपूर्णता का भाव उसे अपने आत्मीयजनों से दूर ले जाता है। इस प्रकार 'विज्ञानजन्य भौतिक दृष्टिकोण एक ओर तो मूल्यों की सृष्टि कर रहा था तो दूसरी ओर यांत्रिकता अकेलेपन की।'[8] अतः अतिवाद की धारा चाहे वह प्राचीन मूल्य-बोध हो, जिसमें स्थापित परंपरागत मूल्यों में तर्क की शून्यता और आधुनिक अतिवाद की दृष्टि, जिसमें केवल मनुष्य 'स्व' केंद्रित हो गया हो, सार्थक मूल्यबोध नहीं है। श्रवणकुमार जी के अनुसार, 'निश्चय पुराने मूल्यों को पड़तालना और आवश्यक हो तो उन्हें नकारना तथा नए मूल्यों को खोजना और आवश्यक हो तो उन्हें स्वीकारना है।'[9] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार-'जीवन-मूल्यों की सार्थकता इसी में है कि वह जीवन को जीने के योग्य बनाते है। अनुभूत सत्यों के आधार पर इन मूल्यों का विकास होता है। अतः जीवन-मूल्य शाश्वत् नहीं होते। अनुभव तथा विवेक द्वारा इन्हें ग्रहण किया जाता है।'[10] वस्तुतः किसी व्यक्ति, समाज व देश के जीवन-मूल्यों के आधार पर ही वहाँ के नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक व्यवहार की श्रेष्ठता का अनुमान लगाया जाता है। अतः किसी व्यक्ति, समाज व देश के मूल्य का सम्यक् ज्ञान ही मूल्यबोध कहलाता है।

 ISSN 0975-735X

व्यक्ति में भक्ति, नीति, प्रेम, ज्ञान, सत्य, अहिंसा, दया, सहानुभूति, सत्संगति, परोपकार, वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का ह्रास व उदात्त रूप ही उसे सज्जन व दुर्जन रूप में चित्रित करता है, किंतु आधुनिक इक्कसवीं सदी का युवा इन जीवन-मूल्यों को दैवीय वरदान व प्रकोष मानकर नहीं अपनाता, अपितु बुद्धि को वह अपना मार्गदर्शक मानता है और उसी के प्रकाश में अपना प्रत्येक कार्य संपन्न करता है। कोई भी कार्य वह स्वर्ग-नरक के भय या मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा से नहीं करता, अपितु नैतिकता व कर्तव्य-बोध समझकर पुण्य-कर्मों को अंजाम देता है। पापकर्मों को सामाजिक बुराई के रूप में देखकर बहिष्कृत करता है। आधुनिक युवावर्ग भाग्य में नहीं, अपितु बुद्धि में विश्वास करता है। इसी विश्वास के आधार पर वह अपनी योग्यतानुसार समाज में शीर्ष पद पर आसीन हो सकता है। क्योंकि यहाँ जो कुछ भी है, वह मनुष्य के साहस, श्रम और बुद्धि के अधीन है। इसी विचारधारा में पोषित आधुनिक युवा अपनी मेहनत, लगन व कठोर परिश्रम के बल पर आई०टी०, वाणिज्य, इंजिनियरिंग, कंप्यूटर सेक्टर में तेजी से विकास करता हुआ शीर्ष पदों पर आसीन है। 25-30 वर्ष पूर्व अच्छे-से-अच्छे सरकारी व निजी संस्थानों में नौकरी पर लगे लोग अपनी आधी उम्र बीत जाने पर भौतिक जीवनोपयोगी मूलभूत आवश्यकताओं को अर्जित करते थे, वहीं आज का युवा एक अच्छे वार्षिक पैकेज के बल पर कुछ ही वर्षों में भौतिक संसाधनों की सुविधाएँ जुटा लेता है। किंतु जो ऐसा नहीं कर पाते वह घोर नैराष्य में डूब अपराधिक गतिविधियों में संलग्न हो अपने व देश के हित से खिलवाड़ करते हैं, क्योंकि आधुनिक जीवन-प्रणाली सुख, संतोष, भाइचारे, जीवन-मूल्य के स्थान पर विलासिता की भौतिक वस्तुओं के जमावड़े को अधिक मुख्य मानती है। अतः आज का युवा धैर्य, संतोष, जैसे जीवन-मूल्य के अभाव में स्वार्थकेंद्रित हो इतना भावहीन, हृदयहीन और हिंसक हो गया है कि वह बड़े-से-बड़ा घिनौना अपराध करते हुए भी नहीं डरता। वह थोड़ी-सी बात को लेकर हत्या तक कर देता है। इसकी पुष्टि प्रायः समाचार-पत्र में नियमित रूप से होती है। जहाँ हम सुबह उठते-उठते समाचार-पत्र में 5 से 10 खबरें ऐसी पढ़ते हैं कि मन विक्षोभ से भर उठता है। कहीं घर का नौकर ही अपने मालिक की बेदर्दी से हत्या उसकी जीवन-भर की कमाई लूटने के इरादे से करता है तो कहीं जल्द-से-जल्द अमीर बनने के लिए अपहरण, लूट-पाट व हत्या की जाती है। कभी-कभी व्यक्ति के स्व का अहम् इतना बड़ा होता है कि सड़क पर अपनी गाड़ी से अन्य के टकराने पर उसे अपनी गाड़ी अधिक मूल्यवान लगती है दूसरे की जान सस्ती। जिसे वह स्व के अहम् में अंधा हो लेने से भी नहीं चूकता। बाजार में मनचाही वस्तु खरीदने की ताकत रखने वाले इतने लापरवाह और संवेदनहीन होते है कि वह विलासिता की वस्तुओं की श्रेणी में स्त्री को भी एक उपभोग की वस्तु समझ लेते है। और अपनी इच्छापूर्ति न होते देख बलात्कार करना चेहरे पर तेजाब फेंकना व सरेआम गोली मारने जैसे कुकर्म करते है। आस-पास घटित हो रही इन घटनाओं में युवावर्ग की मुख्य हिस्सेदारी होती है। जिसका मुख्य कारण भौतिकवादी आधुनिक जीवन-प्रणाली से उत्पन्न वे गिरते जीवन-मूल्य हैं, जिनके मूल में केवल स्व, स्वच्छंदता, स्वार्थ की मनोवृत्ति है। यही मनोवृत्ति संयुक्त परिवार व शादी जैसे बंधनों को ठुकराकर आधुनिक प्रेम और वासना के संदर्भ में स्वेच्छाचार को प्रश्रय दे 'लिव-इन-रिलेशनशिप' को अधिक सहज मानते है और आजकल तो प्रायः युवावर्ग इस प्रकार के रिलेशनशिप में ब्रेकअप होने के बाद 'पार्टी' करते है। इस प्रकार के जीवन-मूल्य सुव्यस्थित समाज-निर्माण के लिए

स्वस्थ कदापि नहीं है। आधुनिक युवावर्ग भौतिकवाद की लालसा एवं चकाचौंध से भ्रमित हो केवल अपने 'स्व' के विकास, तरक्की व वृद्धि करने के लिए समस्त सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक व सांस्कृतिक मूल्यों को तिलांजलि दे अपने हृदय में परोपकार, सद्भावना व भाईचारे की भावना को न्यून करता जा रहा है। वहीं प्राचीनकाल में पूर्व निर्धारित जीवन-मूल्यों के आदर्श हेतु पूरुषार्थ की कामना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने 'स्व' का होम किया जाता था। दोनों ही स्थिति में 'स्व' महत्त्वपूर्ण है, किंतु अतिवाद की स्थिति कभी भी उचित नहीं रही। इस अतिवाद में मध्यमार्ग हमेशा स्थिर रहा है। मध्यमार्गीय विचारधारा वाले अपने युगबोध को आत्मसात् कर अपने समय की परिस्थितियों के प्रति सजग हो। इन परिस्थितियों व प्रवृत्तियों के अनुसार मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों–प्रेम, अहिंसा, त्याग, दया, सहानुभूति, परोपकार व आपसी सौहार्द हो स्थापित करते रहे हैं और आज भी आधुनिक युवा इससे अछूता नहीं है। अप्रैल 2011, में अन्ना हजारे ने 'जन लोकपाल' बिल बनाने के लिए जब आंदोलन छेड़ा था तो अप्रत्याशित रूप से आधुनिक वर्ग की हिस्सेदारी अहम् थी। 'लोकपाल आंदोलन ने जोरदार तरीके से हमारी यह गलतफहमी तोड़ी है कि युवा पीढ़ी अपने आसपास को लेकर उदासीन है कि उसकी दिलचस्पी सिर्फ करियर, पैसे, कार, गैजट्स में है। मुद्दों के लिए आवाज उठाना अधेड़ पीढ़ी का फर्ज मान लिया गया था। लोकपाल का धन्यवाद कि वह गलतफहमी दूर हो गई। नई मजॉरिटी जेनरेशन देश को लेकर उतनी ही फिक्रमंद है, जितना उसे होना चाहिए। पिछली पीढ़ी यह सोचकर चैन की साँस ले कि मुल्क उसके बाद भी महफूज रहेगा।'[11] 'शहरी भद्रलोक देश की तकलीफों से कटता दिख रहा था, सरकार के रहम के बिना जीने का तरीका उसने ईजाद कर लिया था और पॉलिटिक्स उसके लिए मजाक का मुद्दा बनकर रह गई थी। यह कुछ महीने पहले था, जब तक करप्शन जैसे सामाजिक, राजनीतिक मुद्दे पर सरकार से जंग नहीं छिड़ी थी। आज का पढ़ा-लिखा, तरक्कीयाफ़्ता, खुशहाल और जागरूक तबका एक सियासी लड़ाई में खोया हुआ है। भारत का बहुमत, भारत की जवानी सड़कों पर अपना पहला राजनीतिक सबक सीख रही है। अपने लोकतंत्र की आत्मा से जुड़ रही है और इस बात पर सोच रही है कि कैसा भविष्य चाहिए। ...इस आंदोलन ने हमें अपने राष्ट्रवाद या देशप्रेम को सच साबित करने का मौका दिया है।'[12] इस आंदोलन ने भारत को अपने युवावर्ग पर गर्व व भरोसा करने का आश्वासन दिया है कि युवावर्ग केवल भौतिकवादी चकाचौंध से भ्रमित नहीं, अपितु अपने आस-पास की परिस्थितियों व स्थितियों के प्रति सजग एवम् चिंतनशील है। यही चिंतनशीलता उसे 'निर्भया कांड' के लिए सड़कों पर आने को मजबूर करती है। चलती बस में एक लड़की के साथ हुए नृशंस सामूहिक बलात्कार से पीड़ित पीड़िता को न्याय दिलाने व दोषियों को शीघ्रातिशीघ्र कड़ी-से-कड़ी सजा दिलाने के लिए हमारा युवावर्ग हाथ में केंडल लिए सड़कों पर उतर पड़ता है और सरकारी ढुलमुल रवैये व सुस्त न्यायिक प्रक्रिया को चुस्त और गंभीर होने के लिए विवश करता है। यह युवावर्ग की ताकत का ही प्रभाव था कि बलात्कार संबंधी मामलो में संशोधन कर उसे पीड़िता के प्रति सहायक और दोषियों के लिए अधिक कठोर बनाया गया। 'निर्भया कांड' के बाद से ही क्रूर बलात्कारी को फाँसी की सजा का कानून में प्रावधान हुआ।

कभी ग्रामीण परिवेश में हमारे समाज में स्वच्छता व शुचिता को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था, किंतु शहरी जीवन में उन संस्कारों की अनदेखी की गई कारणवश साफ-सफाई हमारी

 ISSN 0975-735X

जीवन-शैली का हिस्सा नहीं बन सकी। इसीलिए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा घोषित स्वच्छ भारत अभियान को आगे बढ़ाते हुए शिक्षा मंत्रालय ने स्वच्छ विद्यालय मुहिम चलाने की बात कही है। इस दिशा में ढंग से आगे बढ़ा गया तो आने वाली पीढ़ी स्वच्छता को एक जीवन-मूल्य के रूप में अपना सकेगी। किंतु अपने सीमित क्षेत्र में ही सही, दिल्ली मेट्रो ने सफाई को एक सामाजिक मूल्य के रूप में न केवल स्थापित किया है, बल्कि यात्रियों में इसकी स्वीकार्यता भी बनाई है जिसमें युवावर्ग का प्रमुख योगदान है। 'नवभारत टाइम्स' के 'खुद अपनी आँख से' कालम में उमेश चतुर्वेदी के अनुसार 'वाकया राजीव चौक मेट्रो स्टेशन का है। गुड़गांव मेट्रो पकड़ने के लिए बढ़ा तो पुलिस बूथ से गिनकर दस कदम आगे एक महिला रोती हुई नजर आई। साथ में उसका सामान और तीन बच्चे बैठे थे। पहली ही नजर में महिला उस समाज की लग रही थी, जिससे हमारे खबरिया चैनल दूर रहने में ही अपनी बहादुरी समझते हैं। लेकिन महिला के पास एक युवा आधुनिकता खड़ी थी। उसके आँसुओं से तरबतर चेहरे और दुखी आँखों ने एम॰एन॰सी॰ में काम करने वाली उस लड़की को अपनी तरफ खींच लिया था। अभी वह महिला से रोने का कारण पूछ ही रही थी कि शानदार कपड़े पहने, हाथ में महँगा टेबलेट लिए एक लड़का भी आ गया। उसने पूछा तो पता चला कि वह महिला अपने तीन छोटे बच्चों और एक पंद्रह साल के लड़के के साथ छपरा से आई थी। राजीव चौक के बदरपुर जाने वाली मेट्रो की तरफ वह सामान और तीन छोटे बच्चों के साथ बढ़ी, लेकिन भीड़ की रेलमपेल में उसका बड़ा बेटा मेट्रो में चढ़ गया। उसके ही साथ उसका मोबाइल और खानेवाला झोला भी चला गया। धुर देहाती महिला को अब समझ नहीं आ रहा था कि क्या करे। तीनों बच्चे भूख से छटपटा रहे थे। पूछताछ करने वाली लड़की सबसे पहले एक बच्चे को केफेटेरिया गई और खाने का सामान लेकर लौटी। लड़का भागकर पुलिस बूथ में पहुँचा। तब तक भीड़ जम गई थी। उसमें से महिला का सहयोग करने के लिए हाथ आगे बढ़ने लगे थे। दिलचस्प यह है कि आगे बढ़ने वालों में सबसे ज्यादा संभ्रांत शहरी परिवार के युवा लड़के और लड़कियाँ ही थे। ढाँढस बँधाते हुए कोई खाने को पूछ रहा था तो कोई बच्चों के लिए पानी की बोतल ला रहा था।.... संबल देनेवाले ज्यादातर हाथ उसी वर्ग के थे जिसके युवाओं पर आए दिन स्टंट करने, अनियंत्रित रफ़्तार से दिल्ली में गाड़ी चलाने, तहजीब को छोड़ देने और बात-बेबात झगड़ा और मारपीट करने का आरोप लगते रहते हैं। इससे इस वर्ग की छवि बेहद खराब हुई है।'[13] लेकिन ऐसी घटनाऐं साबित करती है कि इंसानियत के साथ जीने वाले उस वर्ग में भी है, जिनके बारे में माना जाता है कि उनके अंदर दिल नहीं, सिर्फ दिमाग है। अत: दैनिक जीवन में हम अपने आस-पास अपराध, अत्याचार, गुंडागर्दी में लिप्त युवावर्ग को देखते हैं तो उन्हीं में से कुछ युवाओं को हम दया, करुणा, संवेदना, मानवता, सहनशीलता, विवेक, सांस्कृतिक व राष्ट्रप्रेम जैसे शाश्वत् जीवन-मूल्यों को स्थापित करते हुए भी देखते हैं। आखिर इनके पास भी दिल है। अपने परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति प्रेम, विश्वास व श्रद्धा है। हर युग की तरह इस युग का युवावर्ग भी अपने युग को सजाएगा, सँवारेगा व विस्तार कर भविष्य के लिए जीवन-मूल्यों को प्रेरणा देगा।

संदर्भ

1. वामन शिवराम आम्टे, संस्कृत हिंदी शब्दकोश, पृ॰ 721.
2. श्यामसुंदर दास व रामचंद्र वर्मा, हिंदी शब्द सागर, भाग-7, पृ.-357.
3. डॉ. मदनमोहन भारद्वाज, आधुनिक हिंदी-मराठी नाटकों में बोध, पृ॰ 3.
4. रामधारीसिंह दिनकर, आधुनिक बोध, पृ॰ 39.
5. धर्मवीर भारती, मानवमूल्य और साहित्य, पृ॰ 134.
6. सच्चिदानंद वात्सायन अज्ञेय, आधुनिक हिंदी-साहित्य, पृ॰ 18.
7. रामदरश मिश्र, रामदरश मिश्र रचनावली, पृ॰ 19.
8. वही, पृ॰ 17.
9. श्रवणकुमार, आधुनिकता और हिंदी साहित्य, पृ॰ 7.
10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आशोक के फूल, पृ॰ 1166.
11. संडे नवभारत टाइम्स, 21 अगस्त 2011, नई दिल्ली, जिंदगीनामा 'आज सड़कों पर उतरा जो भारत है, संजय खाती।
12. संडे नवभारत टाइम्स, 21 अगस्त 2011, नई दिल्ली, जिदंगीनामा 'आज सड़कों पर उतरा जो भारत है, संजय खाती।
13. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली। शनिवार 13 सितंबर 2014, 'खुद अपनी आँख से' कालम में, उमेश चतुर्वेदी।

मकान न. 48, **सेक्टर-सात**
आर॰के॰पुरम, दिल्ली 110022
मो॰ 09210036466

ISSN 0975-735X

घनानंद के काव्य में संयोगात्मक प्रेमाभिव्यक्ति

डॉ॰ गीता सिंह
जे॰के॰(पी॰जी॰)कॉलेज
मुजफ्फरनगर (उ॰प्र॰)

रीतिकाल की रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा के शिरोमणि कवि हैं 'घनानंद'। घनानंद कायस्थ जाति के थे और उनका जन्म उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर में सन् 1689 ई॰ के लगभग माना जाता है। निश्चय ही कायस्थ पुत्र घनानंद सुशिक्षित भी थे और पर्याप्त गुणसंपन्न भी। उच्चकोटि के कवि रसिकमना घनानंद अपनी युवावस्था में दिलफेंक भी रहे थे और अत्यंत उदार तथा उच्चकोटि के प्रेमी भी। उनके जीवन का और काव्य का भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना-प्रसंग 'सुजान प्रेम' इसी का सर्वोत्तम साक्षी है। जिस समय इनकी मृत्यु हुई थी, उस समय मथुरा-वृंदावन पर विदेशी आक्रमण चल रहा था। इनकी मृत्यु सन् 1739 ई॰ के लगभग मानी जाती है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने 'घनानंद ग्रंथावली' का संपादन करते हुए इनके ग्रंथों की कुल संख्या 33 बताई है। घनानंद उत्तम श्रेणी के गायक, संजीतज्ञ, कलाप्रेमी और कवि थे।

शृंगाररस के महत्त्व का प्रतिपादन भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ईसा से पूर्व ही कर दिया था। शृंगार का उदय मानव में सर्वप्रथम हुआ। कामवासना मनुष्य की सर्वप्रथम वासना थी और इसी वासना का परिणाम सृष्टि का विकास है। साथ ही नारी के प्रति आकर्षण इसी रस का मूल कारण है। समाज में आदिकाल से ही स्त्री के प्रति पुरुषों का आकर्षण और पुरुष के प्रति स्त्री का आकर्षण एक प्राकृतिक नियम है। मीरा आदि कवयित्रियों की अभिव्यक्ति आध्यात्मिकता के आवरण में ही हुई।

भक्तिकाल में आकर शृंगार के रूप को आध्यात्मिक रंग मिला। जायसी, कबीर आदि ने प्रेम और ज्ञान के आवरण से शृंगार को ढककर देखा। तुलसीदास और सूरदास ने भी शृंगार को संयत भाव से देखा।

रीतिकाल में आकर कृष्ण के उस असामान्य रूप को एक सामान्य रूप में परिवर्तित कर दिया तथा गोपियों का स्थान अनेक नायिकाओं ने ग्रहण कर लिया। लौकिक शृंगार को ही प्रधानता दी जाने लगी। संयोग के अश्लील चित्रों की ओर रीतिकालीन कवियों का ध्यान अधिक रहा। अंतर्वृत्तियों को इनके काव्य में उतना ध्यान अथवा स्थान नहीं मिला जितना बाह्य व्यापारों और क्रिया-कलापों को दिया गया, किंतु बहुत से लोगों के इस प्रकार प्रवाह में बह जाने पर कुछ इस प्रकार के लोग भी थे, जो अधिक विचारशील थे और जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को इस प्रवाह में बहाया नहीं। घनानंद, ठाकुर और बोधा इसी प्रकार के स्वतंत्रचेता थे।

घनानंद का काव्य भी पूर्णरूपेण शृंगाररस को ही प्रवाहित करता है। शृंगार की भावराशि

इनके काव्य में भरी पड़ी है। संयोग और वियोग दोनो पक्षों का इनके काव्य में समावेश है, किंतु वियोग के साथ-साथ इन्होंने संयोग पक्ष का भी हृदयग्राही वर्णन किया है। घनानंद के काव्य में शृंगाररस के सभी पक्षों, नायक-नायिका के रूपवर्णन, नख-शिख, सौंदर्य-वर्णन, मिलन से पूर्व अभिलाषा तथा मिलन के समय का वर्णन कर शृंगार के संयोग-पक्ष को प्रस्तुत किया। घनानंद रीतिकालीन शृंगारी कवियों से भिन्न हैं। इन्होंने अपने हृदय की स्वच्छंद भावनाओं के साथ शृंगार का भी स्वच्छंद चित्रण किया है।

घनानंद के प्रेम का आलंबन 'सुजान' है। इन्होंने उसके रूप का विशद चित्रण किया है। 'सुजान' के रूप के स्थूल चित्रण को कवि ने महत्त्व नहीं दिया। उसने उसकी व्यापक सौंदर्य-चेतना का आकलन किया है। उनका सौंदर्य-चित्रण सर्वाधिक भावपूर्ण रससिक्त तथा आकर्षक है। घनानंद के काव्य में रूपसौंदर्य के सामूहिक चित्र बड़े प्रभावोत्पादक हैं। निम्नलिखित छंद में सुजान का समवेत रूप में सौंदर्य अंकित है–

झलके अति सुंदर आनन गौर छके दृग राजति काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छवि फूलन की बरखा उर ऊपर राजति ह्वै।'

घनानंद का संयोग शृंगार अधिकांशत: सुजान के रूप-वर्णन से ही संबंधित है। शास्त्रीय दृष्टि से नायिका के साथ नायक के नेत्रों का मिल जाना ही संयोग है। प्रेम की उत्पत्ति में नृत्य, गीत, वाद्य आदि का सम्मोहक प्रभाव परिलक्षित होता है। संयोग की स्वरलहरी के आलौकिक आनंदानुभव और व्यापक प्रभाव से घनानंद अछूते न रहे। स्वच्छंद वृत्ति के कवि घनानंद का संयोग-वर्णन नवीन भावभूमि पर स्थित है। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों ने संयोग-शृंगार के उपादानों में कटाक्ष, स्पर्श, चुंबन, कपोल-मर्दन, आलिंगन आदि को प्रस्तुत किया, किंतु घनानंद इस शृंगारिक कर्दम से कमलवत् निर्लिप्त रहे।

वियोग वर्णन में आवेगपूर्ण छंदों की बहुलता के नाते घनानंद के विहर-वर्णन को प्रवाह-विरह के रूप में ही देखा गया है। मुक्तक की प्रकृति भी किसी योजना की अनिवार्यता नहीं मानती और प्रवास-विरह की गंभीरता असंदिग्ध होती है। अत: घनानंद प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति के लिए प्रवासजन्य कारण का औचित्य ही सामान्यत: स्वीकृत है। आतुरता ही पूर्वराग को प्रगाढ़ करती है, जो घनानंद के अनेक छंदों में मुखर है। इस प्रकार पूर्वराग का आरंभ वहीं हो जाता है, जहाँ प्रेमी का मन प्रिया के रूप से देखकर अन्य स्थलों से उचाट हो जाता है–

घन आनंद मीत सुजान लखैं, अभिलाखनि लाखनि भाँति रई।
रूप-माधुरी पान कौ आतुर पै अंखियाँ दुखियाँ कित भोरी भई।'

जबसे वह प्रिय आँखों में बस गया है, तबसे सारा जगत सूना हो गया है।

प्रवास-विरह के समान ही वियोग की सभी दशाओं को पूर्वराग में दिखाने की अस्वाभाविक रूढ़ि घनानंद की रुचि को स्वीकार नहीं हो सकती थी, अत: लालसा और उसकी तृप्ति में विलंब से होने वाला कष्ट ही यहाँ पूर्वराग में वर्णित है।

घनानंद ने राधा की रूप माधुरी को भी संयोग शृंगार के अंतर्गत दिखलाया है। उनके शरीर की ओर ही कवि का ध्यान नहीं गया वरन् उसके हाव-भाव और चेष्टाओं को भी सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित किया है। राधा की चितवन लज्जा के आवरणों से युक्त और गंभीर भावों से पूर्ण है। उसकी कटाक्ष पूर्ण, आँखें अत्यन्त ही चंचल और सुंदर हैं। राधा की स्वाभाविक चंचलता का

 ISSN 0975-735X

हृदयगामी वर्णन है। राधा का मुख सौंदर्य की निधि है। उसका मस्तक भी रुचिर है। जिस समय वह स्मित का प्रसार करती है, उस समय रस धीरे-धीरे निचुड़ने लगता है। जिस समय राधा हँसती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके वक्षस्थल पर पड़ी मोती की माला संभवत: उसकी हँसी की ही चमक है। इस प्रकार चंचल राधा का एक-एक अंग उसकी चेष्टाएँ यह प्रदर्शित करती हैं कि उसके अंग में अनंग का रंग पूर्णरूप से व्याप्त है।

प्रिया सुजान के जिस रूप ने घनानंद को ऐसा विलक्षण प्रेमी बना दिया। उस रूप की विशेषताएँ अन्यत्र दुर्लभ हैं। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, वह यह है कि सुजान को किसी दूसरे की प्रेमिका के रूप में घनानंद ने कभी नहीं देखा। उनकी दृष्टि उसके विलक्षण सौंदर्य पर तब से लगी हुई थी, जब वह वय:सन्धि की अवस्था पार करने वाली थी। रूप की यह कली कोमल होना चाहती है। प्रेमी की दृष्टि तभी से लगी हुई है। उससे भी पहले से वह उस रूप के प्रति समर्पित है–'आगै ते अधिक अब लागन लगी भली।'

भली वह पहले भी लगती थी–अब वह आकर्षण बढ़ता जा रहा है। कली फूल बनने की प्रक्रिया में है उसके एक-एक अंग में 'ऊठ' (उठान-उभार) उसकी चाल को पग-पग पर ऐंठ से भर देती है–

बैस है नवेली अलबेली ऊठ अंग-अंग,
झलकें अनंग रंग ऐंड़त चलत है।

घनानंद द्वारा वर्णित प्रिया के रूप के संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ अंगों के कोरे वर्णन-मात्र नहीं हैं। नख-शिख का निर्वाह तो नहीं किया है, लेकिन प्रिया के जिन विशिष्ट अंगों का वर्णन किया है, उनमें भी गति और मुद्राओं का विशेष ध्यान रखा है। इससे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि आश्रय के मन पर होने वाली प्रतिक्रिया का संकेत प्रत्येक रूप-चित्र में है–

नैननि बोरति रूप के भारै
अचंभे भरी छतियाँ-उधराई।

इस प्रकार के बहुत सारे सौंदर्य-चित्र हैं, जिनमें प्रेमी की लालसा की उपस्थिति देखी जा सकती है। इसी उपस्थिति या आत्मीयता के कारण घनानंद के चित्र न तो नकली लगते हैं, न बाजारू और न दूसरे नायक-नायिकाओं के रचित।

संपूर्ण शरीर की शोभा की व्यंजना ऐसे ही अनेक छंदों में अद्‌भुत प्रभावोत्पादकता के साथ हुई है। प्रिया की लाज में लिपटी अनेक प्रकार के भावों और भेदों से भरी हुई चितवन उसके विलक्षण नेत्रों के बाँकपन में प्रकट होती है। उसकी बातों से रस निचुड़ता है। उसके मुड़ जाने, उसकी गति में अनंग के अनेक रंग एक साथ ही प्रकट हो जाते हैं।

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाय-भरी,
लसति ललित लोल चख-तिरछानि मैं।
छबि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस, निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि घनानंद की प्रिया का यह असाधारण रूप सौंदर्य ही है, जिसका प्रभाव उसके विरह को इतना तीव्र और आवेगमय बना देता है। रूप-सौंदर्य का

उपर्युक्त चित्रण रीति-परंपरा से मुक्त रहने वाले या यों कहें कि उस परंपरा के प्रति अज्ञान रखने वाले कवि के लिए संभव नहीं होता। इस संबंध में डॉ॰ भगीरथ मिश्र का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'घनानंद ने रूप और भाव का चित्रण किया है, जो बड़ा ही मार्मिक है और ऐसे चित्रण को हम केवल आलौकिक सौंदर्य का भक्त-सुलभ चित्रण कहकर टाल नहीं सकते।'

घनानंद के काव्य में संभोग शृंगार का चित्रण वियोग की अपेक्षा कम हुआ, लेकिन इनके काव्य में संभोग शृंगार के चित्र अवश्य मिलते हैं। कवि ने दर्शन, रीझ, मति के छोले जाने, बिक जाने, रूप-प्रशंसा आदि संयोग-संबंधी अनेक चित्र प्रस्तुत किए। संभोग के जितने भी छंद मिलते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि सुजान के साथ शरीर-संबंध स्थापित करने का सुअवसर कवि के जीवन में अवश्य आया था। संभोग से पूर्व मानसिक स्थिति में आसन्न संयोग सुख का उल्लास, हृदय की उत्सुकता तथा आकुलता का वर्णन कवि ने किया है। संभोग की पूर्व अवस्था में कवि ने नायिका की विविध आंगिक चेष्टाओं तथा शरीरांगों के असामान्य संचालन का सजीव चित्रण किया है।

संभोग शृंगार में घनानंद ने शुद्ध रतिक्रीड़ा को भी चित्रित किया है। संभोग की पूर्व संभोग-वर्णन की दशा का वर्णन करते समय कवि ने किसी प्रकार का दुराव छिपाव नहीं रखा। वह सुजान पर पूरी तरह आसक्त है। सुजान के दर्शनलाभ से वह अपने जीवन को सफल मानता है। अगर उसे सुजान के साथ सामीप्य का आश्वासन मिल जाए तो उसे सुजान के पाँवों में सिर घिसने में रंचमात्र संकोच नहीं है, क्योंकि उसने सच्चा प्रेम किया है, जिसमें उसे झिझक नहीं है।

संभोग सुख की प्राप्ति के लिए वह अत्यंत दीन होकर, हाथ जोड़कर आँखें नीची करके उसके हुक्म का गुलाम बनने के लिए तैयार है, क्योंकि सुजान के समीप होने की उत्कट लालसा उसके मन में है। घनानंद के प्रेम शृंगार के संयोगपक्ष में संभोग सुख की उमंग, मिलन का उत्साह, आनंद क्रीड़ा की आतुरता, रतिसुख का उत्साह, सामीप्यलाभ का हर्ष तथा संसर्ग की लालसा का उद्दाम वेग भरा हुआ है। इस अवसर पर कवि के प्रत्येक अंग में एक विचित्र प्रकार का उल्लासमय स्पंदन हो रहा है–

ललित उमंग-बेली आलबाल-अंतर तें,
आनंद के घन सींची रोम-रोम ह्वै चढ़ी।
आगम-उमाह-चाह छायौ सु उछाह-रंग,
अंग-अंग फूलनि दुकूलनि परै कढ़ी।

घनानंद ने कृष्ण और राधा के माध्यम से तथा गोपियों के द्वारा भी संभोग शृंगार की कामपरक चेष्टाओं का वर्णन किया है। नायिका कृष्ण के कटाक्ष की पैनी धार के समक्ष प्रेम में बेसुध होकर एकांत में आकर भी लाज से थकित हो उठती है–

दृग छाकत है छवि ताकत ही मृगनैनी जबै मधुपान छके।
घनआनंद भीझ हँसै सु लसै झुकि झूमति घूमति चौंकि चके।

उनके दृग छवि निहारते ही छक जाते हैं तथा प्रेमार्द्र होकर झुक जाते हैं।

घनानंद के काव्य में संयोग के नग्न और खुले चित्र अत्यल्प हैं तथापि कपितय छंदों में उन्होंने संभोग-सुख का नि:संकोच भाव से वर्णन किया है। संभोग वर्णन में शुद्ध रतिक्रीडा का

 ISSN 0975-735X

चित्रण मिलता है। इस प्रकार घनानंद ने संयोग शृंगार में प्रियतम और प्रियतमा के संभोग एवं विलास के चित्रणों को भी स्थान दिया है, किंतु उन चित्रणों में भी कवि की अंतर्दृष्टि भाव के सागर से अंतस्तल में बैठकर ही वृत्तियों के अनेक मोतियों की खोज कर रही है। नायिका रात्रि को नायक के साथ विलास में प्रवृत्त रही। उस समय की शोभा का चित्रण घनानंद की लेखनी ने कितना सुंदर किया है–

रस आलस भोय उठी कछु सोय,
लगी लसे पीक पगी पलकें,
घन-आनंद ओप बढ़ी मुख ओर
सुफैलिनी गई सुथरी अलकें।

कवि ने अपने काव्य में संयोग पक्ष के प्रेमलीला भाव का सुंदर एवं सूक्ष्म रूप में हृदयग्राही वर्णन किया है। प्रियतम के वियोग से प्रेम में भरी गोपियाँ इतनी सुंदर लगती है कि उसकी समानता कहीं खोजने पर भी नहीं मिलती। वह अत्यंत प्रसन्न है। प्रेम के खेल की खिलाड़िन है। डफ बजाकर गाली गाती है। प्रेमिका अत्यंत ही सुकुमार है। जब वह मंद गति से चलती है तो उरोजों के भार से उसकी कटि लचक जाती है। उसके पैरों के टखनों को देखकर दृग घायल हो जाते हैं–

पिय के अनुराग सुहाग भरी रति हरै न पावत रूप-रफै।
रिझिवारि महा रसरासि-खिलार सु गावत गारि बजायै डफै।

इस प्रकार के अनेक चित्र को घनानंद ने संयोग-पक्ष में दिखाए हैं। नायक नायिका की प्रेम-लीला संबंधी अनेक सुंदर एवं सूक्ष्म भावों को जिस मनोहरता के साथ इस भावुक कवि ने दिखाया है, उस प्रकार का वर्णन रीतिकाल के ही नहीं वरन् कृष्ण भक्तिधारा के एक दो कवियों में कवियों में भी मिलेगा।

घनानंद ने अपने काव्य में कृष्ण और राधा तथा अन्य गोपियों को संयोग-पक्ष के अंदर अनेक क्रीड़ाओं में प्रवृत्त किया है, किंतु सूरदास के कृष्ण ने जितनी क्रीड़ाओं और लीलाओं में अपने संयोग काल को व्यतीत किया, वह घनानंद में नहीं। लेकिन फिर भी कुछ क्रीडाओं का सुंदर वर्णन उनके काव्य में मिलता है। संयोग पक्ष में दानलीला, झूला और हिंडोले पर झूलना, होली के रंग में रँगना, वंशी निनाद, गोचारन आदि अनेक लीलाओं को प्रदर्शित किया गया है। कृष्ण की वंशी, पीतपट आदि का सुंदर चित्रण है। वंशी का जादू घनानंद के संपूर्ण काव्य में भरा पड़ा है–'कैसे धीरज धरैं हाथ हमैं मुरली-ध्वनि बौरावै हो।'

बाँसुरी की तान ब्रज बालाओं की लज्जा का निवारण करके उनको प्रेम में रँग लेती है। वंशी की ध्वनि यमुना की गति को भी रोक लेती है-

ऐसी विसवासिनी बजाय बैर बाढ़जि है,
काढ़ति धरनि तें उपायनि उचाटि लै।
बाँसुरी की बाजनि बिराजै बन व्यापक हौ,
देखों गति जमुना की राखि राग पाटि लै।'

घनानंद का काव्य-प्रबंध नहीं है और न ही उन्होंने किसी प्रकार की काव्यरूढ़ि का अंधानुकरण ही पसंद किया है। इसलिए घटना के रूप में संयोग अथवा मिलन के वर्णन का

सवाल नहीं उठता, किंतु प्रिया के उत्तेजक सौंदर्य, उसकी मुद्राओं अंगभंगी और उनके प्रति प्रेमी की आतुर पिपासा की अभिव्यक्ति घनानंद अनेक छंदो में विलक्षण रूप में करते हैं। प्रिया की सलज्जता प्रेमी के हृदय पर क्या गजब ढाती है–

घूँघट काढ़ि जो लाज सकेलति लाजहि लाजति है बिन काजनि।
देखत देखत दीसि परै नहिं यों बरसैं घन आनंद लाजनि।'

यह घूँघट लज्जा के अभिनय के रूप में प्रखर उद्दीपन का काम करता है। यह 'बिन काजनि' (बिना ज़रूरत) लाज है, अर्थात् लज्जा का अभिनय है।

प्रेमी प्रिया को पकड़ लेने की ताक में है, लेकिन उसके दाँव व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि वह प्रिया के रूप का छककर पान करने के कारण होश में नहीं है। उधर प्रिया इतनी हाव-भाव युक्त और चंचल है कि उसे अपनी छाया भी नहीं छूने देती। प्रिया के अपनी पकड़ में न होने पर असफल प्रेमी दुखी या निराश होने के स्थान पर और भी अधिक मुग्ध होकर अपने हौंसले सजाने लगता है–

दांच तके रस छके बिथके गति पै अति चोपनि धावै।
चौंकि चलै, ठठि छैल छलै, सँछबीली छराय लौ छांह न छ्वावै।

उपर्युक्त चित्रणों से इतना सिद्ध हो जाता है कि घनानंद का सुजान के प्रति प्रगाढ़ और असाधारण प्रेम उसी समय विख्यात हो गया था, जिस समय उन्होंने काव्य-साहित्य में प्रवेश किया था। घनानंद को केवल प्रेम की पीर का कवि न मानकर उनके छंदों में अभिव्यक्त होने वाले प्रगाढ़ चित्रों के कारण उनको काव्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कवि कहा जा सकता है।

संयोग शृंगार के अंतर्गत कवि ने कृष्ण और गोपियों का पारस्परिक प्रेम-विवाद आदि अनेक विषयों को अपनी पदावली में स्थान दिया। संयोग के जो वर्णन उनके कवित्त और सवैयों में हुए हैं, वे अत्यंत उच्चकोटि के हैं और उनमें संयोग पक्ष की बहुरूपता के अनेक चित्र ऐसे हैं, जो घनानंद को महाकवि स्वीकार करने को विवश करते हैं।

घनानंद के काव्य में तुलसीदास जैसी अनन्य एकनिष्ठता और समर्पण भाव है, बिहारी जैसी कला-कुशलता है, रीति स्वच्छंद प्रेम-गायक कवियों की सघन और तीव्र प्रेम की पीर है एवं लौकिक और पारलौकिक प्रेम के संबंध की उनकी अवधारणा सूफ़ियों की तुलना में अधिक स्पष्ट है। इस प्रकार घनानंद का काव्य अपनी गुणवत्ता के कारण इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है।

संदर्भ

1. महाकवि घनानंद, श्रीराम वशिष्ठ, विनोद पुस्तक मंदिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा
2. घनानंद का शृंगार काव्य, डॉ॰ रामदेव शुक्ल, मेकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली
3. घनानंद की काव्य साधना, डॉ॰ सभापति मिश्र, चित्रलेखा प्रकाशन, 170 अलोपी मार्ग, इलाहाबाद 211006
4. हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

उत्तरांचल में रंगमंच का उद्‌भव

डॉ॰ सुशील कुमार
प्रवक्ता (हिंदी)
राजकीय इंटर कॉलेज, नौल-बासर (टिहरी गढ़वाल)

जहाँ जनमानस ने निर्मल नदियों के उन्मत्त प्रवाह से 'आंगिक' पवनदोलित विपुल वनराशि में उत्पन्न संगीत से 'वाचित' बहुवर्णी सुवासित पुष्पघाटियों से 'आहार्य' और समाधिलीन हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों की अलौकिक आभा से 'सात्त्विक' तत्त्व लेकर जीवन-संघर्ष का चिरंतन गीत गाया है, ऐसी दिव्यभूमि उत्तरांचल (कुमाऊँ-गढ़वाल) में रंगमंच का उद्‌भव मानव-संस्कृति के उद्‌भव के साथ ही होना चाहिए।'[1] इस संदर्भ में भरत-रचित नाट्यशास्त्र का एक श्लोक उद्‌धृत है–

बल्हीकभाषोदीच्यानां खषना च स्वदेशजा।
शबरादीनां शकादीनां तत्स्वभावश्च यो गण:।[2]

इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में यदि 'खष' जाति (पौराणिक काल में गढ़वाल-कुमाऊँ में बसने वाली राजपूत जाति) का अभिनेता हो तो उसे अपनी भाषा ही बोलनी चाहिए।'

उत्तरांचल में प्रारंभिक रंगमंच के निर्माणकाल में गाँव की बालिकाएँ, नववधुएँ, युवतियाँ, युवक अपने कामकाज से निपटकर प्रत्येक शाम को बीती हुई घटनाओं को गीतों के माध्यम से व्यक्त कर और उनकी धुनों के संग शरीर को भी हिलाने लगे। धीरे-धीरे वह शरीर नृत्य के रूप में बदलने लगा। इस प्रकार बाँह से बाँह मिलाकर थाड्या गीत के रूप में, पैर व हाथ मिलाकर चौफला गीत के रूप में नृत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया। ये नृत्य ही आगे चलकर घास-काटती उत्तरांचल की महिलाएँ व धान कूटती तथा अन्य श्रम करती हुई युवतियाँ अनेक विधाओं के नृत्य को जन्म देती चली गईं। उत्तरांचल की जनता जब वीरगाथाओं से अवगत हुई, तब शिव के नाद से प्रेरित होकर ढोल दमऊँ का निर्माण होने लगा। छोटे रूप में डौंर व थाली ने ही जन्म लिया। वीरगाथाओं को जनता समझने लगी और उनके बोलों पर जनता का शरीर थिरकने लगा तब पांडव नृत्य, देवीनृत्य, डौंर-थाली पर जागरनृत्य ने रूप लेना शुरू कर दिया। ये नृत्य अधिकांशत: देवताओं की कथाओं पर आधारित हैं। जब समाज कुछ शृंगारिक रूप में परिवर्तित होने लगा तो शृंगाररस में उत्तरांचल की जनता नए ढंग के गीतों की रचना करने लगी। वादी-वादणी के रूप में कुछ व्यावसायिक गायक-वादक उत्पन्न होने लगे व ये वादी अपनी रोजी रोटी हेतु समाज में घटने वाली घटनाओं एवं मनोरंजन हेतु शृंगारिक गीत स्वयं रचकर एवं गा-गाकर खानाबदोश उत्तरांचल में घूमने लगे। इस प्रकार वादी नृत्य विकसित हो गया। वादी-वादणी को बेडा-बेडीण भी कहा जाता है। इन्हें नटराज के अंश के रूप में भी समाज ने स्वीकार किया।

बेडा जटाधारी होता है जो शिव का प्रतीक है। पुराने समय में बेडा एक ऊँची पहाड़ी से दूसरी ऊँची पहाड़ी को रस्सी के सहारे पार करता था। इसके अलावा लाँग (लकड़ी की बल्ली) में भी घूमता था। ये रोमांचपूर्ण कारनामे जनता का मनोरंजन करते थे। बताते हैं कि हिमाचल प्रदेश के सिरमौर-नरेश ने दो पहाड़ियों के बीच की खाई को एक बेडा से पार करने को कहा, जिसके उपलक्ष्य में राजा ने बेडा को आधा राज्य देने की घोषणा की। जब बेडा आधी से अधिक खाई को रस्सी के सहारे पार कर चुका था, तब राजा ने घबराकर रस्सी कटवा दी और बेडा खाई में गिरकर मर गया। मरते समय बेडा ने संपूर्ण सिरमौर नगर को नष्ट होने का शाप दिया और कुछ ही दिनों में सिरमौर भयंकर बाढ़ से नष्ट हो गया।'[3]

बेडा और बेडीण गाँव के चबूतरे में बैठकर अर्धनाटिका के द्वारा गाँव की जनता का मनोरंजन करते थे। इस अर्धनाटिका में बेडा व बेडीण गाते हुए नृत्य करते थे व अभिनय के द्वारा अपना प्रभाव जनता पर जमाते थे।

गढ़वाल में डौंर व कुमाऊँ में हुड़क्या ने जन्म लिया। हुड़क्या नृत्य भी आम जनता द्वारा सामूहिक रूप से गा-बजाकर किया जाता था। मधुरता को लाने के लिए मुरली-मोछन का स्वर विकसित होने लगा। वीररस को प्रभावी बनाने के लिए रणसिंहा, तूरीय व भंकोर का आविष्कार हुआ। ये वाद्य ढोल-दमऊँ के साथ देव-मंदिरों में विवाहादि समारोह में बजने आरंभ हो गए और इस प्रकार देवी के थौल (मेला) में पांडव नृत्य लोकप्रिय होता गया और ऐसे ढोल नृत्य गाँव के चौतरों (चबूतरों) में जनता के सम्मुख प्रस्तुत होने लगे। इन लोकनृत्यों में कोई विशेष कलाकार (रंगकर्मी) नहीं होते थे। जनता ही स्वयं उत्साहित होकर नृत्यरत हो जाती थी। यहीं से उत्तरांचल के प्रारंभिक रंगमंच का स्वरूप विकसित होता गया, जो और विकसित रूप में आज भी दिखाई देता है।'[4]

उत्तरांचल के विभिन्न शिलालेखों, ताम-पत्रों और हस्तलिखित ग्रंथों में खष, खश, खस तीनों प्रकार के शब्द अंकित हैं, अर्थात् इन तीनों अक्षरों के लिए एक ही उच्चारण था। वर्तमान कुमाऊँनी, गढ़वाली और नेपाली भाषा मूलतः 'खष' प्राकृत की देन है। आज भी इन भाषाओं में 'स', 'ष', 'श' इन तीनों अक्षरों के लिए 'ष' का ही उच्चारण होता है। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भरतरचित नाट्यशास्त्र से पूर्व भी कुमाऊँ में रंगमंच का अस्तित्व था।

परंतु रंगमंच के उस शास्त्रीय युग के बाद बीसवीं सदी तक यहाँ रंगमंच का कोई स्थूल प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए कुमाऊँ में बीसवीं सदी के रंगमंच का सिंहावलोकन करने से पूर्व वहाँ की रंगमंचेतर अभिव्यक्तिपरक परंपराओं पर एक संवेदनात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है, क्योंकि ये परंपराएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ रंगमंच के पुनरोद्भव का प्रेरणास्रोत बनीं।

अध्यात्म, दर्शन, धर्म एवं संस्कृति के संदर्भ में गढ़वाल एवं कुमाऊँ को अलग-अलग दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। यहाँ की अनेकानेक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताएँ एवं परंपराएँ एक ही प्राकृतिक परिवेश के साहचर्य से उद्भूत संवेदना की अभिव्यक्ति है। यद्यपि उनके बाह्य स्वरूप में परस्पर न्यूनाधिक भिन्नता है। इन परंपराओं में अधिकतर अभिव्यक्तिपरक ही हैं।

दैवी शक्तियों की भक्ति एवं स्तुति में जागर, घंडेली, रणभूत नृत्य आदि गाथा गायन एवं अवतार नर्तन, राजाओं-ऐतिहासिक वीरों एवं जन-नायकों की प्रशस्ति में भड़ा गायन, नैसर्गिक

 ISSN 0975-735X

वैभव की विविध छटाओं में चमत्कृत मानस से प्रस्फुटित असंख्य लोकगीत, नैसर्गिक सौंदर्य की लय-ताल से प्रतिस्पर्द्धारत मनोहारी एकल समूह नृत्य आदि कुमाऊँ की लोकसंवेदना की बहुरंगी धाराएँ हैं, जो वहाँ शास्त्रीय रंगमंच के विलोपन के पश्चात् अद्यतन अविरल प्रवाह में कल-कल नाद करती रही हैं।

अल्मोड़ा जनपद के नंदादेवी जागर का विशिष्ट गायन, पिथौरागढ़ जनपद के आठों उत्सव में रामकथा एवं महाभारत-कथा का समूह गायन, पांडव जागर तथा संपूर्ण कुमाऊँ के उत्सवधर्मी पर्व एवं मेलों में भगनौल गायन आदि परंपराएँ अभिनय की नैसर्गिक चेष्टाओं-भंगिमाओं का कलात्मक दर्शन कराती हैं।

इन्हीं परंपराओं से स्पंदन और प्रेरणा लेकर बीसवीं सदी में कुमाऊँ के जनमानस ने नव जागृति की करवट ली। अपनी अभिव्यक्तिपरक कलाओं को नए युग की संचेतना का स्पर्श देना प्रारंभ किया, जो सदी के प्रारंभिक दशकों के बाद वहाँ रंगमंच पुनरोद्भव का कारण बना।

बीसवीं सदी का प्रारंभ एक प्रकार से कुमाऊँ-गढ़वाल के पुनर्जागरण का प्रारंभ कहा जा सकता है। कई सदियों से विकट जीवन-संघर्ष की वेदना तथा अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य के रस को एक साथ घोलकर अदम्य जिजीविषा का उत्सव मनाता जन सहम-सा गया था। हालाँकि उसने ढाई हजार वर्ष ईसा पूर्व से विभिन्न राजवंशों, यथा कत्यूरीवंश, चंदवंश, पालवंश और गौरखा वंश जैसे साम्राज्यों के शौर्य, कला, समृद्धि के साथ-साथ उनकी राजशाही, राजनीतिक उथल-पुथल एवं अत्याचारों को प्राकृतिक प्रकोपों की तरह नियति मानकर भोगा था। ये राजवंश उसकी अपनी भूमि, अपनी संस्कृति और सभ्यता के गर्भ से ही जन्मे थे, लेकिन 19वीं सदी के अंत तक भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन की तपस्थली इस पावन भूमि पर ब्रिटिश साम्राज्य के जूतों के चिह्न अमिट होने लगे। लैंसडाउन की वनाच्छादित चोटी पर देवदारु और चीड़ के वृक्षों से ऊपर ब्रिटिश छावनी का यूनियन जैक लहराने लगा था।'[5]

ब्रिटिश साम्राज्य की गहराती जड़ों के साथ संपूर्ण उत्तरांचल के जनमानस का बाह्य जगत् से व्यापक साक्षात्कार हुआ। राष्ट्र, राजनीति उपनिवेशवाद, शिक्षा, अर्थ, राष्ट्रीय एवं मानवीय अस्मिता जैसे विषयों से न केवल परिचय हुआ, बल्कि उन पर गहन चिंतन भी होने लगा। पहाड़ के लोग बदलते परिवेश से शिक्षित हुए और शिक्षा हेतु मैदानों की और बढ़े। अँग्रेजी सेना में भरती पहाड़ी नवयुवकों ने देश-विदेश के विभिन्न भागों की यात्रा की। राष्ट्र को समग्रता से जाना। संपूर्ण देश में चल रही स्वाधीनता संघर्ष की सुगबुगाहट और पराधीनता की गहरी वेदना का दर्शन किया। यूरोपीय देशों के राजनयिकसंघर्षों, वर्चस्व की लड़ाइयों, औद्योगिक क्रांतियों में उन्होंने एक नया संसार और नए संसार का भविष्य देखा। पहाड़ से मैदान की ओर बढ़कर लोगों ने जहाँ संपूर्ण राष्ट्र को बाँधे हुए सांस्कृतिक-आध्यात्मिक एकसूत्रता का अनुभव किया, वहीं वर्गभेद और जातिभेद सहित अनेक कलंक सदृश्य प्रथाओं का अभिशाप भी देखा। स्वाधीनता-आंदोलन से भी उनका परिचय हुआ।'

नये युग के इस साक्षात्कार ने कुमाऊँ-गढ़वाल को जागृति को एक नया स्पंदन प्रदान किया। अपनी अभिव्यक्तिपरक परंपराओं के माध्यम से नई चेतना का अनुभव व्यक्त करने हेतु नई सृजना का सूत्रपात हुआ।

गढ़वाल में तो सृजनों ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही रंगमंच का रूप धारण कर

लिया था, क्योंकि वहाँ पिछली कई सदियों से 'थौल', 'मंडाण' तथा 'कौथीग' जैसी नाट्यधर्मी लोकपरंपराएँ प्रचलित थीं। इन्हीं परंपराओं के धरातल पर सदी के दूसरे दशक में श्री भवानीदत्त थपलियाल ने 'जय-विजय' और 'प्रह्लाद' नाटक लिखे, जहाँ से आधुनिक गढ़वाली नाटकों का श्रीगणेश हुआ। सन् 1930 में उपर्युक्त नाटकों के साथ ही घनानंद बहुगुणा के 'समाज' नाटक का प्रकाशन हुआ। फिर 1932 में विशंबरदयाल रचित 'बसंती' के प्रकाशन एवं मंचन से गढ़वाल में रंगमंच का ऐसा प्रवाह बना, जो हर छोटे-छोटे कालखंड में अपने समाज और परिवेश के साथ राष्ट्रीयचेतना का साक्षी बना। छठे-सातवें दशक तक आते-आते गढ़वाल के रंगकर्म की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बन गई। राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय से जुड़े नाट्यविदों एवं गढ़वाल के प्रबुद्ध रंगकर्मियों के सम्मिलित सृजनात्मक प्रयासों से गढ़वाल के रंगकर्म ने बौद्धिक एवं तकनीकी विकास के कई सोपान तय किए।

इसके विपरीत कुमाऊँ में रंग-कर्म का प्रादुर्भाव कई वर्षों बाद हुआ। सदी का पूर्वार्द्ध एक प्रकार से रंगकर्मविहीन ही था। ऐसा नहीं है कि जनमानस नए जगत्, नए साक्षात्कारों के प्रति प्रतिक्रियाशील नहीं था या वह बौद्धिक रूप से गढ़वाल की अपेक्षा कम जागरूक हो पाया था। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि अतीत के आध्यात्मिक गौरव, नैसर्गिकसौंदर्य समृद्धि जीवन-दर्शन तथा संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुमाऊँ-गढ़वाल तत्त्वतः समरूप हैं। न्यूनाधिक विविधता है तो मात्र उनके बाह्य स्वरूप में। कुमाऊँ में रंगमंच का प्रादुर्भाव गढ़वाल की अपेक्षा कई दशक बाद होने के पीछे एक प्रमुख कारण है—गढ़वाल में कई सदियों से ऐसी नाट्यधर्मी लोकपरंपराओं का प्रचलन में होना, जिन्हें नाटक की लोकशैली कहा जा सकता है। नाटक का एक स्वरूप प्रारंभ से ही उपलब्ध होने के कारण गढ़वाल की सृजनात्मक बौद्धिक चेतना ने आधुनिक रंगकर्म के बीज सदी के दूसरे दशक में ही बो दिए थे।

कुमाऊँ में ऐसा नहीं था। वहाँ की परंपराएँ अभिव्यक्तिपरक अवश्य थीं, लेकिन नाटक के औपचारिक स्वरूप और परिभाषा से बहुत दूर। जागर देवगाथा गायकों की शैली एवं भंगिमा तथा भक्तिमूलक तरंगित ऊर्जा में एक रहस्यमय आकर्षण एवं वर्णनात्मक वैशिष्ट्य होता है, जिसकी प्रभाव-परिधि को तोड़कर नाट्य जैसी सृजनात्मक विधा की ओर मुड़ना संवेदनशील सृजकों के लिए रुचिकर न रहा होगा। इसी प्रकार ऐतिहासिक चरित्रों की गाथा का वर्णन करनेवाला भडा गायक एकलरूप से अपनी पारंपरिक शैली की विशिष्टता के बल पर संपूर्ण वातावरण को ऐसा तरंगित और आवेशित कर देता है, जो कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ कलात्मक अनुभवों को रसज्ञ समाज ने श्रद्धानत होकर अपरिवर्तित ही रहने दिया होगा और ऐसी विलक्षण परंपराओं के आकर्षण में बँधे हुए नाट्य-सृजना की कल्पना न की होगी।'

लेकिन भक्तिरस के आस्वादक कुमाऊँ के जनसमाज ने रामलीला जैसे लोकनाट्य को आज से लगभग डेढ़ सौ साल पहले ही अपना लिया था। उन दिनों अल्मोड़ा कुमाऊँ की मुख्य सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक नगरी थी, जो आज भी उस गौरव को सँजोये हुए है। इसी अल्मोड़ा नगरी में सन् 1860 में स्वर्गीय देवीदत्त जोशी, नायब तहसीलदार की प्रेरणा से रामलीला का श्रीगणेश हुआ। इससे पूर्व यहाँ ब्रज की मंडलियों द्वारा रास आदि ब्रज की नाट्य-शैलियों में राम और कृष्ण की लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता था।

बीसवीं सदी के प्रारंभ तक आते-आते अल्मोड़ा की रामलीला अपने स्वर्णिम युग में

 ISSN 0975-735X

पदार्पण कर चुकी थी। इसमें अभिनय-पक्ष और संगीत-पक्ष दोनों समान रूप से सशक्त था। पात्र अपनी बात गीतों के माध्यम से कहते थे, जो मन:स्थिति और परिवेश के अनुकूल शास्त्रीय रागों पर आधारित होते थे। कहीं-कहीं पर संवादों में गद्य का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे यह रामलीला संपूर्ण कुमाऊँ में होने लगी। सीढ़ीदार खेतों के पास लकड़ी का मंच बनाया जाता था। पारसी नाटकों से प्रभावित मंच सुंदर-सुंदर पर्दों से सजाया जाता था। इस रामलीला की सबसे बड़ी विशषता यह रही कि संवाद और गीत खड़ीबोली में होते हुए, गीतों की रचना शास्त्रीय आधार पर होते हुए वेशभूषा आदि में मैदानी भागों की रामलीला और रासलीला का पूर्ण प्रभाव ग्रहण करते हुए यह रामलीला कुमाऊँनी रामलीला के रूप में विशिष्टता दर्ज करा गई।

1950-55 के बाद अल्मोड़ा की रामलीला में कलात्मक ह्रास होने लगा, जो छठे-सातवें दशक में भौंडेपन की सीमा तक गिर गया। सारे के सारे संवाद और गीत प्रॉप्टिंग द्वारा अभिनीत होने लगे। पात्रों की वेशभूषा में कलात्मक अभिरुचि एवं प्रामाणिकता का अभाव तो हो ही गया, कभी-कभी नितांत हास्यास्पद स्थितियाँ भी सामने आने लगीं। जैसे सुषेण वैद्य के पात्र द्वारा स्टेथेस्कोप लटकाकर मूर्च्छित लक्ष्मण की चिकित्सा करना, खर-दूषण का जैकेट पहनकर मंच पर आ जाना। यही स्थिति धीरे-धीरे कुमाऊँ के अन्य भागों की रामलीला में भी उत्पन्न होने लगी। तब श्री लक्ष्मी भंडार अल्मोड़ा ने रामलीला के गौरव को पुनर्स्थापित करने का बीड़ा उठाया। सन् 1978 से अल्मोड़ा की रामलीला में गुणात्मक सुधार होने लगा। वेशभूषा, मुखसज्जा, अभिनय, संगीत आदि सभी पक्षों को कलात्मक एवं तकनीकी दृष्टि से समृद्ध किया गया। इसकी प्रेरणा कुमाऊँ की अन्य रामलीला समितियों ने भी ग्रहण की।

परंतु बीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में जो सांस्कृतिक संक्रांति हुई है, उसके अनेक दुष्प्रभावों में एक दुष्प्रभाव यह हुआ है कि कुमाऊँ में रामलीलाओं का आयोजन पुन: सिमटकर रह गया है। हालाँकि प्रवासी कुमाऊँनी लोगों ने अपनी सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता के अनुराग में प्रदेश के अन्य भागों में भी कुमाऊँनी रामलीला का आयोजन प्रारंभ किया है, लेकिन अपने कलात्मक गौरव एवं भव्यता के साथ यह केवल श्री लक्ष्मी भंडार अल्मोड़ा में ही अपनी परंपरा को जीवित रखे हुए है।

रामलीला से अलग आधुनिक रंगमंच के बीज कुमाऊँ में सदी के उत्तरार्द्ध में ही पड़े। इस कार्य में भी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और शिक्षा का मुख्य केंद्र होने के कारण अल्मोड़ा का ही प्रतिनिधित्व रहा।

अल्मोड़ा निवासी वयोवृद्ध नाटककार, लोककलाविद् संगीतज्ञ श्री ब्रजेंद्रलाल शाह ने सन् 1950-51 में प्रथम बार इलाहाबाद आकाशवाणी से अपने साथी कलाकारों के साथ छपेली गीत प्रस्तुत किया। संचार माध्यम द्वारा निजी स्वरों के प्रसारण से रोमांचित कलाकारों की संवेदना रंगमंच की ओर उन्मुख हो गई। हालाँकि अभी भी किसी औपचारिक नाट्य-स्वरूप का मंचन नहीं हो पाया था, लेकिन सन् 1952 में नैनीताल शरदोत्सव में अल्मोड़ा की छात्राओं द्वारा गाया गया 'बेडू पाको बारमासा, काफल पाको चैत' की आह्लादकारी सफलता एवं साम्यवादी नेता कामरेड पी॰सी॰ जोशी द्वारा इस गीत को रूस की जनता तक पहुँचा देने से रोमांचित कलाकारों को लेकर श्री शाह जी ने 'युनाइटेड आर्टिस्ट्स अल्मोड़ा' नामक संस्था स्थापित की। शृंगार, वियोग, शौर्य आदि भावों पर आधारित छोटे-छोटे कथानकों की गीत रूप में प्रस्तुति दी और गायक-गायिकाओं की गेय पंक्तियाँ

संवाद रूप में रची गईं, जिन्हें नृत्याभिनय द्वारा प्रस्तुत किया गया।

सन् 1953 में 'अल्मोड़ा कल्चर सेंटर' की स्थापना हुई। 1955-56 में 'दि युनाइटेड आर्टिस्ट्स' का नाम 'लोककलाकर संघ' हो गया। इस संस्था के कार्यक्रमों से प्रभावित होकर पिथौरागढ़ नगर के युवा कलाकारों ने 'सोर घाटी कलाकार संघ' की स्थापना की। इस संघ ने विकास खंडों के द्वारा आयोजित मेलों एवं अन्य सांस्कृतिक उत्सवों में लोकगीत एवं नृत्यों का प्रदर्शन किया, जिसमें अभिनय की प्रधानता बढ़ती चली गई। सन् 1959 में पिथौरागढ़ नगरी में प्रथम नाटक मंचित हुआ। सोर घाटी कलाकार संघ के रंगकर्मियों ने अभागि बटव्वा (अभागी पथिक) नाटक के द्वारा नवीन विषयवस्तु चुनकर पहाड़ों की चहुँमुखी त्रासदी एवं गीत-संगीत-नृत्य की मधुरता को परस्पर बुनकर ऐसी सशक्त नाट्य प्रस्तुति की, जो उन कलाकारों के सामयिक चिंतन, सृजनधर्मिता एवं अस्मिता-बोध का कालजयी दस्तावेज बनी। नाटक एक ऐसे पथिक की गाथा थी, जो द्वितीय विश्वयुद्ध में एक पैर गँवाकर घर लौटा था। घर में जीवित एकमात्र पुत्री का विवाह करके अपनी माँ की मनौती को पूर्ण करने के लिए पहाड़ की चोटी पर स्थित देवी के मंदिर की ओर उसकी यात्रा थी। नाटक को 'फ्लैशबैक' पद्धति में दिखाया गया, जिससे उन रंगकर्मियों की कल्पनाशीलता का भी संकेत मिलता है।'[6]

उल्लेख किया जा चुका है कि उत्तरांचल में रंगमंच का उद्‌भव गढ़वाल में हुआ। गढ़वाल में रंगमंच के अंकुर तत्कालीन टिहरी राज्य में प्रस्फुटित हुए। संपूर्ण गढवाल का जन-मानस अत्यंत सरल-हृदय व भावुक है। गढ़वाल की जनता ने मुगलों व अँग्रेजों के अत्याचारों को सहा हो या नहीं, लेकिन गोरखों के बर्बरतापूर्ण अत्याचारों को गढ़वाल व कुमाऊँ की जनता ने साथ-साथ भोगा व सहा है। यदि कुछ न्यायप्रिय राजाओं को छोड़ दिया जाए तो शष सभी राजाओं ने अपनी शासित प्रजा पर अत्याचार ही अधिक किए हैं। (भले ही पहाड़ी राजाओं के ये अत्याचार शेष भारत के मध्यकालीन राजाओं के अपनी प्रजाओं पर अत्याचार की तुलना में कम ही थे।) गढ़वाली जनता ने प्राकृतिक आपदाओं से संघर्ष करते हुए व राजनीतिक उत्थान-पतन के मध्य संगीत-नृत्य मिश्रित एक नवीन विधा 'मंडाण' को जन्म दिया। इसी मंडाण में ढोल-दमऊँ बजाते हुए औजी महाभारत की कथा के अंश पद्य में गाते हुए सुनाते थे व महाभारत के प्रमुख योद्धाओं का अभिनय करने वाले पात्र भाव-विभोर होकर नाचते-गाते हुए अभिनय करते थे। यही पांडव नृत्य था, जो शनैः-शनैः उत्तरांचल के प्रारंभिक रंगमंच को जन्म दे रहा था।

टिहरी राज्य की राजधानी आज का पुरानी टिहरी नगर था, जहाँ राजा के भवन और राज्य के संभ्रांत नागरिकों व बुद्धिजीवियों के निवास थे। यह नगर (पुरानी टिहरी जो वर्तमान में बाँध निर्माण के कारण जलसमाधि ले चुका है।) ही टिहरी राज्य की सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र था।'[7] नगर के पिछड़े मुहल्लों में व आस-पास के गाँवों में थे, कभी-कभार मंडाण लगता था। परंतु नागरिक अच्छे मनोरंजन के अभिलाषी थे। इसी अभिलाषा ने 'खुशदिल' नाटक-मंडली को जन्म दिया। यह नाटक-मंडली एक परिवार विशेष टिहरी के प्रमुख नागरिक नागा कुंभकार से संबंधित थी।

कुंभकार के ही पुत्र-पौत्र तब उस मंडली में मंडली का प्रमुख नाटक था-'अमरसिंह राठौड़'। कालांतर में रंगमंच को एक बेहतर और सुंदर रूप देने के लिए सोचा जाने लगा, जिसके फलस्वरूप 17 अक्टूबर 1917 में श्री नर्वदेश्वर महादेव मंदिर से लगे एक भवन में भवानीदत्त

उनियाल के सभापतित्व में नगर के विशिष्ट व्यक्तियों की बैठक हुई और उसमें आपसी विचार-विनिमय के पश्चात् सबकी राय से एक 'ड्रामेटिक क्लब' का गठन किया और क्लब का नाम 'शेमियार ऑफिशियल ड्रामेटिक क्लब' रखा गया। संपूर्ण उत्तरांचल में यह अकेला क्लब था, जिसने कि रंगमंच के विकास में अपना योगदान दिया। तब देहरादून में जरूर क्लब थे, लेकिन उनमें पर्वतीय रंगमंच की वास्तविक झलक नहीं दिखाई देती थी। उत्तरांचल में सर्वप्रथम भवानीदत्त थपलियाल ने नाटक लिखे। उन्होंने सन् 1914 से पूर्व 'जय-विजय' नाटक लिखा था, उनका 'प्रह्लाद नाटक' सन् 1930 में प्रकाशित किया गया था। भवानीदत्त थपलियाल के पश्चात् गढ़वाल के अनेक नाटककारों ने नाटकों की रचना की, जो कि उत्तरांचल में रंगमंच को विकसित करते हुए कुमाऊँ तक ले गए। कुमाऊँ में रंगमंच पर इतना कार्य नहीं हुआ है, जितना कि गढ़वाल में हुआ है, इसके पीछे केवल यही कारण हो सकता है कि गढ़वाल में नाटकों के लिए पूर्व-पृष्ठभूमि तैयार थी, जबकि कुमाऊँ में ऐसी पृष्ठभूमि न थी। शोधार्थी स्वयं गढ़वाल का रहने वाला है व सुदुर ग्रामीण अंचलों का–विनकखाल बूढ़ाकेदार, चमियालवाला, उर्गम, पांडुकेश्वर, माणा, नाती, नागनाथ, लखवाड, लखस्यार, चोता रवांईघाटी भ्रमण करने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि गढ़वाल में प्रचलित धार्मिक विश्वासों ने–जिनमें देवताओं को नचाना, परियों को नचाना, भूतों को नचाना सम्मिलित है–गढ़वाल में अभिनय की कला को जन्म दिया है, क्योंकि देवता वहाँ के ग्रामीणों पर स्वयं अवतरित होकर उनसे अभिनय करवाते हैं। ऐसा ही भूतों को लेकर भी होता है। जिस व्यक्ति पर देवता अवतरित होता है, वह व्यक्ति वहाँ उपस्थित व्यक्तियों के सम्मुख उसी देवता के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अभिनय करता है। मेरा व्यक्तिगत मत है कि यहीं से अभिनय के अंकुर प्रस्फुटित हुए व इस अभिनय को मंडाण ने एक सशक्त मंच प्रदान किया। अपनी कुमाऊँ-यात्रा के अनेक पड़ावों में, जैंती, भनौली, सोमेश्वर, धारचुला, मुन्स्यारी, डीडीहाट, बेरीनार, चंपावत, लोहाघाट, नैनीताल, कौसानी के गाँवों में भी मैंने इन धार्मिक विश्वासों को पाया।

हमें लगता है कि जहाँ गढ़वाल में इन धार्मिक विश्वासों ने मंडाण के रूप में अभिनय के लिए एक मंच पहले पा लिया, वहीं कुमाऊँ में यह मंच कुछ समय पश्चात् पनपा। जो भी उत्तरांचल के प्रारंभिक रंगमंच पर वहाँ के ग्रामीण कलाकारों ने अपने सहज प्राकृतिक (कृत्रिमता रहित) अभिनय की जो क्रीड़ा की, वह अपने आपमें अद्वितीय क्रीड़ा थी, जो प्रकृति-परमेश्वर के निकट थी। तब न सीमेंट-कंक्रीट के बड़े-बड़े सभागार थे और न ही लाइट और साउंड प्रणाली थी। साज-सज्जा के लिए आज की तरह मेकअप सामग्री भी न थी। परमेश्वर की विराट् प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए सार्वभौम आकाश के नीचे धरती ही उनका रंगमंच थी। पहाड़ के सुदूर गाँवों में आज भी तत्कालीन रंगमंच के दर्शन किए जा सकते हैं। इसके लिए हमें या तो टिहरी जिले के बूढ़ाकेदार-विनकखाल घुत्तु क्षेत्र में जाना पड़ेगा अथवा उत्तरकाशी के रवांई-नैटवाड़-फतेपर्वत क्षेत्र में जाना पड़ेगा। जनपद देहरादून के जौनसार-बावर क्षेत्र व पौड़ी के देवलगढ़-कांडा आदि स्थानों को स्पर्श करना पड़ेगा। जनपद चमोली के माणा-नीती-मलारी क्षेत्र से लेकर पिथौरागढ़ के धारचूला अथवा अल्मोड़ा के जैन्ती-भनौली आदि क्षेत्रों की ओर प्रस्थान करना पड़ेगा।'[8]

उत्तरांचल में यदि हम कूर्मांचल के प्रारंभिक रंगमंच की ओर ध्यान दें तो हमें पिथौरागढ़ जनपद की नेपाल को स्पर्श करती हुई सीमाओं पर जाना पड़ेगा। कुमाऊँ के रंगमंच पर नेपाल-

समाज का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। पिथौरागढ़ में हिलजात्रा एक लोकप्रिय धार्मिक उत्सव है। इस हिलजात्रा का उद्‌गम-स्थान नेपाल को माना गया है, जहाँ अनेक प्रकार की जात्राएँ, जैसे गाय जात्रा, इंद्र जात्रा, मुकारी जात्रा, पंचाली-भैरव जात्रा, गुजेश्वरी जात्रा, नहाया-गाया जात्रा, चकनदेव जात्रा, छोड़ा जात्रा, बालजू जात्रा और महेंद्रनाथ रथजात्रा आदि सदियों से होती आई हैं। पिथौरागढ़ में हिलजात्रा को रोपाई उत्सव भी कहा जाता है। बरसात में जब खेतों में रोपाई का कार्य आरंभ होता है, हल-बैल के साथ हलिया खेत जोतते हैं, पुतरियाँ पौधे रोपती हैं, वौसिये खेतों की मेढ़ बनाते हैं, संभवत: यही दैनिक कृषि-प्रक्रिया धीरे-धीरे नाट्यरूप में लोकमानस का मनोरंजन भी बन गई होगी। उत्तरांचल में मुखौटा पहनकर नृत्य अभिनय की बात को गढ़वाल विश्वविद्यालय में अँग्रेजी के आचार्य डॉ॰ डी॰आर॰ पुरोहित भी स्वीकारते हैं। इस विषय पर उनका व्यापक शोधकार्य भी है। हिलजात्रा को कुमाऊँ में एक प्रकार का रंगमंच का प्रारंभिक स्वरूप कहा जा सकता है और अपने प्रारंभिक स्वरूप में इसके दर्शन आज भी किए जा सकते हैं। इसके अलावा कुमाऊँ में होली का भी कहीं-न-कहीं रंगमंच पर प्रभाव पड़ा है। कुमाऊँ में होली के दो प्रचलित स्वरूप हैं। एक ग्रामीण अंचल की होली, जिसे खेड़ी होली कहते हैं। दूसरी नागर होली, जिसे शहरी क्षेत्रों में बैठ होली कहते हैं। दोनों में खेडी होली (ग्रामीण अंचल की होली) को रंगमंच का प्रारंभिक स्वरूप माना जा सकता है। खेड़ी होली में अभिनय करते हुए होल्यार (होली वाले ग्रामीण) एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं। कूर्मांचल में प्रारंभिक रंगमंच वास्तव में कुमाऊँ की रामलीलाओं में दिखाई देता है। हिलजात्रा और होली में रंगमंच को ढूँढना शोध की दृष्टि से कठिन कार्य है। मैं कुमाऊँ से एक साथ तीन प्रकार के उत्सवों को देखकर लौटा हूँ। पिथौरागढ़ की हिलजात्रा, अल्मोड़ा की रामलीला और नैनीताल की होली। तीनों में ही मुझे रंगमंच के दर्शन हुए। रंगमंच की दृष्टि से मुझे सर्वाधिक प्रभावित अल्मोड़ा की रामलीला ने किया है। कुमाऊँ में रामलीला का प्रवेश सर्वप्रथम अल्मोड़ा में ही हुआ। अल्मोड़ा कुमाऊँ की सांस्कृतिक गतिविधियों का शुरू से ही केंद्र रहा है।

संदर्भ

1. नाटक के सौ बरस, संपादक हरीशचंद्र अग्रवाल, (लेखक श्री ललितसिंह पोखरिया), पृ॰ 279
2. नाट्यशास्त्र/भरतमुनि (महावीरप्रसाद द्विवेदी/1623 इंडियन प्रेस लि॰, प्रयाग)
3. श्री जीतसिंह नेगी (वरिष्ठ रंगकर्मी) से लिए गए साक्षात्कार पर आधारित
4. श्री जीतसिंह नेगी (वरिष्ठ रंगकर्मी) से लिए गए साक्षात्कार पर आधारित
5. नाटक के सौ बरस, संपादक हरीशचंद्र अग्रवाल, (लेखक श्री ललितसिंह पोखरिया), पृ॰ 280
6. नाटक के सौ बरस, संपादक हरीशचंद्र अग्रवाल (लेखक श्री ललितसिंह पोखरिया), पृ॰ 283
7. श्री सत्यप्रसाद रतूड़ी (सुप्रसिद्ध पाँखु नाटिका के लेखक) से लिए गए साक्षात्कार पर आधारित।
8. श्री सत्यप्रसाद रतूड़ी (सुप्रसिद्ध पाँखु नाटिका के लेखक) से लिए गए साक्षात्कार पर आधारित।

प्रवक्ता (हिंदी)

रा०इ०का० नौल-बासर (टिहरी गढ़वाल) 249155

ई-मेल vismitkot@reddifmail.com

मो॰ 09690108090

गोविंद मिश्र की कहानियाँ : बदलते मूल्यों की चित्रशाला

डॉ॰ कनुप्रिया प्रचंडिया

कहानी मानव के दैनिक जीवन का बिंब प्रस्तुत करती है। गोविंद मिश्र इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं कि 'कहानी तो आप हर जगह और रोज देखते हैं। लेखक भी दूसरे व्यक्तियों की तरह अपना जीवन जीता है। दूसरी तरफ वह लिखता भी है। उसी दौरान आपको कहीं कोई चीज कौंध जाती है। कोई तकलीफ जो एकाएक आपको सुई की तरह चुभ जाती है या कोई नया नजरिया जो आपने देख लिया, जो किसी नए मूल्य से या पुराने मूल्य को नए तरीके से पेश करने में आता है। वह आपके साथ लग जाता है।[1] इससे स्पष्ट है कि हमारे रोजमर्रा के जीवन की सामान्य-सी घटनाएँ भी कहानी का वस्तु तत्त्व बन सकती हैं। गोविंद मिश्र का कहानी विधा के साथ विशेष लगाव रहा है। अब तक उनके कुल आठ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'रगड़खाती आत्महत्याएँ, कहानी-संग्रह की कहानियों को रचना, विषयवस्तु, भाषा की दृष्टि से प्रायोगिक दौर के अंतर्गत रखा जा सकता है। 'नए पुराने माँ-बाप' कहानी-संग्रह की कहानियाँ समाज के विभिन्न वर्गों, वृद्ध लोगों, उनसे संबंधित संदर्भों को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। गोविंद मिश्र ने युग से जुड़ी हुई लोगों की मानसिकता को, अंधी-बहरी शासन व्यवस्था को, कारण और निवारण को, उलझने की स्थिति को, कोशिश आदि को 'अंत:पुर' कहानी-संग्रह का केंद्र बिंदु बनाया है। 'धाँसू' कहानी-संग्रह की कहानियाँ राजनीति दावपेचों वाली, राजनीति से आहत व्यक्ति की कथा कहती मालूम पड़ती है। इनमें राजनीति मनुष्य के उद्धार के बजाय उसके पतन का कारण है। जो उसके चरित्र और मन का निरंतर हनन कर रही है। 'खुद के खिलाफ' संकलन की ज्यादातर कहानियाँ जीवन मूल्य विघटन के दर्द से सराबोर हैं। इस संकलन पर 'समकालीन कहानी' आंदोलन का प्रभाव दिखाई देता है। 'खाक इतिहास' कहानी संकलन की कहानियों में ग्रामीण परिवेश, कस्बाई पात्र, पात्रों की दयनीय थ्सिति का सफल चित्रांकन किया गया है और उच्च मानवीय मूल्यों को उद्घटित करने का भी प्रयास हुआ है। 'पगलाबाबा' कहानी संकलन में गोविंद मिश्र ने सकारात्मक मानव मूल्यों पर प्रकाश डाला है। अब तक नगरीय-महानगरीय आपाधापी में मानवीय मूल्यों के विघटन की बात मिश्र जी ने इस संकलन से पूर्व की है, लेकिन वह इसमें सभी जगह घटते मानवीय मूल्यों में जीवन मूल्यों को ढूँढते नजर आते हैं। 'आसमान कितना नीला' कहानी संकलन की कहानियों में नकारात्मक कथ्य है। जीवन विभिन्न प्रश्नों के बीच झूलते नजर आता है। मिश्र जी ने जीवन के जटिल प्रश्नचिह्नों पर नजर रखी है और उन्हीं के आस-पास कहानी ढूँढने का प्रयास किया है। इस प्रकार अपने आठ कहानी-संग्रहों में गोविंद मिश्र ने समसामयिक जीवन की बहुत-सी ज्वलंत समस्याओं को उभरा है। नैतिक मूल्यों की चर्चा की है। मूल्य विघटन को, उससे होने वाली पीड़ा को मिश्र जी ने कहानियों में उकेरा है।

महानगरीय परिवेश में मनुष्य के जीवन में कृत्रिम व्यवहार प्रवेश कर चुका है। उसके

जीवन मूल्यों में बदलाव आ गया है। सतह सहानुभूति, भीतरी ईर्ष्या, स्वार्थपरता, खुशामद, प्रदर्शनप्रियता, गप्पें हाँकना, डींगे मारना आदि कृत्रिम व्यवहार और परिवर्तित जीवन मूल्यों के ही रूप हैं। मिश्र जी की 'वह अपना चेहरा', 'उतरती हुई धूप', 'रगड़ खाती आत्महत्याएँ, 'तुम्हारी रोशनी', 'धीरे-समीरे', 'पाँच आँगनों वाला घर', 'झूला', 'बदरंग', 'दोस्त', 'अव्यववस्थित', 'अवमूल्यन', 'हमदर्दी', 'निष्काषित', 'बोझ', 'इंद्रलोक', 'धुँधलका', 'आसमान कितना नीला', 'मायकल लोबो', 'खुद के खिलाफ' आदि ऐसी कहानियाँ है जिनमें महानगरीय परिवेश के रूप-स्वरूप में आए बदलाव को दर्शाया गया है।

जीवन और जगत की प्राण चेतना का स्तवन करनेवाले संस्कार व्यक्तित्त्व निर्धारण में महती भूमिका का निर्वाह करते हैं। व्यक्तित्व एक ऐसी गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी संस्कार बद्धता को क्रमशः विकासमान बनाते हुए उसे नूतनता प्रदान करता है। व्यक्तित्व के निर्माण में जीवन मूल्यों का बहुत बड़ा हाथ है। जीवन मूल्यों से हमारा तात्पर्य उन मान्यताओं से है, जो किसी समाज विशेष से अपने सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि व्यवहारों को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए मान ली गई हैं। ये मान्यताएँ मनुष्य के जीवन को एक लक्ष्य प्रदान करती हैं। जीवन को गतिमान बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती हैं। मनुष्य के गतिशील जीवन के लिए जीवन मूल्य अत्यावश्यक हैं। ऐसा नहीं है कि मिश्र जी ने मानवजीवन में परिवर्तित जीवन मूल्यों पर ही कहानियाँ लिखी हैं। केवल मूल्य संक्रमण को ही अपनी कहानियों का विषय बनाया है, बल्कि आदर्श जीवन मूल्य स्थापित करनेवाली कहानियाँ भी लिखी हैं जैसे 'अर्थ ओझल, 'भगवान ने चाहा तो', 'सूखी क्यारी', 'यो ही खत्म'? आदि। 'सूखी क्यारी' कहानी प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के समय की एक छोटी-सी घटना के माध्यम से सहानुभूति, करुणा व मानवता के उन पक्षों का उद्‌घाटन करती है जो भारतीयता के मूल तत्त्व माने जा सकते हैं। 'यों ही खत्म?' कहानी में मिश्र जी ने कहानी की प्रमुख पात्रा पार्वती मौसी के वैवाहिक जीवन में आनेवाली अत्यंत कारुणिक स्थितियों का चित्रण किया है।[2] 'अर्थओझल' एक छोटे-से कस्बे के प्राध्यापक की कहानी है, जो अपनी संपूर्ण बौद्धिक क्षमता गरीब छात्रों पर उड़ेलकर उनके लिए उन्नति के मार्ग खोलता है। अपने इस प्रयास में उसे समाज की निंदा, उपेक्षा और अपनों का तिरस्कार भी झेलना पड़ता है, परंतु वह मौन और शांत रहकर उपेक्षाओं को आत्मसात कर सहज ही अपनी साधना में तल्लीन रहता है।[3] 'भगवान ने चाहा तो' कहानी उन लोगों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, जो आधुनिकता की अंधी दौड़ में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और सोचते हैं कि वही होगा जो वे चाहेंगे। महत्त्वकांक्षा की अंधी दौड़ में शामिल एक ऑफीसर के जीवन का चित्रण इस कहानी में हुआ है।[4] इस प्रकार मिश्र जी ने जीवन के लिए अनमोल जीवन मूल्यों को अपनी कहानियों उभारा है जिनके बिना मनुष्य मानुष नहीं, बल्कि पाशवीप्रवृत्ति का हो जाएगा।

मानव जीवन के वैयक्तिक जीवन मूल्य आधुनिकता के रंग में रँगने के कारण परिवर्तित हो रहे हैं। आज मानवीय मूल्यों की उपासना की जगह सुविधा भोगी मूल्यों की उपासना हो रही है। समस्त मानवीय मूल्यों में पश्चात्य सभ्यता का असर गहराता नजर आ रहा है। मिश्र जी की 'झूला' कहानी में जब माता-पिता लड़के से शादी की बात करते हैं, तो वह कहता है–'तुम किस दुनिया में रहती हो माँ। ब्याह तो मेरा होना है। जब तक साथ न रहा जाए तो क्या पता चलता

है। लोग पहले साथ में रहते हैं, बाद में शादी की बात होती है।'[5] मिश्र जी ने नई पीढ़ी की बदलती सोच और पाश्चात्य सभ्यता के असर को दर्शाया है।

आज मूल्यों के ह्रास के कारण व्यक्ति की आंतरिक संघर्ष सुरक्षा खतरे में है। इसे बदलती हुई परिस्थितियों से अलग नहीं किया जा सकता। समाजिक परिवर्तनों के कारण भी मानव के जीवन मूल्यों में परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में नए और पुराने का संघर्ष भी बना रहता है। आज सामाजिक व्यवस्था में हम भ्रष्टाचार, घूसखोरी, छल-कपट, लूटमार आदि को देखते हैं। गोविंद मिश्र ने 'दोस्त' कहानी में सरकारी दफ्तर के भ्रष्टाचार, घूसखोरी का चित्रण किया है। समाज की बदली हुई भूमिका को दर्शाया है। समस्त मानवीय मूल्य धन केंद्रित हो गए हैं। मूल्य परिवर्तन का सबसे अहम कारण आर्थिक स्थिति है। परिवारिक मूल्यों में बिखराव, टूटन और अवमूल्यन धन के कारण ही आया है। आज महानगरीय परिवेश में तीव्र आर्थिक संघर्ष, तनाव और ज़िंदगी के दबाबों के फलस्वरूप पारिवारिक विषटन हो रहा है। आज अर्थोपार्जन का उत्तरदायित्व महिलाओं ने भी अपने ऊपर ले लिया है जिससे पारिवारिक सोच में अंतर आया है। लड़की अपनी नौकरी से माता-पिता का भरण-पोषण करती है, किंतु वह परिवार के भोंडे, दोगले स्वार्थ से पीड़ित एवं संत्रस्त है। नायिका की मनोदशा देखिए–'अपनी हिफाजत के लिए वे उसे कैद करके रखते हैं। ...वह नौकरी करे तो बीजी का दाँत बनवाए, बाऊजी का चश्मा बदलवाए। ...वे बीमार पड़े तो सब काम छोड़कर उनकी सेवा करे। ...सोचते-सोचते उसे अपने ऊपर एक बोझ-सा लदा महसूस होने लगता है।'[6] आज मध्यवर्गीय परिवारों की यही विडंबना है कि वहाँ आर्थिक विवशता से सभी जीवन मूल्य टूटे-से प्रतीत होते हैं। 'हिल्गे हुए' कथा में भी लेखक ने आर्थिक विवशता के सामने नैतिक मूल्यों के टूटन को दर्शाया है।

परंपरा से आबद्ध भारतीय जनमानस में नवीन चेतना का विकास हुआ है। देश की युवा पीढ़ी नवीन चेतना से ओत-प्रोत है। यह चेतना एक ओर तो उन्हें परंपरा से जोड़े हुए है और दूसरी ओर उन्हें आधुनिकता की ओर प्रेरित कर रही है। युवावर्ग के असामंजस्य और अंतर्द्वंद्व की सिंति को मिश्र जी की कहानियों में समझा जा सकता है। 'फाँस' बुंदेली परिवेश में चित्रित ग्रामीण क्षेत्र की सादगी और निश्छलता से भरी गाँव की एक महिला की कहानी है जिसके घर में दो युवक चोरी करने के उद्देश्य से घुसते हैं। वे पता लगा लते हैं कि उसका पति हाट गया हुआ है। एक उसे बातों में उलझाने की कोशिश करता है तथा दूसरा हाथ साफ करने के लिए कोठरी में घुसता है। बातों ही बातों में अचानक युवक यह कह बैठता है कि वह वहीं का रहने वाला है जहाँ उसका मायका है। सीधी-सादी औरत भावुकता में बह जाती है–'अरे, तब तौ तुम साचऊँ के भैया लागत। पहलै बता देते, अब देखो हम आयं तुमाई जिज्जी और तुम भुज्जी-भुज्जी लगाय पल्टू देखौ बे को आयं बैठे। तुमाए मम्मां'[7] इस प्रकार मिश्र जी ने बताया है कि गाँव के लोग कितने सीधे सादे, सहृदय होते हैं। महिला के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर गलत भावना से आए युवक भी सत्कर्म की भावना से भर जाते हैं और चोरी न करके, बल्कि बच्चे को पाँच रुपए देकर चले जाते हैं। समाज में परिवार में वैयक्तिक सोच के कारण पति-पत्नी के संबंधों में भी बदलाव हो रहा है। दांपत्य जीवन की सफलताओं और कटुताओं को गोविंद मिश्र ने अपनी कहानियों में उभारा है। मिश्र जी ने 'संड़ाध', 'खुद के खिलाफ', 'शापग्रस्त', 'माध्यम का सुख', 'इंद्रलोक', 'सतह का झाग', 'ठहराव की ईंट', 'खंडहर की प्यास' आदि कहानियों में दांपत्य

जीवन में आई कटुता और बदलाव के कारणों को बड़ी ही तार्किकता के साथ उकेरा है।

गोविंद मिश्र की कहानियाँ बदलते जीवनमूल्यों को हमारे समक्ष बड़ी ही सहजता से रखती हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति की सोच के कारण, अर्थ की महत्ता के कारण अधुनातन संस्कृति के कारण आए मूल्य परिवर्तन को देखा जा सकता है। 'एक बूँद उलझी' कहानी में दर्शाया है कि मानव अपने जीवन में धन को ही सब कुछ मान लेता है और उसके आगे उसे सभी जीवन मूल्य फीके लगते हैं, किंतु जीवन में धन ही सब कुछ नहीं होता। असली पूँजी हमारे जीवन मूल्य, रिश्ते-नाते, संबंध होते हैं, जो सदैव हमारे साथ रहते हैं। 'अवमूल्यन' कहानी में दो ऐसे दोस्तों का चित्रण है, जो बहुत दिनों बाद मिलते हैं। कथानायक का दोस्त संतू एक टेंडर के सिलसिले में पटना आता है और दोनों शाम तक साथ रहने का प्रोग्राम बना अधिकारी से मिलने जाते हैं। दोनों का कुछ समय शराब, पुराने दोस्तों की बातें, मौज-मस्ती मे अचछा करता है, परंतु जल्द ही कथानायक को महसूस होने लगता है कि वह संतू का पिछलग्गू बन गया है। इस भावना से दोनों के बीच अजनबीपन और औपचारिकताएँ रह जाती हैं और दोनों के बीच की मिठास कुछ समयके अंतराल में चुक जाती है। दोस्ती जैसे जीवन मूल्य का ह्रास हो जाता है। मिश्र जी ने आधुनिक युग के बदलते पारिवारिक रिश्ते, पीढ़ियों के संघर्ष, मूल्यों का संक्रमण आदि सबको बड़ी ही खूबसूरती के साथ अपनी 'युद्ध' कहानी में चित्रित किया है। अधुनातन संस्कृति में मानव में संवेदन शून्यता आ गई है। उसमें अपने बड़ों बुजुर्गों व माता-पिता के लिए कोई संवेदना नहीं है, वह सिर्फ और सिर्फ अपने विषय में सोचता है और स्वतंत्रता पूर्ण व्यवहार करता है। 'युद्ध' कहानी में एक वृद्ध का कथन द्रष्टव्य है–'सर्विस में आते ही जैसे माँ-बाप से वास्ता खत्म। यही नहीं उसका रवैया कुछ ऐसा हो गया है कि वह वही करेगा जिससे हमें चिढ़ छूटे। हम निरामिष हैं, तो वह सामिष हो गया है।'[8] मिश्र जी की कहानियाँ बहुतायत में सामाजिक-पारिवारिक अवमूल्यन को दर्शाती हैं। 'गलत नंबर' कहानी में मनोरंजन के साथ-साथ बढ़ती व्यवस्तता के कारण जीवन में सिमटते-सिकुड़ते सामाजिक संबंधों पर व्यंग्य किया गया है। 'सिलसिला' कहानी में मानव की संवेदन शून्यता के अभिदर्शन होते हैं। मिश्र जी की 'जनतंत्र', 'बहुधंधीय', 'धांसू', 'गोबर गनेश' आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जो हमारी राजनीतिक मूल्यहीनता को स्पष्टत: उजागर करती हैं। मिश्र जी की इन कहानियों में घिनौने राजनीतिक षड्यंत्र के दर्शन होते हैं। आमजनता स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद इसी राजनीतिक षड्यंत्र में दबी रही। आज राजनीतिक सत्ता का केवल चोला बदला है, उसका षड्यंत्रकारी रूप तो वही का वहीं है।

विज्ञान का उदय, विस्तार, तकनीकी प्रौद्योगिकी उन्नति के व्यापार स्तर के प्रसार ने समाज की संरचना का आमूलचूल परिवर्तन कर डाला। विचार के क्षेत्र में नवमानवतावादी दृष्टिकोण ने चिंता के नए आयाम दिए। दृष्टि का सर्वथा नवीन भावबोध दिया। इसी भाव-बोध से अनुप्राणित मानव की सोच में आधुनिकता आ गई। नई वैचारिक उद्भावनाओं ने मूल्यों की आंतरिक चेतना, प्रामाणिकता पर बल दिया। परिणामत: आधुनिकता के कुछ और इतर मूल्य हुए। मानव की सोच ने समाज में विभिन्न परिवर्तन ला दिए। आधुनिक सोच में मानवजीवन का मुख्य लक्ष्य अर्थ प्राप्ति और दैहिक सुखों की प्राप्ति हो गया। इन्हीं सुखों की प्राप्ति के लिए संघर्ष, समस्याओं का कारण बने और मानव के कर्मक्षेत्र में परिवर्तन ला दिया। गोविंद मिश्र ने अपनी

 ISSN 0975-735X

कहानियों में युवावर्ग के अंतर्मन के असामंजस्य और अंतर्द्वंद्व की स्थितियों को रेखांकित किया है। मानवजीवन में नैतिकता और सामाजिक संदर्भों में आ रहे परिवर्तनों का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः गोविंद मिश्र की कहानियाँ बदलते हुए मूल्यों की चित्रशाला हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ प्रमिला विजय त्रिपाठी, गोविंद मिश्र और उनकी साहित्य साधना, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ॰ 107
2. गोविंदमिश्र, निर्झरिणी, भाग 2, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 366
3. वही, पृ॰ 310
4. वही, पृ॰ 375
5. वही, पृ॰ 40
6. वही, पृ॰ 48
7. वही, पृ॰ 227
8. वही, पृ॰ 412

मंगलकलश
394, **सर्वोदयनगर, आगरा रोड,**
अलीगढ़-202001 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ : 9897144022

गूढ़ ज्ञानतत्त्व का औपनिषदिक निदर्शन

प्रो॰ धर्मेंद्रकुमार द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय, पुँवारका, सहारनपुर

संस्कृति एवं सभ्यता की वसुंधरा 'भारत' (प्रकाश-प्रसरण में संलग्न) की ज्ञानधारा के प्रवाह को यद्यपि अनेक प्रकार से देखा, जाना, समझा जा सकता है तथापि वेद, वेदांग एवं वेदांत की दृष्टि से प्रवाहमय ज्ञानतत्त्व को अधिक सूक्ष्मता से देख, जान, समझ सकते हैं। यहाँ हम उपनिषद् ज्ञानधारा पर मूलतः ध्यान देते हैं। उपनिषद्-ग्रंथों का सीधा संबंध मंत्र-संहिताओं से है तथा उन्हें ब्राह्मण-साहित्य का आलोचना-ग्रंथ कहना भी अनुचित नहीं,[1] अतएव वैदिक ज्ञान के विकासात्मक स्वरूप (उपनिषद्) पर दृष्टिपातन उचित है।

'उपनिषद्' के मूलार्थ से पूर्व 'वेद' शब्दार्थ को देखें, जिसके संबंध में आचार्य कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं[2]–'विद् ज्ञाने' इति ज्ञानार्थकाद् विद्धातोर्घञि प्रत्यये कृते वेद इति रूपं निष्पद्यते। एवं वेदशब्दो ज्ञानार्थकः। ज्ञानराशिर्वेद इति वक्तुं शक्यते। विद सत्तायाम्, विद विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु इति धातुभ्योऽपि घञि वेदरूपं निष्पद्यते। वेदा ज्ञानराशित्वात् शाश्वतस्थायिनः ज्ञाननिधयः मानवरहित प्रापकाः, मनुज-कर्त्तव्य-बोधका इति विविधधात्वर्थ ग्रहणाद् ज्ञायते।

स्पष्टतः वेद का संबंध जानने से है, ज्ञान से है, न कि मानने से। इस कारण से वेद-वचनों को ही संबल रखकर लिखित 'उपनिषद्' का भी संबंध जानने से होगा, मानने मात्र से नहीं। जैसा कि वर्तमान समय में देखने को मिलता है। धार्मिक क्रिया-कलापों में विरूपता का कारण ही 'जानने' की जगह 'मानने' से है। वेदोपरांत 'उपनिषद्' शब्दार्थ को देखें, जिसके संबंध में आचार्य कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं[3]–उप-नि-उपसर्गपूर्वकात् विसरण-गत्यवसादनार्थकात् शद्लृ (सद्) धातोः क्विपि उपनिषद्-शब्दो निष्पद्यते। उप-समीपे, नि-निश्चयेन, सद्-स्थानमिति, तत्त्वज्ञानार्थं गुरोः समीपे सविनयं स्थितिः उपनिषद् इत्युच्यते। तत्त्वज्ञान-प्रतिपादनाद् एतद्विषयका ग्रन्था अपि उपनिषद् इत्युच्यन्ते। उपनिषद्-शब्दार्थो ब्रह्मविद्येत्यपि गृह्यते। सद्धातोः अर्थत्र्यम् आश्रित्य उपनिषच्छब्दार्थो निरूप्यते यद् या संसार वीरभूताम् अविद्यां नाशयति, यया ब्रह्मप्राप्तिः ब्रह्मज्ञानं वा भवति, यया च मानव-दुःखावसादो भवति, सा उपनिषदिति।

देखा जाय तो ज्ञान-विज्ञान की गंगा का प्रवाह वेद से आरंभ होकर, ब्राह्मण-आरण्यक साहित्य का स्पर्श कर उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या के रूप में सुरक्षित है। ब्रह्मज्ञानरूपी उपनिषद्-युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग कहा गया है, जिसमें नवान्वेषण, नवचिंतन, नवजीवन की बातें प्रकाशित हुईं। जीवन, जगत्, ब्रह्म-विषयक, गूढ़-ग्रंथियों का समाधान एवं महती जिज्ञासाओं का निवारण इस युग के अतिरिक्त कहीं नहीं दिखाई देता है।

 ISSN 0975-735X

जन्म-मृत्यु, संन्यास और वैराग्य की भावनाओं का सूत्रपात उपनिषदों से होता है। जहाँ धर्म का व्यापकत्व वैदिक संहिताओं में, उसका संकुचन ब्राह्मण-ग्रंथों में था, वहीं अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में धर्म ज्ञानकांडप्रधान उपनिषद्-ग्रंथों में दिखता है। वैदिक धर्म का अवनति-काल ब्राह्मण युग एवं चरमोत्कर्ष-काल उपनिषद् युग है। उपनिषद् ज्ञान के अमूल्य पुष्प हैं। यह पुष्प संप्रति भी गरु-शिष्य परंपरा से पुष्पित हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' इस परंपरा को सूचीबद्ध करता है, जहाँ प्रथम गुरु स्वयंभू ब्रह्मा ने परमेष्ठी ब्रह्मा को ज्ञान दिया। इसमें अट्ठावन गुरु-शिष्यों का वर्णन प्राप्त है।[4] चूँकि यह विद्या गुरु द्वारा अधिकारी शिष्यों को एकांत में दी जाती थी, अतः यह गुरुविद्या या रहस्यविद्या के रूप में भी ज्ञात है।[5]

भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत 'उपनिषद्' को माना जाता है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक विचारधारा का उद्गम-स्थल उपनिषद् ही है, जहाँ ज्ञान का प्राधान्य है, कर्म और उपासना गौण है। चित्त शुद्धि एवं एकाग्रता निमित्त कर्म और उपासना की आवश्यकता है, क्योंकि इस तरह के चित्त में ही आत्म-तत्त्व का आलोक आलोकित होता है। 'अन प्राणने' से निष्पन्न 'आत्मन्' शब्द प्राणार्थक है, परंतु ऋग्वेद में यह शब्द श्वास या वायु का पर्याय है तथा ब्राह्मण-ग्रंथों की तरह जीवात्मा का सूचक है। शंकराचार्य इसकी व्युत्पत्ति इस तरह करते हैं[6]–

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।

अर्थात् जो सभी जगह व्याप्त है, सभी को स्वयं में ले लेता है, विषयों का भोग करता है और जिसका अस्तित्व सर्वदा रहता है एवं जो इन्हीं कारणों से आत्मा कहा जाता है।

आत्मतत्त्व स्वप्रकाश एवं स्वतःसिद्ध है तथा उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म का आत्मा से तादात्म्य बताते हुए दोनों को एक कहा गया है। ब्रह्म वह तत्त्व है, जिससे सारा विश्व उत्पन्न होता है, अंत में उसी में लीन होता है तथा उसमें वह जीवित रहता है।[7]

यद्यपि आत्मा एवं ब्रह्म के बीच एकीभाव है तथापि ब्रह्म-जगत् की तरफ मानव-समुदाय की अनासक्ति के कारण पर्यावरण प्रदूषण का संकट विश्व पर उपस्थित है। ब्रह्म (एकेश्वरवाद की कल्पना से भगवान शंकर) की विद्यमानता जहाँ-जहाँ है, उसकी रक्षा कर हम अपनी रक्षा कर सकते हैं अर्थात् अष्टशिवमूर्ति की सुरक्षा हमारा उद्देश्य होना चाहिए। महाकवि कालिदास ने जल, अग्नि, होता, सूर्य, चंद्र, आकाश, पृथ्वी एवं वायु के रूप में शिव-तत्त्व का उल्लेख किया है।[8] अगर हम प्रकृति-तत्त्व की रक्षा करते हैं तो उपनिषद् (मुंडको) भी मानव-रक्षार्थ दो प्रकार की विद्याओं को कहता है–परा-विद्या एवं अपरा-विद्या। परा-विद्यांतर्गत चारों वेद एवं षड्वेदांग आते हैं। श्रेष्ठ विद्या ही परा-विद्या है, जिससे अक्षर ब्रह्म का बोध होता है।[9] इस परा-विद्या को ही ब्रह्मविद्या कहा गया है। इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है[10]–'ब्रह्म परमात्मा तद्या वेदयति सा ब्रह्मविद्या।'

अपरा-विद्या कर्मप्रधान विद्या है, जिसकी फलोपलब्धि कालांतर में होती है तथा ब्रह्मविद्या तत्क्षण फलदायिनी है। कर्मफल रूपी अपरा-विद्या नश्वर तथा ब्रह्मविद्या-फल अनश्वर, अमर है। अपरा-विद्या मोक्षदायिनी नहीं है, परंतु परा-विद्या मोक्षदायिनी है। 'ईशावास्योपनिषद्' में अपरा-विद्या को 'अविद्या' तथा परा-विद्या को 'विद्या' कहा गया है। मोक्षदायिनी विद्या नहीं होते हुए भी अपरा-विद्या हेतु है, अतः इससे परा-विद्या के मोक्षफल की प्राप्ति की जा सकती है।[11]

'मुंडकोपनिषद्' में शौनक को समझाने के लिए अंगिरा का कहना है कि परा तथा अपरा इन दोनों विद्याओं का ज्ञान आवश्यक है। इनका ज्ञान उपनिषदों से होता है, जो वेद का ज्ञानकांड होने से चिरप्रदीप्त है, ज्ञानदीपक है।[12] उपनिषद् ब्रह्मज्ञान-विवेचक है तथा 'ब्रह्म' सत्य, ज्ञान एवं अनंत है, वही परमतत्त्व है, अनिर्वचनीय है। चित्तवृत्तिनिरोध ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति विधि है। इसके लिए विवेक का जाग्रत होना एकमात्र उपाय है। ब्रह्म-ज्ञानी होने पर जगत् आनंदमय प्रतीत होने लगता है। इस प्रतीति का आधार प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना है। 'ऐतरेयोपनिषद्' के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्मा आदि देवता, पंचमहाभूत, स्वेदज, अंडज, जरायुज, उद्भिज, स्थावर, जंगम सभी जीवात्माओं का आधार प्रज्ञान है। संपूर्ण ब्रह्मांड उसी में आधारित है, वही प्रज्ञान-ब्रह्म है।[13] 'कौषीतकी उपनिषद्' प्रज्ञात्मा के ज्ञान को आवश्यक मानते हुए कहता है कि इस ज्ञान से परमानंद-प्राप्ति होती है। वैसे भी तत्त्वज्ञान का मार्ग तीक्ष्ण एवं दुर्गम है।[14] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी इस मार्ग को दुर्विज्ञ, दुष्कर एवं सूक्ष्म बतलाया गया है।

सत्य तो यही है कि उपनिषद्-ग्रंथों में सिद्धांतत: ब्रह्म, जीव, जगत्, अविद्या, बंधन, मोक्षादि विषयों का निरूपण है, जिनका परम लक्ष्य ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान का प्राप्ति है। इनकी प्राप्ति हेतु ब्रह्मविद्या, शाण्डिल्यविद्या, सद्विद्या, अंतरादित्यविद्या, आकाशविद्या, प्राणविद्या, प्रणवविद्या, ज्योतिर्विद्या, इंद्रप्राणविद्या, उपकौशलविद्या, आनंदविद्या, वैश्वानरविद्या, नाचिकेतसविद्या, भूमाविद्या, अक्षरविद्या, गार्ग्यक्षरविद्या, पंचाग्निविद्या, मैत्रेयीविद्या, बालाकिविद्या, संवर्गविद्या, देवोपास्यज्योतिर्विद्या, अंगुष्ठप्रमितविद्या, पुरुषविद्या, दहरविद्या, व्याकृतिविद्या, ईशावास्यविद्या, संभूतिविद्या, असंभूतिविद्या, विद्या, अविद्या, अंतर्यामिविद्या, मधुविद्या, अजाशरीरकविद्या, उशस्ति-कहोलविद्या, द्रुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या इत्यादि अनेक विद्याओं की विवेचना उपनिषदों में प्राप्त है, परंतु समस्त विद्याओं के मूल में आत्मचिंतन की ही प्रधानता है।[15] इस आत्मचिंतन की धारा उपनिषदों में विभिन्न प्रतिपाद्य-विषयों के रूप में प्रवाहित हुई है। आत्मचिंतन उसी के लिए संभव है, जिसने आत्मतत्त्व को जाना है। जिसकी इसमें दृढ़-स्थिति नहीं है, उसके लिए यह जगत् असत् होकर भी सत्-सा प्रतिभासित होता है, अतएव आत्मतत्त्व (आत्मा) का ज्ञान आवश्यक है। आत्मा क्या है? 'कठोपनिषद्' में इस पर विचार से चर्चा है। वहाँ कहा गया है कि यह चैतन्य न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी से उत्पन्न हुआ और न ही इससे कोई अन्य उत्पन्न हुआ। यह अजन्मा, नित्य, क्षयवृद्धिरहित है। शस्त्रादि से शरीर-नाश संभव है, न कि आत्मतत्त्व[16]–

'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नायं बभूव कश्चित्।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरम्।'

शरीरों में अशरीर, चल पदार्थों में अचल महान् व्यापक आत्मतत्त्व को जानकर पुरुष शोकाकुल नहीं होता है।[17]

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।'

इसके दर्शन व श्रवण से सबका ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[18] यह अविनाशी है।[19] आत्मा में ही देव, जीव, लोक, प्राणादि का समर्पण है।[20] यह वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय है।[21] जीवात्मा की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि रथचक्र के केंद्र में लगे तीलियों के समान शरीर की समस्त नाड़ियाँ जिस हृदयदेश में स्थित हैं, वहीं यह जीवात्मा स्थित है।[22] मूलत: कहें तो यह

आत्मा ही ब्रह्म है–'अयमात्मा ब्रह्म' [23]

यह अतिसूक्ष्म एवं अत्यन्त बड़ा है। सभी प्राणियों में स्थित होकर भी कामनारहित, उत्कृष्ट बुद्धिवाले ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं।[24] यह आत्मा वास्तव में रथी तथा शरीर रथ है। बुद्धि सारथि एवं मन लगाम है।[25] यह जीवात्मा माया से आच्छादित तथा भोक्ता है।[26] साथ ही यह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदयमय–इन पंचकोशों से आवृत है।[27] इन कोशों की एक-दूसरे में क्रमवार स्थिति है, जैसे–अन्नमयकोश में प्राणमय, प्राणमय में मनोमय, मनोमय में विज्ञानमय तथा विज्ञानमय में अन्नमयकोश स्थित है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में 'ओउम्' को आत्मतत्त्व कहा गया है। 'ओउम्' शब्द 'अ, इ, म्'- इन तीन मात्राओं से निर्मित है और ये आत्मा के तीन चरण हैं। इसका निराकार रूप चतुर्थ चरण है, जो 'तुरीय' अवस्था के नाम से ज्ञात है। 'मुंडकोपनिषद्' के अनुसार, 'जो सत्य संभाषी हैं, नित्य ब्रह्मचर्य के पालनकर्त्ता हैं, जो यथार्थ ज्ञानी हैं, उन्हें ही आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है–

'सत्येक लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान जब अपेक्षित है, तब 'ब्रह्मतत्त्व' क्या है? उपनिषद्-तत्त्वज्ञों के लिए सर्वाधिक विचारणीय इसके संबंध में व्यापक विचार हुआ है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में कहा गया–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद् ब्रह्मेति।'

ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातु से निष्पन्न है, जिसका अभिप्राय वर्धनशील होना, व्यापक होना आदि है। शंकराचार्य 'ब्रह्म' का अर्थ बृहत्तम से करते हैं।[28] 'विष्णुसहस्रनाम' में भी ब्रह्म को बड़ा बढ़ानेवाला, सत्यादि लक्षणयुक्त कहा गया है–'बृहत्वाद् बृहणत्वाच्च सत्यादिलक्षणं ब्रह्म'।[29]

ब्रह्म में ही सभी देवों का समावेश कहा गया है।[30] सत्, ज्ञान एवं आनंदस्वरूप ब्रह्म के संबंध में उपनिषदों में विशद विवेचना है। संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जीव ब्रह्मस्वरूप है। दोनों के बीच अभेद है तथा सब ब्रह्म ही हैं–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।[31]'

'तैत्तिरीयोपनिषद्' का कथन है कि ब्रह्म को असत् जाननेवाला असत् जबकि सत् जानने वाला सत्-स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म को विज्ञानमय, विज्ञानधन तथा प्रज्ञानधन भी कहा जाता है।[32] ब्रह्म के आनंदस्वरूप का ज्ञाता भयमुक्त हो जाता है।[33] अखिल जगत् की सत्ता का कारण–भूत ब्रह्म की सत्ता है। समस्त कार्य इसी से संभव होते हैं–

यदिदं किच्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतिद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।[34]

यह अमृततुल्य, आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है।[35] उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन द्विविध प्रकार से है। कहीं इसे सगुण तो कहीं निर्गुण कहा गया है। सगुण अपर-ब्रह्म तथा निर्गुण परब्रह्म कहलाता है। अपर-ब्रह्म सविशेष, सगुण, सविकल्प, नित्य, विभु, सर्वज्ञ तथा सर्वनियन्ता कहा गया है, जबकि परब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निर्विकल्प, निष्प्रपंच एवं सच्चिदानंद रूप है। यह समस्त व्यवहार का अधिष्ठाता, स्वतःसिद्ध एवं स्वप्रकाश है। इसकी अपरोक्षानुभूति होती है, स्वानुभूतिगम्य इसका ज्ञान ब्रह्म बनकर ही संभव है।[36] वैसे सूक्ष्मतः देखने पर दोनों के बीच वास्तविक भेद नहीं है। वह सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी एवं निर्गुण भी हैं।[37]

आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्व का पृथक् प्रतिपादन के साथ ही दोनों के बीच एकीभाव को मानते हुए कहा गया है कि यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनंतर (विजातीय द्रव्यरहित) तथा अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदांतों का अनुशासन है।[38] छान्दाग्योपनिषद् (7/8/7) एवं माण्डूक्योपनिषद् (1/2) से भी आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्व के अभेद का पता चलता है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में आकाशादिक पंचमहाभूतों की उत्पत्ति ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व से कथित है। जगत् की उत्पत्ति का कारण अक्षर ब्रह्म है।[39] अज्ञानी कामनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं तथा विद्वान्, ज्ञानी, धैर्यवान्, अमृतात्मा को जानकर अध्रुव पदार्थों की कामना नहीं करते हैं।[40] देखा जाय तो आत्मतत्त्व ब्रह्मतत्त्व का ज्ञाता तुच्छ सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनिच्छा का भाव रखता है तथा मोक्ष-मार्ग की तरफ उन्मुख हो जाता है। उसे पता हो जाता है कि ब्रह्मातिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं, अतः वह समर्पित भाव से ब्रह्म-साक्षात्कार को अपने जीवन का ध्येय बनाता है।

यह सच है कि आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्व ही उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य है, परंतु इसके अतिरिक्त चरित्रादि की भी बातें वहाँ हुई हैं। कठोपनिषद् वचन हैं–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
ना शान्त मानसो वापि प्रज्ञाने नैनमाप्नुयाता।

स्वार्जित साधनों के उपयोग पर त्याग-भावना की बात की गई है। इसका अभिप्राय भोग्य पदार्थों के प्रति आसक्ति से विरक्ति है। सांसारिक भोगों पर विचार करते हुए 'कठोपनिषद्' में श्रेयस् एवं प्रेयस् मार्गों का वर्णन आया है। बुद्धिमान् श्रेयस् मार्ग का अवलंबन करते हैं, जबकि अल्पज्ञ प्रेयस मार्ग का।[41] दोनों ही परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं।[42] जो व्यक्ति इनके भेद को जान लेता है, वह आत्मिक, मानसिक रूप से आत्मा एवं ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला हो जाता है। वह ब्रह्म से विवर्त रूप में आविर्भूत समस्त पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है। श्री सदानंद ने वेदांतसार में विवर्तवाद एवं परिणामवाद की विशिष्ट व्याख्या की है। विवर्त को स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया–'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदिरितः।'

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी 'ब्रह्मकांड' में विवर्त की चर्चा की है, साथ ही परिणामवाद पर भी प्रकाश डाला है।[43]

निष्कर्षतः उपर्युक्त औपनिषदिक विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक भावना के विकास रूप उपनिषद्-ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्व की गूढ़ता का प्रतिपादन, उनकी एकता की स्थापना है। इसी क्रम में जीव, जगत्, चरित्रादि अन्य बातें भी उल्लिखित हुई हैं, साथ ही गूढ़ ज्ञान-तत्त्वों का विशद विवेचन हुआ है। शंकराचार्य, मध्वाचार्य तथा रामानुजाचार्य क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के द्वारा उपनिषद्-ज्ञान के ही विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः प्रामाणिक ग्यारह (शांकरभाष्ययुक्त) एवं संभावित 108 उपनिषदों को देखकर, समझकर ही राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर के साथ शोपेनहावर, मैक्समूलर, डॉयसन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी हृदय से इसकी प्रशंसा की है। जर्मन् विद्वान् डॉयसन का विचार तो देखिए–'उपनिषद्-ग्रंथों में जिस दर्शन का प्रतिपादन है, वह भारत में और संभवतः समग्र विश्व में अतुलनीय है।'

सत्यतः वास्तविक ज्ञान आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्व को जानने में है, जिससे अपना, अपने

समाज एवं राष्ट्र का चारित्रिक, आध्यात्मिक उत्थान संभव है। रामायण, महाभारत, गीता के साथ ही वेदादिवत् उपनिषद्-ग्रंथ हमारी संस्कृति-सभ्यता के आधारस्तंभ हैं।

संदर्भ

1. श्री वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ॰ 113
2. डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत निबंधशतकम्, पृ॰ 01
3. डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत निबंधशतकम्-पृ॰ 12
4. बृहदारण्यकोपनिषद्- 2/6/1-3
5. श्री चंद्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन (आलोचन और अनुशीलन), पृ॰ 05
6. कठोपनिषद् पर शाड.करभाष्य-2/1/1
7. छान्दोग्योपनिषद्-3/14
8. अभिज्ञानशाकुंतलम्-1/1
9. मुण्डकोपनिषद्-1/1/4-6
10. बृहदारण्यकोपनिषद् पर शाड.करभाष्य-1/4/9
11. श्री वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ॰ 125
12. तैत्तिरीयोपनिषद्-3/6/1
13. ऐतरेयोपनिषद्-3/3
14. कठोपनिषद्-1/3/14
15. डॉ॰ मिथिलेश पांडेय, यू॰जी॰सी॰ संस्कृत...तृतीय प्रश्न पत्र पृ॰ 34।
16. कठोपनिषद्-1/2/18
17. वही-1/2/22
18. बृहदारण्यकोपनिषद्-2/4/5
19. वही-4/5/14
20. वही-2/5/15
21. वही-1/5/3
22. मुण्डकोपनिषद्-2/2/6
23. बृहदारण्यकोपनिषद्-2/5/19
24. कठोपनिषद्-1/2/20
25. वही-1/3/3
26. श्वेताश्वतरोपनिषद्-1/8
27. तैत्तिरीयोपनिषद्/ ब्रह्मानंदवल्ली-2/5
28. तैत्तिरीयोपनिषद्/शांकरभाष्य-2/1/1
29. विष्णुसहस्रनामशाड.करभाष्य-84
30. अथर्ववेद-11/7/24
31. छांदोग्योपनिषद्-3/14/1
32. बृहदारण्यकोपनिषद्-3/9/28, 2/4/12-13, 4/5/13
33. तैत्तिरीयोपनिषद्-2/4/1
34. कठोपनिषद्-2/3/2

35. मुण्डकोपनिषद्–2/11
36. बृहदारण्यकोपनिषद्–4/4/25
37. श्वेताश्वतरोपनिषद्–6/11
38. बृहदारण्यकोपनिषद्–2/5/19
39. मुण्डकोपनिषद्–1/1/7
40. कठोपनिषद्–2/1/2
41. वही–1/2/2
42. वही–1/2/4
43. वाक्यपदीय–ब्रह्मकांड– 1

लक्ष्मीधाम, गली नं॰ 03,
निकट न्यू माधोनगर,
सहारनपुर, (उ॰प्र॰) 247001
मो॰ 09359764737
09058082429

 ISSN 0975-735X

उषा यादव के उपन्यासों में नारी-समस्याएँ

मोनिका, शोधार्थिनी
डॉ॰ संतराम वैश्य, शोध निर्देशक
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' की उक्ति के अनुसार प्राचीनकाल में स्त्री की स्थिति सम्मानित थी, परंतु विभिन्न आक्रांताओं के आने से इसकी स्थिति में निरंतर गिरावट आती गई। विभिन्न चिंतकों एवं समाज-सुधारकों के प्रयास से इसकी स्थिति सुधारने की निरंतर कोशिश की गई। आज स्वतंत्रता के 68 वर्ष बीतने पर भी स्त्री की स्थिति जस की तस है। केवल भारत ही क्यों, बल्कि संपूर्ण विश्व में इसकी स्थिति हाशिए पर है। समाज में उसे केवल उतने ही अधिकार दिए जाते हैं, जिससे उसकी स्थिति पुरुष के अधीन बनी रहे। शोषणकर्ता नहीं चाहता कि उसके कार्यों की तरफ कोई उँगली उठाए। स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए अनेक सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाएँ प्रयासरत हैं, लेकिन सुधार आने के बजाय स्थिति जस की तस है। इसका मुख्य कारण इन समस्याओं के क्रियान्वित होने में है। जो पुरुष उसके पक्ष में सभाओं में बड़े-बड़े वादे करता है, वही घर में स्त्री को पाँव की जूती समझता है। वह उसके अधिकारों, स्वतंत्रता एवं स्वत्व को घर की चहारदीवारी में कैद कर लेता है। असहाय एवं दुर्बल स्त्रियाँ खून के आँसू पीती नजर आती हैं।

उषा यादव की पहचान एक सशक्त नारीवादी लेखिका के रूप में है। आप विभिन्न उपन्यासों के माध्यम से नारी की अंतरंग एवं बहिरंग समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाकर यह बताती हैं कि जिस स्त्री को हम पुरुष की अर्धांगिनी, सहचरी आदि नामों से विभूषित करते हैं, उसकी समाज में वास्तविकता क्या है? कदम-कदम पर वह कभी पिता रूपी, कभी पति रूपी व कभी पुत्र रूपी बैसाखी के सहारे चलती है। यदि वह स्वयं कोई निर्णय लेने का प्रयास करती है तो पुरुष के वेश में विभिन्न वेशधारी भेड़िए उसे नोचने को उतावले रहते हैं। विभिन्न रिश्तों की चादर ओढ़े छद्मधारी इन अबलाओं को दबाने एवं कुचलने में प्रयासरत रहते हैं। इन्हीं सब वेदनाओं से आहत लेखिका समाज को उसका असली चेहरा दिखाना चाहती है और साथ ही अपनी कुंठित एवं विकृत सोच को बदलकर एक नया आयाम स्थापित करवाना चाहती है।

वैसे तो आपने अपने सभी उपन्यासों में स्त्री के जीवन की हर त्रासदी को जीवंत दिखाया है, परंतु अबोध बालिकाओं के यौन-शोषण का जिस संजीदगी से वर्णन किया है, उसे पढ़कर रूह तक काँप जाती है। भारतीय दंड संहिता-376 के अनुसार बलात्कार एक दंडनीय अपराध है। इस धारा के अनुसार–'जब कोई पुरुष किसी स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध या सहमति के बिना या मृत्यु का भय दिखाकर संभोग करता है तो वह बलात्कारी है।' परंतु हमारे समाज में बलात्कार की स्थिति आने पर दोषी पुरुष को नहीं माना जाता बल्कि स्त्री पर ही लांछन लगाया

जाता है। वह अपराधिनी और सबकी नजरों में कलंकिनी बन जाती है। जैसा कि 'कथांतर' की माया है। वह अपने ही दानव पिता की कुत्सित वृत्ति का शिकार होती है और अपनी अस्मिता खोकर एक संवेदनहीन मशीनी गुड़िया बन जाती है। छोटी बहन माला नासमझ होने के बावजूद इस सच को स्वीकार करती है–'लड़की होना ही सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात है। जो चाहे, जब चाहे, लड़की को चोट पहुँचा सकता है। बेचारी माया दीदी। फटा कुरता, खरोचों से भरा चेहरा और आँसुओं से लाल आँखें लिए क्यों बैठी हैं? आखिर क्या हुआ है? कुछ-न-कुछ तो जरूर ही हुआ है, जिसने घर में यह भयानक तूफान ला दिया है। कुछ ऐसा, जो नहीं होना चाहिए था। कुछ ऐसा, जिसे पाप कहते हैं। कुछ ऐसा, जो लज्जाजनक भी है।'[1]

अपनी अस्मिता लुटा चुकी माया का पथरीला चेहरा। 'ऐसा नहीं लगता था कि वह चेहरा अब कभी सहज सामान्य हो पाएगा। जीवन के एक गोपन रहस्य का ऐसा क्रूर साक्षात्कार तन से ज्यादा उसके मन को तोड़ गया था। लड़की से औरत बनने की प्रक्रिया का घिनौना एहसास उसके रोम-रोम में अपने आपसे घिन पैदा कर गया था। एक जिंदा लाश में तब्दील यह लड़की अब कभी हँस-बोल सकेगी या नहीं, कौन कह सकता है?'[२] इस प्रकार संवेदनहीन, मशीनी गुड़िया बन चुकी माया का अंत अवांछित गर्भपात के कारण मौत के साथ होता है।

ऐसी ही स्थिति गंगा की है, जो वैधव्य की सात्त्विक चादर ओढ़े अपने पति की यादों के सहारे जीवन बिताना चाहती है, पर पिता समान जेठ पहले तो उसे जबरन विधवा गंगा से देबू की माँ बना देते हैं और बाद में उसके बच्चे को स्वीकारने से भी मना कर देते हैं। दरोगाइन जो अपने पति की घिनौनी करतूत से भली-भाँति परिचित होती है, फिर भी दोषी गंगा को ही ठहराती है। गंगा के यह कहने–'मैं सचमुच बेकसूर हूँ जीजी। औरत जात की बिसात ही कितनी? जुल्मजोर से मर्द ही उसे अपनी हवस का शिकार बना लेता है।'[३] का भी उस पर कोई असर नहीं पड़ता। वह उसे हर प्रकार से शारीरिक एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित करती है।

'नन्ही लाल चुन्नी' की राधा और सीमा को जब दो मुस्टंडे अगवा कर अपनी हवस का शिकार बनाते हैं तो छत पर सूखने के लिए डाली गई दो भीगी चादरें बन चुकी थीं वे, पर सूखती कैसे? आसमान पर चमकता सूरज नहीं, घिरती घटाएँ थी। थोड़ी-थोड़ी देर बाद वे घटाएँ बरस उठतीं। बेचारी चादरें हवा के झोंकों से जितनी सूखती, मूसलाधार झड़ी से दुबारा पानी-पानी हो उठतीं'[4] अपनी अगवा बच्चियों की आबरू बचाने के लिए गरीब और असहाय परिवार मदद की गुहार कहाँ से लगाएँ। मजबूर पिता जब थाने में शिकायत दर्ज कराने जाते हैं तो पुलिसवाले बड़ी बेशर्मी से चुटकियाँ लेते हुए अभद्र एवं अश्लील भाषा में कहते हैं–'साले तू है किस गुमान में? तेरी सात पुश्तों का कच्चा चिट्ठा हमें मुँहजुबानी याद है। तेरी लौंडिया महज एक सिनेमा के लालच में बिक गई होगी।'[5] इस प्रकार न्याय के रक्षकों से ऐसे उपेक्षापूर्ण रवैये के बाद न्याय की उम्मीद के लिए कौनसे दरवाजे पर दस्तक दी जाए?

केवल शील भंग करना ही यौन-शोषण नहीं। अश्लील शाब्दिक अभिव्यक्ति भी इसी का एक हिस्सा है। अपने 'स्वांग' उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने इसमें दर्शाया है कि वसुधा इंसानियत के नाते गरीब अंकुर को संरक्षण देती है, लेकिन सपोला अंकुर सभी सुविधाएँ पाकर उन्हीं के विरुद्ध षड्यंत्र रचता है और उस पर भद्दे और अश्लील चारित्रिक आक्षेप लगाकर पूरे समाज में उसे बदनाम करता है। एक उज्ज्वल छवि वाली प्राध्यापिका इन आरोपों को सह नहीं

पाती और अपनी सर्वस्व चल-संपत्ति बेचकर, नौकरी से त्यागपत्र देकर कहीं दूर जाना चाहती है। ऐसी स्थिति में उसे पुरानी शिष्या गरिमा (जो अब आई॰ए॰एस॰ है) की मदद मिलती है। वह पूरे मामले की तह तक जाती है और मनोज के मुख से पूरी हकीकत जानकर अचंभित होती है–'रेशा-रेशा करके उधड़ता रहा एक सच। आहिस्ता-आहिस्ता उजागर होता रहा एक रहस्य। शनैः-शनैः खुलता गया एक समूचा षड्यंत्र।

'मैडम ने उसे एक कंप्यूटर खरीदवाया और इंटरनेट की सुविधा हासिल करने के लिए भी पैसे खर्च करवाए। इसके बाद उनकी बीमारी के दौरान ही इसके शैतानी दिमाग में जगह-जगह गंदे ई-मेल भेजकर मैडम की छवि बिगाड़ने की खुरापात उपजी थी।'

सच! कितना गलीच और शर्मनाक था यह सब आधी रात के बाद की निस्तब्ध वेला में सारे ई-मेल संदेश, उन्हीं की कोठी में बैठकर उन्हीं के पैसे से हासिल की गई इंटरनेट सुविधा का गर्हित इस्तेमाल करते हुए भेजना, क्या इंसानियत की हदों को पार करने वाली नीचता नहीं थी'[६]

लेखिका 'कथांतर' की अन्य घटनाओं में बताती है कि पुरुष हमेशा से ही स्त्री को अपने पाँव की जूती और मन बहलाने का साधन-मात्र मानता आया है। अति तो तब होती है, जब वह मृत्यु के पश्चात उसे पंचतत्त्व में विलीन न कर अपनी आय का साधन बना लेता है। वह लोगों में झूठी अफवाह फैलाता है कि अकाल मृत्यु को प्राप्त उसकी पत्नी ने स्वप्न में कहा है कि वह मरी नहीं है, उसकी देह को नष्ट न किया जाए, बिठूर ले जाकर गंगा तट पर सुरक्षित रखा जाए, वह पुनः प्राणयुक्त होकर उसके साथ जीवन बिताएगी।'[७] इस प्रकार लोगों की आस्था का फायदा उठाने के लिए नाइट्रोजन का लेप लगाकर वह लाश को ताबूत में रख देता है। आम जनता के साथ-साथ पूरा प्रशासन भी अज्ञानतावश उसके धोखे में आ जाता है। पंडे भी उत्साहित होकर बताते हैं–'चमत्कार तो है ही। साधारण लाश होती तो क्या ग्यारह साल रखी जा सकती थी? हफ्ते भर में ऐसी गंधाने लगती कि यहाँ हमारा बैठना भी मुश्किल हो जाता। और मेला-ठेला क्या, यह तो जनता की श्रद्धा है। देवी माँ के दर्शनों के लिए आस्थावान जन खुद ही आ जुटे हैं। ऐसी पूजायोग्य मूर्ति के दर्शन करने से पुण्य मिलता है।[८] इस प्रकार लोगों को बेवकूफ बनाकर वह पत्नी के शव को आय का साधन बनाते हैं। ऐसे में देवेंद्रनाथ पुलिस वालों से कहते हैं–उस दाढ़ी वाले को गिरफ्तार क्यों नहीं करते हो तुम? औरत का जिंदगी भर तो शोषण किया ही होगा, मौत के बाद भी उसके शरीर को मुक्ति नहीं दे रहा।'[९]

विवाह को हमारे समाज में जन्म-जन्मांतर तक चलने वाला एक पवित्र बंधन माना जाता है, लेकिन समय एवं परिस्थितियों के साथ-साथ इसके दृष्टिकोण में बदलाव आता जा रहा है। आज विवाह व्यर्थ और दमघोटू प्रतीत हो रहा है। अधिकांश परिवारों में पुत्र की आज्ञाकारिता और पुत्री का डर बेमेल विवाह का कारण बनता जा रहा है, जिससे दोनों का जीवन त्रासदीपूर्ण बन जाता है। पुरुष अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षुधा शांत करने के लिए अन्य स्त्री के आलिंगन में जा सिमटता है, पर रहता फिर भी निर्दोष ही है और दोषी स्त्री को ही माना जाता है, जो निस्वार्थ भाव से पत्नी और रक्षिता दोनों रूपों में पुरुष के शोषण का शिकार होती है।

वैवाहिक जीवन में दहेज की समस्या भी सुरसा राक्षसी की तरह मुँह-बाए खड़ी रहती है। पर्याप्त दहेज न मिलने से 'दीप अकेला' की विनीता और 'आँखों का आकाश' की शुचि

दोनों का जीवन त्रासदीपूर्ण बन जाता है। विनीता अपने ही पति द्वारा नजरबंद कर दिए जाने पर तिल-तिलकर मरने को मजबूर होती है। पड़ोसन की मदद से जब उसके परिवारवालों तक ये खबर पहुँचती है तो बड़ी समझदारी का परिचय देते हुए उसका भाई आता है और लालची सुभाषचंद्र को गाड़ी एवं प्लाट का उपहार देने की बात कहता है। यह सुनकर उसकी बेकाबू भावनाएँ इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो जाती है–'वही तो मैं कहूँ, बिचौलिए ने तो बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाए थे हमें। पर शादी में वे सब रेगिस्तान में तब्दील हो गए? लेकिन एक बात अब भी मेरी समझ में नहीं आई कि हमारे ससुरजी जरूरत से ज्यादा क्यों सीधे हैं या आवश्यकता से अधिक चालाक हैं। भेंट-उपहार के नाम पर बेटी को प्लाट गाड़ी देना तो ठीक है, पर इतने दिन मुँह में दही जमाए क्यों बैठे रहे? ब्याह के वक्त सीना तानकर ये घोषणाएँ की होतीं तो बिरादरी में नाक ऊँची न होती।'[१०]

'आँखों का आकाश' की शुचि तो अपनी बड़ी बहन सुधि के प्रेम-विवाह का खामियाजा भुगतती है। बीच में ही पढ़ाई छुड़ाकर उसका विवाह एक प्रतिष्ठित एवं संपन्न परिवार के लड़के दीपंकर से कर दिया जाता है। सार्म्थयानुसार दहेज देने पर भी लालची ससुराल पक्ष वालों का मन नहीं भरता और वे शुचि को हर प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ देते हैं। असहाय शुचि सोचती है, 'कैसी बिडंबना थी कि ससुराल वालों के हर अन्याय को झेलने के लिए वह विवश थी, पर सोच नहीं पाती कि इतनी बड़ी दुनिया में मदद के लिए किसकी तरफ देखे? क्या रूढ़ियों से बँधे माता-पिता और भाई जो सिर्फ अंतर्जातीय विवाह कर लेने के कारण बड़ी बहन से खार खाए बैठे हैं। 'तलाक' जैसा शब्द उसके मुख से सुन सकेंगे? यदि विवाह की लक्ष्मणरेखा में रहना ही उसकी नियति है तो माँग के सिंदूर की कीमत इसी तरह लात-घूँसे खाकर वह चुकाती रहेगी।'[११] इसी प्रकार आज के दौर में प्रेम-विवाह भी कितने सफल हो पाते हैं, इसी उपन्यास की नीता दी इसका जीता-जागता उदाहरण है। अपने प्रेम की खातिर वह अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देती है, लेकिन दसवीं पास उसका पति आई॰ए॰एस॰ बनते ही उससे कन्नी काटने लगता है। 'क्या मिला त्याग और बलिदान की देवी बन जाने के बाद? सिर्फ पूजा-अर्चना के दो फूल ही न! दीपक उसकी त्याग-भावना की आज भी कद्र करता है, पर अपने आडंबरपूर्ण जीवन में उसके समाहार से कतराता है। अपने जैसे उच्चपदस्थ अधिकारियों के बीच उसे उनकी पत्नियों जैसी चमकती देह की पद्मिनी नायिका चाहिए। वन्य सौंदर्य वह भी प्राकृतिक प्रकोप से ध्वस्त, अपना आकर्षण खो चुका था।'[12] क्या केवल शारीरिक आकर्षण ही सब-कुछ है? क्या नीता के आत्मिक सौंदर्य की कोई महत्ता नहीं है? इन्हीं प्रश्नों की कशमकश में नीता दी अंततः उसी दिन अकेली घर से निकल पड़ी थीं, जानती थीं खोज-खबर कोई नहीं लेगा। ऐसी ही किसी को खोजने की उत्कंठा होती तो उसे निकलना ही क्यों पड़ता।'[13]

स्त्री के लिए विवाहित और अविवाहित दोनों स्थितियाँ कष्टपूर्ण होती हैं 'शायद औरत का जन्म ही पीड़ा झेलने के लिए होता है। विवाह करे तो दुखी, न करे तो दुखी। सुख-दुख का सहचर मिलने की आकांक्षा में पिया के घर जाती है, पर बदले में वह प्रेम और विश्वास कब पाती है, जो सुखी दांपत्य जीवन की धुरी है। यदि नौकरीपेशा हुई तो घर से नौकरी की चक्की के दो पाटों में पिसती रहती है। यदि सिर्फ घरेलू महिला हुई तो उसके जीवन के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। ....गौरव पाती हों?

विवाह न करने की स्थिति में भी सुख कहाँ है? समाज की शंकित दृष्टि सदैव एक्स-रे की भाँति उनका भेदन करती है। ....बिडंबना यह है कि स्त्री को विवाह न करने पर कोई परेशानी नहीं होती, पर उसके तथाकथित शुभचिंतकों को न जाने क्यों चिंता होने लगती है।'[१४]

'दीप अकेला' की दिव्या, जो अविवाहित रहने का प्रण तो अवश्य ले लेती है, परंतु जब अपने भांजे की शादी में शामिल होने जाती है तो वहाँ मौजूद स्त्रियों के विभिन्न आरोपों-प्रत्यारोपों का सामना करना पड़ता है। ब्याहता-सी तो दीखती नहीं। न माँग में सिंदूर, न हाथों में चूड़ियाँ, न पैरों में बिछुए।' सोई तो मैंने कही' विधवा होती तो नाच-गाने का ऐसा शौक न चढ़ता। राम जाने कैसी शादीशुदा है, कुँवारी है, 'उम्र तो ऐसी छोटी नहीं दिखती कि अभी ब्याह के इंतजार में बैठी होगी। राम ही जाने, असलियत क्या है?[१५] बड़ी बहन द्वारा दहाजू से सुझाए रिश्ते को भी वह स्वीकार नहीं कर पाती। कारण तीन पुत्रियों के होते हुए भी वो पुत्र-रत्न की प्राप्ति के लिए विवाह करना चाहता है न कि पुत्रियों को एक माँ का ममत्व एवं संरक्षण देने के लिए। यही वैचारिक मतभेद दोनों में वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं होने देता। यही नहीं, माता-पिता की मृत्यु के पश्चात जब दोनों भाई-भाभियाँ उसे पढ़ाने की बजाय एक नौकरानी बनाकर अपने पास रखना चाहते हैं तो वह अपने आत्मबल के सहारे स्वयं एक हॉस्टल की वार्डन बनकर न केवल अपने पैरों पर खड़ी होती है, बल्कि अपनी पढ़ाई भी पूरी करती है।

वैवाहिक जीवन भी अधिकतर स्त्रियों के लिए सुखद न होकर बंधन बन जाता है। पति के दुर्व्यसनी स्वभाव के कारण उनका जीवन त्रासदीपूर्ण हो जाता है। जी-तोड़ मेहनत करने के बावजूद 'कथांतर' की माला अपने बच्चों को सही परवरिश नहीं दे पाती। भावुकतावश वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर मुक्ति का रास्ता खोजती है, परंतु भाग्य उसका साथ नहीं देता और लोगों की त्वरित कोशिशों ने उसे मौत के जबड़े से निकाल दिया। बिडंबना नहीं तो और क्या थी? पति जीने नहीं दे रहा था और समाज ने मरने नहीं दिया।

कबाड़घर बनी कोठरी के एक कोने में सिर झुकाए बैठी रही वह अपराधिनी-सी अपनी पीड़ा और शर्म के महासमुद्र में डूबती-उतराती। मरने पर दो आँसू तो मिलते, जीकर सिर्फ प्रताड़ना मिली।' ऐसे में वह पुरुष-प्रधान समाज के बारे में सोचती है-'उसे उसका धर्म सिखा रहे थे वे लोग, जो पाँव के नाखून से सिर के बाल तक अधर्म और अन्याय के दलदल में धँसे थे। इनके बहरे कानों में क्या उसकी दुहाई पहुँच सकती थी? ये सब एक ही मिट्टी की बनी मूरतें थीं। हृदयहीन, निर्लज्ज और अहंकार से भरी हुई। इनमें से कभी कोई बीबी की करधनी बेचकर शराब की जुगत बैठा चुका था, कोई उसके संदूक की तली में धरे चार पैसे चुराकर जुए की भेंट चढ़ा चुका था और कोई उसके गले का मंगलसूत्र बेचकर, कलाई में गजरा लपेटे रंडीखाने की सीढ़ियां चढ़ चुका था। ये सब एकमत थे कि औरत सहने के लिए बनी है। उसे मौत से बदतर जिंदगी जब ये लोग खुद दे रहे थे तो किसी दूसरी मौत के लिए हड़बड़ी क्यों?[१६]

स्त्रियों की ऐसी स्थिति की जिम्मेदार वे स्वयं ही हैं। संस्कारों में लिपटी पारिवारिक एवं सामाजिक भय से वे पति के विरुद्ध जुबान खोलने की हिम्मत नहीं जुटा पातीं। हमारे समाज में भी तलाकशुदा पति को तो सहर्ष विवाह की अनुमति दे दी जाती है, परंतु स्त्रियों के ऐसा करने में स्त्रियाँ रुकावट डालती हैं। स्वयं उसके पति की भी यही कोशिश रहती है कि उसकी परित्यक्त पत्नी किसी दूसरे के साथ सुखी वैवाहिक जीवन न बिता पाए-'हिंदुस्तान में आज इतनी

शादियाँ तलाक में इसलिए परिणत हो रही हैं, क्योंकि शादी-ब्याह को गुड्डे-गुड़ियों का खेल समझ लिया जाता है। कहीं दहेज के लालच में, कहीं ऊँचे खानदान के लोभ में और कहीं दबाव में शादियाँ हो जाती हैं। आग के नजदीक सात फेरे मात्र लेने से जन्म-जन्मांतर का बंधन नहीं हो जाता। शादी होते ही पति-पत्नी के विचारों में मतभेद उभरने लगते हैं और गाजे-बाजे के साथ होने वाली शादी का समापन कचहरी में जाकर हो जाता है।[17]

इस प्रकार उषा यादव के सभी उपन्यासों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि स्त्री-जीवन की समस्याओं का बहुत बारीकी से आपने वर्णन किया है। आप बताती हैं कि जो समाज व्यक्तित्व-विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है, वही समाज नारी के साथ एक शोषक की भूमिका निभाता है। वह कहीं भी नारी को सहारा देने, स्थापित करने एवं सांत्वना देने की भूमिका अदा नहीं करता। बल्कि स्त्री को उसके संबंधों और संपर्कों से दूर कर पल्ला झाड़ लेता है। नारी केवल पुरुष द्वारा बनाए नियम-कानूनों तथा जिम्मेदारियों, पैतृक नैतिकता, शील मातृत्व का निर्वाह करती है। समाज में जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं, वे सभी पुरुष की सुविधाओं के लिए हैं। जो स्त्री अनुशासन में बँधकर इन सभी को मानती है, वही आदर्श स्त्री है। लेकिन जैसे ही वह अपने निर्णय अपने विवेक द्वारा लेती है तो यह बात पैतृक समाज को कब पसंद आती है? नैतिकता के समूचे प्रतिमान पुरुष द्वारा ही बनाए हुए हैं और एक पुरुष बिना स्त्री की मानसिकता समझे क्या उसके लिए सही निर्णय ले सकता है?

संदर्भ

1. कथांतर, डॉ॰ उषा यादव, पृ॰ 143-144
2. वही, पृ॰ 142-143
3. वही, पृ॰ 66
4. नन्ही लालचुन्नी, डॉ॰ उषा यादव, पृ॰ 19
5. वही, पृ॰ 34-35
6. स्वांग, डॉ॰ उषा यादव, पृ॰ 182-183
7. कथांतर, पृ॰ 198
8. वही, पृ॰ 202
9. वही, पृ॰ 202
10. दीप अकेला, पृ॰ 170
11. आँखों का आकाश, पृ॰ 98
12. वही, पृ॰ 132
13. वही, पृ॰ 137
14. एक और अहल्या, पृ॰ 115
15. दीप अकेला, पृ॰ 61-62
16. कथांतर, पृ॰ 108
17. एक और अहल्या, पृ॰ 117

14/4/II BHEL
हरिद्वार (उत्तराखंड) 249403
मो० 08791000210

ISSN 0975-735X

डॉ॰ चंद्रिकाप्रसाद शर्मा के रेखाचित्रों की भाषा

आसिफ अली म॰ हँचिमनी, शोधछात्र
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, धारवाड़

रेखाचित्रों के शिल्प को साकार रूप देने का कार्य रेखाचित्रों की भाषा करती है, न कि उसमें वर्णित घटना, किंतु इसके लिए भाषागत विशिष्टता का होना अति आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि भाषा को विशिष्ट बनाने के लिए उसमें साहित्यिक क्लिष्ट शब्दावलियों की प्रचुरता हो, हाँ यह जरूरी है कि भाषा पात्र परिवेश और स्थिति के अनुसार हो।

डॉ॰ चंद्रिकाप्रसाद शर्मा ने अपने समय रेखाचित्र साहित्य में मँझी हुई हिंदी में ग्रामीण अवधी के मिश्रण से संयोजित अपने रचनात्मक शिल्प-संघटन द्वारा ग्रामीण धूली के चरित्रों के सजीव स्मृति-चित्रों को रेखांकित किया है। उनके रेखाचित्रों की भाषा पात्रानुकूल है, साथ ही उसमें भावगत तटस्थता, चित्रात्मक शब्दों की योजना एवं स्थिति का यथार्थ चित्रण करने की क्षमता पाई जाती है। उनके रेखाचित्रों की निम्नलिखित भाषागत विशेषताएँ हैं–

1. **चित्रात्मक भाषा**

विद्वानों का मत है कि रेखाचित्र में किसी व्यक्ति, वस्तु, घराना, स्थिति या भावादि को मूर्तिमान करने के लिए भाषा में चित्रात्मकता का गुण होना आवश्यक है। भाषा में आलंकारिक चमत्कार दिखाने का प्रयत्न न करते हुए डॉ॰ शर्मा ने अपने रेखाचित्रों के शिल्प में अपनी प्रत्यक्ष अनूभूति तथा संपूर्ण यथार्थ को पाठकों के नेत्रों के समक्ष साकार रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने चित्रात्मक स्पष्ट तथा सरल भाषा-शैली का प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए–

'हमारा स्कूल उन्हीं के घर के पास था। आते-जाते इंटरवल की छुट्टी आदि के समय हम कुछ बच्चे हबीब की चूड़ी बनाने की कला देखा करते थे। लकड़ी के एक गोल-गोल बेलन पर लाख द्वारा बहुत सधे हाथों से वे चूड़ियाँ बनाया करते थे। उनकी बीबी पास में बैठी लाख तैयार करके देती रहती थी और तैयार चूड़ियों को सहेजकर अलग रखती जाती थी।'[1] उपर्युक्त उदाहरण में भाषा चित्रात्मक गुणों से युक्त है।

2. **यथार्थवादी भाषा**

डॉ॰ माखनलाल शर्मा का मत है कि कथा का महत्त्व यथार्थवादी बनने में है। रेखाचित्र कथासाहित्य की एक विधा होने के कारण यथार्थवादी होने पर ही सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ पाती है। डॉ॰ शर्मा के सभी रेखाचित्रों में यथार्थ दृष्टि निहित है। वैसे डॉ॰ शर्मा की भाषा ही उनकी शक्ति है, क्योंकि उनकी एक ऐसी पैनी दृष्टि है, जो वस्तुओं और स्थितियों को उनके सच्चे रूप में पहचानकर उपयुक्त शब्दों में यथार्थ को प्रकट कर सकती है। वे वस्तुओं को उनके सही नाम

से पुकारते हैं। किसी रहस्य या आवरण का प्रयोग करके शब्दजाल में पाठकों को फँसाने का प्रयोग उन्हें प्रिय नहीं लगता। डॉ॰ शर्मा के रेखाचित्रों की भाषा में सादगी और सरलता के साथ-साथ यथार्थवादी दृष्टिकोण विशिष्ट रूप में दिखाई देता है। उन्होंने भाषागत यथार्थ शैली द्वारा अपने पात्रों के साथ निजी वफादारी बरती है। यथार्थवादी शैली में लिखे निम्न उदाहरण में विवाह की रस्मों की झाँकी देखिए–

'मंडप की सारी रस्में पूरी हो गईं, छंगा की बुआ ने कजारुटा से दो उँगलियों में काजल लगाकर छंगा की आँखों राँजी और आँखें रजउनी एक भैंस पाई। अब श्री छैलबिहारी शुक्ल, वर जी अपने द्वार पर आए। कहार मियाना (डोला) तैयार किए थे। वे मियाना में बैठ गए। पीठ की ओर गिरदा लगा था। स्त्रियाँ पहछन के गीत गा रही थीं। मतौल की पार्टी कुडमुडिया बाजा बजा रही थी। कुड मुड झैयम, कुड मुड मुड झैयम! ...झब्बुसिंह ने अपनी इकनली बंदूक से धाँय धाँय दो आकाशी फायरें की। बरात चल पड़ी।'[2]

इस प्रकार यथार्थवादी चित्रण के लिए द्रव्य कोई भी हो, डॉ॰ शर्मा की दृष्टि इतनी सूक्ष्म और संवेदनशील पकड़ करती है कि सारा वातावरण ध्वनित होने लगता है।

3. भावगत तटस्थता

यदि रेखाचित्र में गंभीर भाव-व्यंजना नहीं होगी तो निश्चित ही वह रेखाचित्र की गरिमा से मंडित नहीं रह सकता। इसलिए विद्वान रेखाचित्र में भावात्मक तटस्थता को अनिवार्य मानते हैं। डॉ॰ शर्मा के रेखाचित्रों में भावगत तटस्थता की विशेषता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। डॉ॰ शर्मा ने अपने रेखाचित्रों में चाहे दुखद हो या सुखद, हर प्रकार के दृश्य को प्रस्तुत करने के लिए शैली में भावगत तटस्थता को ध्यान में रखा है। लेखक ने अपने ग्रामीण प्रदेश के बदरंग, असभ्य, पिछड़ों के शब्द-चित्रों को सँजोते हुए अपनी भाषा पर रोमांटिक दृष्टिकोण और भावुकता को हावी होने नहीं दिया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

'मार दिया जय बजरंगी।' उसकी चीख सुनकर पिता गजोधरसिंह घर से बाहर निकल आए। मंगल पिता को देखकर उनकी ओर बढ़ा और उनके पैरों पर शीश रख दिया और बोला, 'मार दिया बप्पा। पास होई गयन।' गजोधर तीन वर्षों की निराशा के बाद चौथे वर्ष यह सुखद समाचार सुनकर अपने कानों पर विश्वास ही नहीं कर रहे थे। वे तिखार-तिखारकर पूछ रहे थे, 'लाला लंबरू ठीक देखि लिन्हेव? मंगल गर्व से बोला, 'अरे बप्पा! साफ छपा है। हमरै नंबरू है, पास हो गया, बप्पा।'[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में सुखद भावाभिव्यंजना को दर्शाया गया है। इसी तरह दुखद भावों को भी डॉ॰ शर्मा ने निपुणता के साथ दर्शाया है।

4. रेखाचित्रों में प्रांजल (लोक) भाषा का प्रयोग

हिंदी के आधुनिक गद्यसाहित्य में ग्रामांचल के लघु-मानव पर रचे गए साहित्य में विभिन्न रचनाकारों ने सामान्य हिंदी के साथ लोकभाषा का भी सफलता के साथ प्रयोग किया है। रेखाचित्र साहित्य में भाषा के ऐसे ग्राम्य प्रयोग रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा आदि श्रेष्ठ रेखाचित्रकारों के रेखाचित्रों में देखे जा सकते हैं। डॉ॰ शर्मा ने भी सहजता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से गाँव के बदरंग चरित्रों के शब्द-चित्रों को रेखांकित करने के लिए विशुद्ध हिंदी का प्रयोग न करते

हुए सहज हिंदी के साथ प्रदेश की ग्रामीण अवधी बोली को आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। उनकी भाषा का यह व्यावहारिक तथा सार्थक प्रयोग हर स्थिति का सहज बिंब प्रस्तुत करने में समर्थ है। अनपढ़, गँवार, लोगों के स्मृति-चित्रों को प्रस्तुत करते समय अपनी सहज हिंदी से हटकर उन्होंने पात्रों के संवादों को लोकभाषा में ही प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण–

'यह दूबरिया तो सब भंडासराधि कीन्हे है। जोनु है तोनु, न जाति दयाखै न कुजाति। सब तन लफर-लफर कइ कै बिरहा गावा करत है। अरे, जोनु है तोनु; बिरहा बाभन क न गावै क चही। मुलो का बताई यह तो पूरा सूद्र नाक कराया है बभनन कै, जोनु है तोनु–का हम बताई कछु कहते नहीं बनत।'[4]

उपर्युक्त उदाहरणों में डॉ॰ शर्मा की भाषिक संरचना की स्थिति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सभी रेखाचित्रों में स्थान-स्थान पर ऐसे उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। डॉ॰ शर्मा की भाषा भाव, वातावरण, समय और संयोग के अनुरूप निरंतर स्वत: परिवर्तित होती हुई चलती है, किंतु वह अपना सहज रूप नहीं छोड़ती। इस प्रकार भाषा के ग्राम्य प्रयोग तथा पात्रानुकूलता द्वारा उन्होंने वातावरण को सजीव बनाने में अपना उद्‌भूत कौशल दिखाया है।

5. मौलिक मुहावरेदार भाषा

डॉ॰ शर्मा ने हर स्थिति में अपने अनुभव को प्रामाणिकता दी है, यही कारण है कि उनकी यथार्थ के प्रति मौलिक प्रतिक्रियाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी लेखनी में एक प्रकार की क्रमशीलता है, इस क्रमशीलता को प्रस्तुत करने में वे भाषा के सुबोध एवं सीधे रूप को अपनाते प्रतीत होते हैं। जिस तरह से डॉ॰ शर्मा की भाषा-शैली निजी और मौलिक है, उसी तरह उनकी भाषा में निजी और मौलिक मुहावरों की स्थापना हो पाई है। उनकी अपनी मौलिक मुहावरों से कसी भाषा अलग-अलग चित्रों में भिन्न-भिन्न रंग देने का काम करती है। ऐसे मौलिक प्रयोगों के कारण कठिन दृश्य या विषय भी पाठकों को सरलता के साथ समझ में आ जाते हैं और मौलिक में बना हर चित्र कुछ-न-कुछ कहकर निकल जाता है। एक उदाहरण से बात सरल हो जाएगी। 'मुंशी जी उर्दू का इमला हिज्जे के साथ बोलते थे। फिर भी उर्दू उर्दू ही है, सगीरन सगीरन ही थी। बीच-बीच में वे हिज्जे न बोलते थे तब सगीरन 'आम' को अलिफ के बजाय 'एन' से लिख देती और चंदन 'बाद' को 'एन' के बजाय अलिफ से लिख देता; फिर क्या था मुंशी जी के दिमाग के थर्मामीटर का पारा एक सौ डिग्री पर पहुँच जाता तुम दोनों गधे हो गधे चंदन को चाहे कम बुरा लगता हो या बेचारी सगीरन स्त्रीलिंग से पुलिंग की संजा पाकर अवश्य लजाती रहती होगी। गधा बना लेने के बाद मुंशी जी ...तुम नालायक हो, बदतमीज हो निकम्मे हो, कामचोर हो, मूर्ख हो, जाहिल हो आदि-आदि शब्दों के साथ दोनों के गलथरा लाल कर देते थे। चंदन साँवला था, तमाचों की मार से उसके गाल तवे पर सिंकी बाजरे की पनेथी जैसे हो जाते और सगीरन मक्खनियाँ रंग की थी। उसके गालों पर उँगलियों के निशान ऐसे उभर आते थे जैसे गेहूँ की बेली पर राब चूपरी गई हो।'

उपर्युक्त उदाहरण में अनूठी मुहावरेदार भाषा के प्रयोग से स्कूली दृश्य को उजागर किया गया है। डॉ॰ शर्मा ने खड़ीबोली के मुहावरों को उनकी विशिष्ट भूमिका से हटाकर अपनी भाषा में सामान्य पद प्रदान करने की कला में महारत दिखाई है।

डॉ॰ शर्मा की भाषा शैलीगत अन्य विशेषताओं के अंतर्गत उनका रेखाचित्रों में लोकगीतों का प्रयोग करना है, साथ ही यदा-कदा उन्होंने प्रतीकों का अवश्यकता अनुसार प्रयोग भी किया है। उनकी भाषा में सहज शब्द-योजना तथा सरल वाक्य-रचना जैसी विशेषताओं के कारण रेखाचित्रों के शिल्प में भाषा तत्त्व अत्यंत समृद्ध रूप में उभरकर सामने आता है।

गहरे शिल्प-संयोजन के माध्यम से डॉ॰ शर्मा ने जटिल विषयों को सरल अभिव्यक्ति दी है। यथार्थवादी दृष्टिकोण, चित्रात्मक भाषा, भावगत तटस्थता, मौलिक मुहावरेदार भाषा, सहज शब्द-योजना आदि गुणों ने ही डॉ॰ शर्मा को हिंदी साहित्य-जगत् में सर्वथा नई, किंतु विशिष्ट पहचान बनाने में सहायता प्रदान की है।

संदर्भ

1. डॉ॰ चंद्रिकाप्रसाद शर्मा, धूल भरे हीरे (रेखाचित्र संग्रह), पृ॰ 53
2. वही, पृ॰ 23
3. वही, पृ॰ 106
4. वही, पृ॰ 36
5. वही, पृ॰ 11

419, **इंदिरा नगर**
अल्नावर
तह॰ जिला धारवाड़ (कर्नाटक) 581103
मो॰ 09036440477

चित्रा मुद्गल की नारी-चेतना

सीमा शर्मा
सहा॰ प्रोफेसर हिंदी विभाग
डी॰ए॰वी॰ महाविद्यालय, काँगड़ा (हि॰प्र॰)

अपने लेखन में चित्राजी ने महानगरीय निम्न व मध्यवर्गीय जीवन को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति किया है। महानगरीय निम्न व मध्यवर्गीय निम्न व मध्यवर्गीय परिवेश की यथावत् अभिव्यक्ति संपूर्ण हार्दिक सहानुभूति के साथ इनकी कहानियों में देखते ही बनती है। चित्राजी अपने लेखन में जहाँ एक ओर निरंतर रीतती जा रही मानवीय संवेदना को रेखांकित करते हुए लगभग निम्नवर्ग के पात्रों को, उनकी जिंदगी के समूचे दायरे में प्रवेश करके अध्ययन करती नजर आती हैं, वहीं दूसरी ओर नए ज़माने की रफ्तार में फँसी जिंदगी की मजबूरियों के तहत अपसंस्कृति के गर्त में धँसते जा रहे आधुनिक मानवीय मूल्यों की स्तब्ध कर देने वाली तस्वीर भी गहरी संवेदना से उकेरती हैं। लेखिका ने नारी-चेतना को पाँच बिंदुओं पर उद्घाटित किया है—नारी : शारीरिक पक्ष, नारी : मानसिक पक्ष, नारी : भावात्मक पक्ष, नारी: आत्मिक पक्ष, नारी : सामाजिक स्थिति

1. **नारी : शारीरिक पक्ष**

शरीरिक दृष्टि से नारी ईश्वर की सुंदर सृष्टि मानी गई है। उसकी आंगिक सुंदरता, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता पुरुष व्यक्तित्व से उसकी भिन्नता परिलक्षित करती है। नारी के आंतरिक गुणों के प्रकाशन से पूर्व उसका भौतिक व्यक्तित्व, संपर्क में आए व्यक्ति को अनायास आकर्षित कर लेता है। लेखिका द्वारा चित्रित नारी इस बात की पुष्टि करती है, जो लेखिका की चेतना का सत्य है।

नारी की सौंदर्याभिरुचि केवल वेशभूषा, केश-सज्जा तक ही सीमित नहीं, वह अपने को सर्वांग रूप से सुसज्जित करने का लोभ-संवरण नहीं कर पाती, 'बीड़े से रचे होठ, चंपई माथे पर काँच की चम-चम करती टिकुली, कानों में झम-झम करते बड़े-बड़े बुंदे और पाँवों में घुँघरू।'

चित्राजी की नारी अपने सौंदर्य के निखार के प्रति सजग है। जहाँ पढ़ी-लिखी नौकरीपेशा नारी आधुनिक वेशभूषा व साज-सज्जा से युक्त होकर अपनी शृंगारिक अभिरुचि का परिचय देती है, वहाँ घरेलू नारी परंपरानुकूल साज-सज्जा से अपने को सज्जित कर अपनी शृंगारपरक तुष्टि करती है।

2. **नारी : मानसिक पक्ष**

चित्राजी की नारी, चाहे वह शिक्षित है या अशिक्षित, जागरूक है। वह अपने अधिकारों

की प्राप्ति के लिए पुरुष से, चाहे वह उसका पति है, ससुर है, जेठ है या अन्य उच्च पदाधिकारी उससे रू-ब-रू हो प्रश्न करती है। इस लड़ाई में उसका अस्मिताबोध प्रखरता से मुखरित हुआ है। कहीं उसके अपने होने का एहसास, उसकी निजता का बोध और उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना से जुड़े प्रसंग लेखिका के कथासाहित्य में मुखरित हुए हैं। वह मानसिक रूप से बहुत सबल है, यही उसकी शक्ति का प्रमाण है।

'आज नारी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है। पति के साथ जीवन के सपनों को पूरा करने में समर्थ है, सिर्फ घर की ही नहीं, वरन् समाज की भी उसे अब चाहिए समान दृष्टि।

लेखिका की नारी में जहाँ अस्मिताबोध है, वह पर्याप्त रूप से सामर्थ्यवान है, वहाँ एकाकिनी नारी को पुरुष का साथ भी अपेक्षित है–'अकेलेपन का इतना गहरा एहसास ...क्या पुरुष के बगैर जिंदगी अधूरी है, बेबस है, बेमायने है।'

'नारी लता को भी एक सबल अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है, चाहे पिता या भाई के रूप में हो, पति या पुत्र के रूप में हो अथवा मित्र के रूप में हो।' लेखिका स्त्री-पुरुष समानता की पक्षधर है, लेकिन पाश्चात्य मानदंडों के आधार पर समानता की माँग वह नहीं करना चाहती। वह अपने अधिकारों के लिए दृढ़तापूर्व संघर्ष करती है, साथ ही भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को विस्मृत करने में विश्वास नहीं करती, वह उनमें आस्था रखती है, उसे पुरुष साथी का संबल भी चाहिए।

3. **नारी : भावनात्मक पक्ष (संबंध बोध)**

पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक भावना-प्रवण है। अतः भावात्मक धरातल पर वह संबंधों में जीना चाहती है। संबंधों के निर्वाह में वह पुरुष की अपेक्षा अधिक कुशलता का परिचय देती है। कहीं वह पतिपरायणा पत्नी है, कहीं कर्त्तव्यनिष्ठ बेटी, कहीं ममतामयी माँ और कहीं प्रेमिल प्रेमिका और कहीं स्नेहशीला बहिन है। 'एक जमीन अपनी' उपन्यास में अंकिता की अनपढ़ माँ, बेटी के पुनर्विवाह के लिए चिंतित है–'होनी के गटई का फंदा बनाए के न पहिने रहव... तुम कोहुक बसेद कई लेओ बिही।' बीमार माँ अपनी नौकरीपेशा बेटी को परेशान नहीं करना चाहती–'अम्मा ने सभी को सख्त ताकीद कर दी है कि कोई भी बिट्टी को उनकी बीमारी के संदर्भ में कुछ न लिखे। छुट्टी लेने से उसका नुकसान होगा।' 'लकड़बग्घा' कहानी में माँ बेटी के जीवन-निर्माण में अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति का परिचय देती है–'बस नहीं लंबरदार... पुनिया आगे पढ़ेगी।' 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में अंकिता की भाभी आत्मीया भाभी के रूप में प्रस्तुत हुई है–'रीना भाभी ने हौले से मुट्ठियों में कुछ नोट दबा दिए थे–अपनी पसंद की साड़ी खरीद लेना बिट्टी।' चित्रा मुद्गल की नारी-चेतना ने नारी के भावात्मक पक्ष को नारी होने के नाते बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषित किया है। वह माँ, बेटी, भाभी इत्यादि के रूप में अति आत्मीया बनकर आई है। जहाँ तक पति-पत्नी संबंधों का सवाल है। पत्नी अपनी तरफ से मर्यादा का उल्लघन नहीं करती, परंतु पति ने कई स्थलों पर पत्नी-मर्यादा को दाँव पर लगाया है।

4. **नारी : आत्मिक पक्ष**

नारी चाहे पुरुष से शारीरिक रूप से दुर्बल है, अशक्त है, लेकिन आत्मिक रूप से वह पुरुष से अधिक सबल है। नारी की यही सबलता उसे वह सब करने और सहने की शक्ति देती

 ISSN 0975-735X

है, जिसे पुरुष के करने की बात तो दूर, वह सह भी नहीं सकता। कहीं हम नारी का परम सहनशील स्वरूप देखते हैं तो कहीं वह परम त्यागपरायण व करुणा की आगार बनकर मानव-समाज के सामने प्रस्तुत होती है। यही नहीं, उसके और भी अनेक रूपों से हमारा साक्षात्कार होता है, जिनसे वह आत्मिक रूप से बहुत ऊपर उठी हुई है। 'लकड़बग्घा' कहानी में पछांहवाली अपनी बेटी की, अपने जेठ से, भावी शिक्षा की स्वीकृति के लिए निर्जल उपवास करती है–' निर्जला पड़ा है तीन दिनों से... प्रण किया है... मकराहट थोड़े ही।' शारीरिक रूप में पुरुष से दुर्बल नारी आत्मिक दृष्टि से उच्चता को प्राप्त है, जो उच्चता उसके त्याग, उसके मातृवत्सला स्वरूप में देखी जा सकती है। श्रद्धा, सहानुभूति, सौजन्य, करुणा आदि जो गुण स्त्री-चरित्र में सहज सुलभ है, उनकी अभिव्यक्ति में वे पुरुषों से अधिक सफल रहती हैं।'

5. **नारी : सामाजिक स्थिति**

नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए कानून ने अपने दोनों हाथों से उसे वह दिया, जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी। जिन नारी-अधिकारों को प्राप्त करने में अन्य देशों में नारी को काफी प्रयत्न करने पड़े, उन्हें भारत में नारी को प्राप्त करने में समय न लगा, इतना होने पर भी यदि नारी की वास्तविक सामाजिक स्थिति को देखा जाए, तो बहुत निराशा होती है। पढ़ा-लिखा भारतीय भी अपनी बीबी से गाली-गलौज से पेश आता है। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में अंकिता का पति भी एक ऐसा ही भारतीय है–'यू शटअप ... कमीनी औरत।' स्त्री और पुरुष को संबंधों के रूप से समानधिकार दिए जाने पर भी पुरुष समानता को उपेक्षित करता है–'यह मेरा घर है ... और यहाँ तख्ती वही लटकेगी जैसा मैं चाहूँगा ... इसका फैसला तुम कैसे कर सकती हो?' आज नारी जब अपने शारीरिक, मानसिक दोनों धरातलों पर शोषक पति से अपना नाता तोड़ लेती है, तो भी समाज उसके चरित्र पर लांछन लगाता है और उसके अकेलेपन की स्थिति को संदिग्ध दृष्टि से देखता है–'सुधांशु से अलग हो जब वह घर लौटी थी, आस-पड़ौस ने ही नहीं, पूरे शहर ने छींटाकशी की थी। घर से बाहर निकली हुई अकेली औरत के दिल, दिमाग, भावनाएँ होने पर भी उसे इन पर पाबंदी लगाने के लिए विवश होना पड़ता है–'घर से बाहर हुई स्त्री को कुछ भी महसूस करने का अधिकार नहीं होता... उस पर हर व्यक्ति ढेला तान सकता है।' 'मुआवजा' कहानी में व्यक्तित्व-संपन्न विमान-परिचारिका शैल का, उसके पति तथा ससुराल पक्ष की तरफ से जीते-जी स्वागत नहीं होता और विमान-दुर्घटना में मृत्यु होने पर पति महाशय उसकी संपति का एकछत्र अधिकारी बनने को आतुर हो जाता है–'मैं शैलू का पति हूँ... उसकी किसी भी प्रकार की संपत्ति पर मेरा अधिकार पहले बनता है. .. चाहे तिजोरी में रखूँ या कूड़े में झोंक दूँ...।' चित्रा मुद्गल नारी की वास्तविक सामाजिक स्थिति का गहराई तक जुड़कर विश्लेषण करती हैं। नारी आज भी अनेक स्तरों पर शोषण का शिकार है। पति की उच्छृंखलताओं से तंग आकर उससे अलग रहकर अपना जीवन बसर करना चाहती है, तो भी पुरुष-प्रधान समाज उसे जीने नहीं देता। यदि वह अर्जनशीला है, अकेले इधर- उधर जाना पड़ता है, तो भी शोषक पुरुष-समाज उस पर गंदी नज़र डाले बिना नहीं रहता। उसके द्वारा अर्जित संपत्ति का पति दावेदार बनता है। चाहे पत्नी के जीते जी उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करे या न करे। पुरुष को सब-कुछ करने और कहने का अधिकार है और नारी को कुछ

नहीं, यह विडंबना है नारी की।

निष्कर्षत: चित्रा मुद्गल की नारी-चेतना नारी की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता, उसकी पुरुष के साथ समानता की पक्षधर है। वह नारी के सामर्थ्य, उसकी शक्ति को अहमियत देती है। साथ ही वह नारी में नैतिकता और उसके परंपरागत मूल्यों में आस्था की पक्षधर है। वह नारी के साथ हुई ज्यादतियों को स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं। इतना होने पर भी लेखिका की नारी को पुरुष बगैर जिंदगी अधूरी लगती है। वह उस शृंगार को महत्त्व देती है, जो उसको शोभायमान करता है न कि लोगों में वासना को जगाता है। लेखिका की नारी-चेतना में वह नारी है, जो मातृत्व की पूर्ति हेतु हर विषम परिस्थिति का सामना करने को तैयार है, उसकी दृष्टि बच्चे के उज्ज्वल भविष्य पर लगी है। वह नौकरी करती है और फलस्वरूप दोहरे कार्यभार से भी युक्त है, साथ ही पति के संशय व उपेक्षित मातृत्व को भी झेलती है। वह नारी की उस स्वतंत्ररता की पक्षधर नहीं, जिसकी प्राप्ति के मानदंड भारतीय न होकर पश्चिमी हों। वह नारी में मर्यादित स्वरूप में विश्वास करती है।

लेखिका की नारी-चेतना समाज से अपेक्षा करती है कि नारी की भावना, उसके सामर्थ्य को समझने की जरूरत है, विशेषकर नारी पति से यह अपेक्षा करती है कि वह नारी-मर्यादा का उल्लंघन न करे, अनधिकृत रूप से अन्यत्र संबंध न बनाए।

अपने अधिकारों की प्राप्ति की खातिर जागरूक नारी का पुरुष से रू-ब-रू होकर प्रश्न करना चित्रा मुद्गल की नारी-चेतना का केंद्रीय स्वर है।

संदर्भ

1. चित्रा मुद्गल, जगदंबाबाबू गाँव आ रहे हैं, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली पृ॰ 1992
2. चित्रा मुद्गल, अपनी वापसी, संभावना प्रकाशन, हापुड़, पृ॰ 1983
3. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 1990
4. चित्रा मुद्गल व सुरेंद्र अरोड़ा, दूसरी औरत की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली पृ॰ 1988
5. चित्रा मुद्गल, टूटते परिवारों की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, पृ॰ 1976
6. चित्रा मुद्गल 'शून्य' अपनी वापसी, पृ॰ 87
7. लक्ष्मीकांत त्रिपाठी, 'सुंदरी का सौंदर्य', पृ॰ 159
8. निर्मला बाजपेयी, 'बसंत की कल्पना', पृ॰ 117
9. चित्रा मुद्गल, 'लकड़बग्घा', जगदंबाबाबू आ रहे हैं, पृ॰ 101
10. उर्मिला गुप्त, स्वतंत्र्योत्तर हिंदी लेखिकाएँ, पृ॰ 8

 ISSN 0975-735X

भीष्म साहनी के साहित्य में नारी–चेतना वर्गीय चेतना के संदर्भ में

नरेनकुमार (शोधार्थी)
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास

प्रत्येक शब्द का इतिहास है। उसका स्वतंत्र अस्तित्त्व है। शब्द अपने वाच्य के स्वरूप का भी संकेत करता है। नारी अर्थ के बोधक शब्द भी नारी के स्वरूप पर बहुत प्रकाश डालते हैं। कवियों की दृष्टि से नारी माया–सी, दुर्बोध, प्रकृति–सी बहुरूपी, साथ ही सहानुभूति–सी सरल रही है। यदि शब्दों के विकास के साथ मानव–सभ्यता के विकास का अध्ययन किया जाए, तो जान पड़ेगा की नारी उतने ही अंश में रहस्यमयी है, जितने अंश में संसार की कोई भी वस्तु। विषम समाज में विषम स्थिति होने के कारण नारी के विभिन्न स्वरूप होते गए। आज शब्द के आधार पर नारी के वास्तविक स्वरूप को समझना कठिन है। किसी एक शब्द से नारी के स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। फिर भी, जिस तरह एक छोटे–से ओसबिंदु में संपूर्ण सूर्यमंडल प्रतिबिंबित हो जाता है, उसी प्रकार नारीवाचक छोटे–से–छोटे शब्द में भी उसकी जाति, उसके गुण, उसकी क्रिया अथवा इच्छा झलक जाती है। साथ ही नाम रखने वाले समाज की मानसिक स्थिति, बौद्धिक उन्नति और सांस्कृतिक चेतना भी व्यक्त हो जाती है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी रचना 'मानसी गीत' में नारी को 'भगवान की अद्‌भुत कृति' माना है।[1] महादेवी वर्मा के अनुसार, 'पुरुष प्रतिशोधमय शोध है स्त्री क्षमा। पुरुष शुष्क कर्त्तव्य है, स्त्री सरल सहानुभूति। पुरुष ब्रह्मा है, तो स्त्री हृदय की प्रेरणा।'[2]

डॉ॰ राधाकृष्णन के अनुसार, 'एक पशु जिसका प्रशिक्षण नारी करती है। नारी मूलतः पुरुष की शिक्षिका है, तब भी जब वह बच्चा होता है और तब भी जब वह व्यस्क होता है।'[3] डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, 'जहाँ कहीं अपने–आपको उत्सर्ग करने की अपने–आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है।'[4] मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार–

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी!
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।[5]

'चेतना' प्राणी–मात्र में रहने वाला वह तत्त्व है, जो उसे निर्जीव जड़ पद्धार्थों से भिन्नता प्रदान करता है। 'चित्' संज्ञा ने धातु में युच, अब टाप प्रत्ययों के संयोग से चेतना शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अभिप्राय है–मन की वह वृत्ति या शक्ति जिससे जीव या प्रणी को आंतरिक अनुभूतियों–भाषा, विचारों आदि तथा बाह्य घटनाओं, तत्त्वों या बातों का अनुभव या भान होता है।'[6]

'चेतना व्यक्ति की एक ऐसी शक्ति है, जो उसे अनुभूतिक्षम बनाती है। अनुभूति (भाव) को प्रत्यय (बुद्धि) रूप में और प्रत्ययों को अनुभूति रूप में परिणत कर सकती है तथा जो साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य की परंपरा का कथित, अनुभवों और प्रत्ययों के संदर्भ में निर्माण करती है।'[7]

चेतना के तीन रूप होते हैं–चेतन, अवचेतन और अचेतन। 'नारी' शब्द नर से उत्पन्न माना जाता है तथा 'चेतन' शब्द का अर्थ है–प्राणी-मात्र में रहनेवाला वह तत्त्व, जो उसे निर्जीव जड़ पदार्थों से भिन्नता प्रदान करता है। नारी-चेतना का अर्थ हुआ नारी में निहित जागरूक शक्ति।

वर्ग-संघर्ष की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है। हमारा समाज तीन वर्गों में बँटा हुआ है–निम्नवर्ग, मध्यवर्ग एवं उच्चवर्ग। साहनी जी ने इन तीनों वर्गों का वर्णन अपने साहित्य में किया है।

निम्नवर्ग के प्रति कार्ल मार्क्स लिखते हैं कि 'उनका कोई देश नहीं होता, उनका जीवन तो जैसे मेहनत करने के लिए ही बना है।'[8]

निम्नवर्गीय नारी की दशा का वर्णन 'घर-बेघर' कहानी में किया गया है–उसके पीछे एक औरत धीरे-धीरे अंदर चली गई। तीस-पैंतीस वर्ष की औरत होगी। पिचका हुआ शरीर, मैले कपड़े, नंगे पाँव, बाहर के झोपड़ों की तरह रागहीन, रूपहीन, मेज के सामने आकर चुपचाप खड़ी हो गई।'[9]

'धरोहर' कहानी में निम्नवर्ग के लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। नौकर-नौकरानी पेड़ की छाँव में बैठे थे, परंतु घर का मालिक उन्हें वहाँ से खदेड़ देता है। वे याचना करते हुए कहते हैं, 'कहाँ जाएँ बाबू! इधर थोड़ी छाँव है... हम बतियाएँगे नहीं। हम जानते हैं, बाबू लोगों के सोने का टेम है।'[10]

'निशाचर' कहानी में निम्नवर्गीय ऐसी नारियों का चित्रण है, जो रद्दी बटोरने वाली हैं। लोग तो कूड़ा-कर्कट रद्दी ऐसे ही फेंक जाते हैं, परंतु निम्नवर्गीय औरतों के लिए यह रद्दी जीविका का साधन है। इसके लिए तो उनका झगड़ा तक हो जाता है। ये स्त्रियाँ हैं, रद्दी कागज बटोरने आई हैं, जहाँ कहीं कोई कटा कागज का टुकड़ा कोई फेंकी हुई चीज पड़ी मिलेगी, उसे झपटकर उठा लेंगी और कंधे से लटकते अपने झोले में डाल लेंगी।'[11]

'तमस' उपन्यास में निम्नवर्गीय नारी एक सुशील सुंदर एवं गुणवान है। जब पति उसे कहता है कि तुम्हारे पास एक भी जोड़ी जूता नहीं है ले लो। तब पत्नी कहती है, 'मुझे इसकी जरूरत नहीं है। मेरा काम चल रहा है। तुम्हारे पास अच्छा जूता नहीं है, तुम ले लो एक अच्छा-सा जोड़ा तुम्हें ज्यादा चलना पड़ता है।[12]

' बसंती' उपन्यास निम्नवर्गीय बसंती पर आधारित है, जो घरों में चौका-बर्तन करने आती है। निम्नवर्ग वास्तव में ही दयनीय होता है। इन्हें एक-एक रोटी के लिए भटकना पड़ता है। समाज में इन्हें तिरस्कार-भरी नजरों से ही देखा जाता है।

मध्यवर्ग एक ऐसा वर्ग है, जो नीचे जाना नहीं चाहता और ऊपर जा नहीं पाता, बल्कि वह बीच में ही फँसकर रह जाता है। साहनी जी ने अपने साहित्य में मध्यवर्गीय परिवार में नारी की स्थिति का वर्णन किया है। 'चीफ की दावत' कहानी मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है। शामनाथ अपनी नौकरी में तरक्की चाहता है। उसकी पत्नी एवं शामनाथ ऑफिसर को खुश करने

 ISSN 0975-735X

के लिए झूठा दिखावा करते हैं। उसकी पत्नी तो उसका साथ देती है, बल्कि शामनाथ अपनी माँ को बहुत समझाता है कि उसे क्या करना है, क्या नहीं! उसकी माँ से जब गलती हो जाती है, तो वह डर जाती है और सोचती है, 'माँ का दिल बैठ गया। हड़बड़ाकर उठ बैठी। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गई? वह अपने-आपको कोस रही थी कि क्यों उसे नींद आ गई, क्यों वह ऊँघने लगी। क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया?'[13]

मध्यवर्गीय परिवार में नारी की चिंता का विषय यही है कि वह जिस खुशी की इच्छा करती है, वह उसे या तो मिलती नहीं, अगर मिलती है तो वह भी बड़ी मुश्किल से। 'सरदारनी' कहानी में एक मध्यवर्ग की नारी में इतनी शक्ति एवं साहस दिखाया गया है कि पुरुष भी ऐसा नहीं कर सकता था। वह अपने धैर्य एवं शौर्य के साथ अपनी जान पर खेलकर एक मुसलमान मास्टर को उनके मौहल्ले में छोड़कर आती है, वह भी तब, जब हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगा अपनी चरम सीमा पर होता है।[14]

'कड़ियाँ' उपन्यास पूर्णतया मध्यवर्गीय परिवार से संबंधित है। प्रमिला, जो इस उपन्यास की नायिका है, दु:खी रहती है। वह अपने पति महेंद्र के व्यवहार से दु:खी है। उसके पति के सुषमा नाम की लड़की से नाजायज संबंध हैं। सुषमा भी मध्यवर्गीय लड़की है। प्रमिला अपने घर में रहते हुए भी घुटन-सी महसूस करती है। 'प्रमिला का दिल डूबने-सा लगता है। उसे लगा जैसे अंदर-ही-अंदर कुछ भुरभुराने लगा है और हाथ-पैर शिथिल पड़ रहे हैं। जब भी कभी कोई बात बनने की बजाय बिगड़ने लगती और उसका मन शंकित हो उठता है और उसके हाथ-पैर ठंडे पड़ने लगते हैं।'[15] प्रमिला अपने पति से लाख मिन्नतें करती है। अकसर मध्यवर्गीय परिवारों में ऐसा देखने को मिलता है।

'झरोखे' उपन्यास में दर्शाया गया है कि मध्यवर्गीय परिवारों में अपनी लड़कियों को घर की चारदीवारी के अंदर रखा जाता है। उन्हें बाहर जाने की इजाजत नहीं दी जाती है। उनकी माँ उनका पक्ष लेती हुई कहती है, 'मैं इन्हें न छज्जे पर जाने देती हूँ, न खिड़की से झाँकने देती हूँ। बरसों से इनकी पढ़ाई छुड़ाकर इन्हें घर में बिठा लिया है कि गली-मुहल्ले में इन्हें कोई देख नहीं पाए। दिन-भर कभी एक कमरे में, तो कभी दूसरे कमरे में बैठी रहती हैं।'[16] इस प्रकार मध्यवर्गीय नारी के सपने सिमटकर रह जाते हैं। वह बहुत आगे जाना चाहती है, परंतु हालात ऐसे हो जाते हैं कि उसे समझौता करना ही पड़ता है।

जिस वर्ग का अन्य वर्गों पर आधिपत्य होता है और जो अपनी मर्जी का स्वयं मालिक होता है, उच्च वर्ग कहलाता है। इस वर्ग के लोग निम्नवर्ग के लोगों का शोषण करते हैं। उन्हें अपने फायदे की खातिर चाहे कुछ करना पड़े, करते हैं। उच्चवर्ग को हम दूसरे शब्दों में अमीर वर्ग भी कहते हैं। भीष्म साहनी जी ने निम्नवर्ग एवं मध्यवर्ग के साथ-साथ उच्चवर्ग का भी अपने साहित्य में वर्णन किया है। उच्चवर्ग में ऐसे लोग भी हैं, जिनको निम्नवर्ग के प्रति सहानुभूति होती है। उच्चवर्ग की नारियाँ सामान्य नारियों से कुछ अलग होती हैं। उनके शौक एवं आदतें ऐश्वर्यपूर्ण होते हैं। 'तुम्हें क्या बताऊँ। दिन-भर शीशे के सामने खड़ी रहती है, और सास? सास सारा दिन पलंग पर बैठी उर्दू की नॉवलें पढ़ती रहती है। रोज क्लब जाती है। वह तो कहीं पर नहीं जाते, दिन-भर मेरे पास बैठे रहते हैं और माँ, बड़ी जेठानी तो सिगरेट भी पीती हैं, दोनों जेठानियाँ शाम को क्लब में जाती हैं।'[17]

'राधा-अनुराधा' कहानी में श्यामा बीबी को अपने घर में काम करने वाली नौकरानी के प्रति भी सहानुभूति है। उसके प्रति अपनेपन की भावना है। 'राधा को और घरों की बजाय श्यामा बीबी के घर में काम करना पसंद है। श्यामा बीबी बिगड़ती भी है, बुरा-भला भी कहती है, मगर दिल की अच्छी है।'[18] साहनी जी ने साहित्य में उच्चवर्गीय नारी को ऐसा आराम तलब तो दिखाया है, परंतु सहानुभूति से युक्त भी दिखाया है।

'शिष्टाचार' कहानी में श्रीमती जी अपने नौकर के प्रति दुर्व्यवहार करती हैं और उस पर चोरी का शक तक करती है। 'अपने जेवर सिल्क के जड़ाऊ, सूट, चाँदी के बटन, एक-एक करके जो याद आया, गिन डाला। मगर बड़े घरों में चीजों की सूची कहाँ होती है और एक-एक चीज किसे याद रह सकती है। तुमने उसे जाने क्यों दिया? कभी कोई नौकरों को यूँ भी जाने देता है? अब मैं क्या जानूँ, क्या-क्या उठा ले गया है।'[19] इस प्रकार उच्चवर्गीय नारी का जहाँ पर सहानुभूति भरा व्यवहार दिखाई देता है, वहीं पर वह स्वार्थी भी नजर आती है।

पढ़े-लिखे वर्ग या फिर समझदार वर्ग को बुद्धिजीवी वर्ग कहते हैं। यह वर्ग ऐसा वर्ग है, जो किसी भी बात के अच्छे एवं बुरे दोनों पहलुओं पर विचार करता है। भीष्म साहनी जी के साहित्य में इस वर्ग का भी वर्णन मिलता है। नारी कई बार अपनी बुद्धि के बल से बहुत कुछ जान लेती है। बिना कुछ कहे सब-कुछ सुन लेती है। यह उसकी बुद्धिजीविता की ही निशानी है। 'दिवास्वप्न' कहानी में पत्नी की प्रशंसा करता हुआ उसका पति कहता है कि मेरे कदमों की आहट से ही पत्नी मेरी मन:स्थिति को भाँप जाया करती थी। मेरे मेज पर बैठे-बैठे ही उसे पता चल जाता कि मैं काम कर रहा हूँ या किसी उधेड़बुन में खोया हूँ। मेरे माथे की शिकन को देखकर ही समझ जाती कि मुझे कौनसी बात परेशान कर रही है।'[20]

निष्कर्षत: साहनी जी के साहित्य में समाज का वास्तविक एवं यथार्थ चित्रण मिलता है। समाज में नारी-स्वतंत्रता आज भी एक प्रश्न बना हुआ है। नारी घुटन एवं विवशता-भरा जीवन व्यतीत करने को विवश है। त्याग, क्षमाशीलता, सहानुभूति नारी के ऐसे गुण हैं, जो उसको पुरुषों से श्रेष्ठ बनाते हैं, परंतु पुरुष-प्रधान समाज में निम्नवर्ग, मध्यमवर्ग और उच्चवर्ग सभी में पुरुषों पर निर्भर होना पड़ता है या फिर उनके शोषण का शिकार होना पड़ता है।

इस प्रकार साहनी जी ने अपने साहित्य में वर्ग-संघर्ष का बखूबी चित्रण किया है।

संदर्भ

1. शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1986, पृ॰ 71
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 24
3. डॉ॰ वल्लभदास तिवारी, हिंदीकाव्य में नारी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, सं॰ 1975, पृ॰ 157
4. वही पृ॰ 157
5. मैथिलीशरण गुप्त, यशोदा साहित्य सदन, चिगाँव झाँसी, पृ॰ 15
6. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम सं॰ 1964, पृ॰ 274
7. डॉ॰ महावीर दधीच, आधुनिकता और भारतीय परंपरा, पृ॰ 10
8. कार्ल मार्क्स, विचारक पृ॰ 311
9. भीष्म साहनी, (घर-बेघर) भाग्यरेख, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1958, पृ॰ 97
10. भीष्म साहनी, शोभायात्रा (धरोहर), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1983, पृ॰ 101

11. भीष्म साहनी, निशाचर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1983, पृ॰ 61
12. भीष्म साहनी, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1973, पृ॰ 101
13. भीष्म साहनी, पहला पाठ (चीफ की दावत), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1957, पृ॰ 15
14. भीष्म साहनी, निशाचर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1983, पृ॰ 161
15. भीष्म साहनी, कड़ियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1989, पृ॰ 102
16. भीष्म साहनी, झरोखे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1967, पृ॰ 77
17. भीष्म साहनी, पहला पाठ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1957, पृ॰ 77
18. भीष्म साहनी, वाङ्चू, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1978, पृ॰ 131
19. भीष्म साहनी, भाग्यरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1958, पृ॰ 34
20. भीष्म साहनी, निशाचर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1983, पृ॰ 116-117

गाँव कोहली
जिला हिसार (हरियाणा) 125052
मो॰ 09466238921

समकालीन हिंदी-लेखिकाओं का उपन्यास-साहित्य (स्त्रीविषयक सरोकार)

डॉ० बबीता सिंह

साहित्य की सभी विधाओं में स्त्री पर बहुत कुछ लिखा गया है। सामाजिक उपन्यासों में तो वह केंद्र-बिंदु होती है। हिंदी के आधुनिक उपन्यासों में एक वर्ष में इतने स्त्री रूप आ जाते हैं, जितने पहले एक दशक में एक साथ नहीं आ पाते थे। संसार के साहित्य के तीन-चौथाई से अधिक कथाओं के ताने-बाने स्त्री के इर्द-गिर्द ही बुने जाते है। इस संदर्भ में डॉ० विजय कुलश्रेष्ठ का कहना है कि-'निवर्तमान काल में उपन्यासकार यौनजन्य स्थितियों में नारी-मन के अगोपन को चित्रित करने के लिए नारी को नायिका के रूप में प्रस्तुत ही नहीं करता, बल्कि नायिका प्रधन उपन्यासों की भी रचना करता है। फ्रायड महोदय ने भी उपन्यासों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी-पात्रों के चित्रण के औचित्य को स्वीकार किया है।'[1]

समकालीन हिंदी उपन्यासों में स्त्री-विषय का भूमंडलीकरण हो गया है। ऐसे विश्व परिदृश्य में भारतीय लेखिकाओं ने हिंदी में बड़ी संख्या में स्त्री केंद्रित उपन्यासों का लेखन किया है। इनमें कृष्णा सोबती ममता कालिया, उषा प्रियंवदा, प्रभा खेतान मृदुला गर्ग और चित्रा मुदगल का कथा-संसार है। इन हिंदी-लेखिकाओं के उपन्यास-साहित्य का फलक बहुत व्यापक है और स्त्री-विषयक सरोकारों से परिपूर्ण भी। इन स्त्री-उपन्यासकारों का लेखन-व्यवस्था के प्रति रोष और स्त्री की यथास्थिति को लेकर है। स्त्री की समस्याओं एवं संघर्षों को लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है।

प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका कृष्णा सोबती ने सूरजमुखी अँधेरे के, मित्रो मरजानी, डार से बिछुड़ी, दिलोदानिश जैसे उपन्यासों में स्त्री-विषयक सरोकारों को प्रमुखता से उठाया है। इन उपन्यासों में वर्षों से धूल, मिट्टी और अँधेरे की परतों के नीचे दबी-ढकी स्त्री-जीवन की समस्याओं, स्त्री-पुरुष संबंधों एवं बलात्कार की विभीषिका आदि को उजागर किया है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास की नायिका रत्ती बचपन में बलात्कार की घटना से गुजरती है। रत्ती, जिसका कोई दोष नहीं होता, लेकिन समाज अपनी भारी-भरकम वर्जनाओं के जूते तले रौंदने में कोई कसर नहीं छोड़ता। नायिका रत्ती के सम्मुख कोई लक्ष्य नहीं है। वह सब-कुछ सामाजिक विकृतियों पर ही डाल देती है। स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में उसमें एक घृणा-सी भर जाती है, क्योंकि इसी कारण वह लड़की होकर भी लड़की नहीं है, औरत होकर भी औरत नहीं है।[2]

जबकि 'मित्रो मरजानी' की मित्रो स्वच्छंद विचारों वाली पत्र है। वह स्नेह चाहती है, माँ बनना चाहती है और वासना से पूरित सारे आदर्शों एवं परंपरागत मूल्यों से चिढ़कर विद्रोह की भूमि पर नैतिकता को चुनौती देती हुई 'नई चेतना का संचार करती हुई नजर आती है। यथा-'यह कैसा व्यापार। लड़के बीज डालें तो पुण्य, दूजे डालें तो कुकर्म?'[3] वहीं 'दिलोदानिश' उपन्यास की स्त्रियों का जीवन कैदियों के समान है। ये स्त्रियाँ पुरुषों का शोषण एवं अत्याचार सहने के

 ISSN 0975-735X

लिए मजबूर है, क्योंकि ये स्त्रियाँ आर्थिक रूप से सबल नहीं है। उपन्यास की नायिका ठीक कहती है कि–'मर्दों के हिस्से में आए हैं महफिल, मुजरे, खेल-तमाशे और औरत को लगे हैं बाल-बच्चे, तीज-त्योहार, पूजा व्रत। औरतों के रोने-धोने से क्या कुछ बदलने वाला है।'[4] कृष्णा सोबती ने इन उपन्यासों में स्त्री-मन की संवदनाओं छटपटाहट, विवशता और बेबसी को चित्रित किया है। साथ ही साथ यह भी उजागर किया है कि समाज में स्त्री की स्थिति क्या है? यह समाज देखने में तो सुसभ्य व सुसंस्कृत लगता है, परंतु भीतर से सड़ा, गला और बदबूदार है, जो स्त्री की मानसिकता के लिए सही नहीं है। लेखिका ने स्त्री के शारीरिक एवं मानसिक शोषण दोनों का विरोध करते हुए स्त्री की स्वतंत्र पहचान की कामना की है।

लेखिका ममता कालिया ने बेघर, नरक-दर-नरक, प्रेम कहानी, एक पत्नी के नोट्स में स्त्री-विमर्श से जुड़े विभिन्न मुद्दों को उठाया है। 'बेघर' उपन्यास के नायक परमजीत के समक्ष उसकी प्रमिका संजीवनी उसके सामने आत्मसमर्पण करती है तो परमजीत समझ जाता है कि वह उसके जीवन का 'पहला' पुरुष नहीं है। कौमार्य का मिथक भारत में ही नहीं, बल्कि पूरे संसार में फैला हुआ है, जहाँ स्त्री इस नियम का उल्लंघन करती है, वहाँ उसे फौरन घर से बेघर कर दिया है–यानि विवाह-संस्था के बाहर। कुलटा, वेश्या, कालगर्ल जैसे नाम देकर उसे साझी संपत्ति या उपभोग की वस्तु बना दिया जाता है।[5] इस उपन्यास में समाज का स्त्री के प्रति उपभोगवादी दृष्टिकोण दर्शाया है। इसमें लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री की मूल समस्या पुरुष और स्त्री के आपसी संबंध हैं। जबकि 'एक पत्नी के नोट्स' उपन्यास की नायिका कविता है, जो अपने पति के साथ संबंधों का बेबाक विश्लेषण करती दिखाई देती है। वह अपना जीवन व्यर्थ में नष्ट नहीं करती, बल्कि दूसरी संभावनाओं को तलाशती नजर आती है। वह कहती है कि–'पीड़ा तुम्हारे लिए कीड़ा है, पर मैं, ऐसे नहीं जीना चाहती हूँ, जिससे फिजूल तोहमत और शुबहा न हो।'[6] इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जागरूक और आर्थिक रूप से सबल स्त्री के लिए पुरुष वर्चस्व की धारणा गलत है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में पचपन खंभे लाल दीवारे, रुकोगी नहीं राधिका, शेषयात्रा, अंतर्वंशी में स्त्रीवादी विमर्श चरम पर है। 'रुकोगी नहीं राधिका' उपन्यास में आधुनिक परिवेश से उदिता स्त्री ही उसका विषय है। इस उपन्यास में स्वतंत्रता के बाद जो परिवर्तन स्त्री-जीवन में आए, प्राचीन मूल्यों को नकारने तथा नवीन मूल्यों को आत्मसात् के परिणाम सूक्ष्मता से व्यक्त किए हैं। आज की स्त्री-जीवन की विसंगतियों को लेखिका ने बड़ी गहनता से व्यक्त किया है। इस उपन्यास की नायिका राधिका नई चेतना के अनुसार स्वातंत्र्य की पक्षधर है। राधिका अपनी सहेली को नई माँ के रूप मे स्वीकार नहीं कर पाती। पिता के इस निर्णय से आहत राधिका पढ़ाई के लिए विदेश चली जाती है। वहाँ डेन के साथ संबंधों के समानांतर स्तर पर न होने के कारण वह पुनः लौट आती है। उसकी वैवाहिक मान्यता नवीनता की सूचक है। यथा–'किसी अनजान पुरुष से सप्तपदी की रस्म पूरी करवाकर पत्नी बनना पसंद नहीं करेगी।'[7] राधिका अपने व्यक्तित्व के सरंक्षण और विकास के लिए परिस्थितियों से जूझती रहती है और सामाजिक मूल्यों का तिरस्कार करती है। इन सबमें वह अनेक प्रकार के मानसिक द्वंद्वों से भी गुजरती है।

जबकि 'पचपन खंभे लाल दीवारें' उपन्यास में उस दौर की स्त्रियों की कथा है, जो आत्मनिर्भर हैं, परंतु परिवार की आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के कारण विवाह नहीं कर पाती

है। इसकी नायिका सुषमा नील से प्रेम करती है, परंतु वह उससे विवाह नहीं करना चाहती है। उसका मानना है कि उसका विवाह कभी सफल नहीं होगा। जब भी कभी वह विवाह करने के विषय में सोचती है तो घर की आर्थिक स्थिति उसके पाँव रोक देती है। समाज में अब भी अकेली स्त्री को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। विवाह-संस्था के बाहर हर संबंध को अनैतिक और प्रेम को रंगरलियाँ कहकर कीचड़ उछालने वालों की कमी नहीं है। लेखिका का यह उपन्यास स्त्री की विवशता, दीनता, अत्याचार, शोषण और संघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है।

स्त्रीवादी चिंतक प्रभा खेतान शोषणमुक्त स्त्री की पक्षधर है। आओ पेपें घर चले, छिन्नमस्ता, अपने-अपने चेहरे, पीली आँधी–इन उपन्यासों में लेखिका ने स्त्री-विषयक, सरोकारों को बड़ी प्रमुखता से उठाया है। 'छिन्नमस्ता, उपन्यास में स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को उठाया है। इसमें एक ऐसी स्त्री का जीवन-संघर्ष है, जो पुरुष-प्रधान समाज में पुरुषों के वर्चस्व के विरुद्ध अपनी पहचान और पृष्ठभूमि बनाना चाहती है। उपन्यास की नायिका प्रिया मस्तक रहित अर्थात् बुद्धि रहित, देहमात्र है। प्रतिभासंपन्न प्रिया पूँजी और सेक्स दोनों ही स्तर पर शोषित होती है। वह नौकरी करते हुए अपनी संपूर्ण पारिवारिक जिम्मेदारियाँ अच्छी तरह से निभाती है। पति नरेंद्र की प्रभुता उसकी विदेश-यात्रा को रोकने का प्रयास करती है, क्योंकि नरेंद्र को परपीड़न में आनंद आता है, प्रिया की व्यावसायिक सफलता उसे आहत करती है। प्रिया द्वारा इस लक्ष्मणरेखा का उल्लंघन करने के कारण परिवार व मारवाड़ी समाज से निष्कासित होती है। तब प्रिया आहत होकर निर्णय करती है–'नहीं, मैं औरत नहीं बनना चाहती। मैं किसी से प्रेम नहीं करूँगी। कभी शादी नहीं।'[8] दरअसल, प्रिया का अंतर्द्वंद्व भारतीय स्त्री का ही अंतर्द्वंद्व है। प्रिया परत-दर-परत स्त्री-जीवन के उन पक्षों को उघाड़ती है, जिसे पुरुष-प्रधान समाज स्त्री की स्वाभाविक नियति मानता चला आ रहा है और इस प्रक्रिया में वह हमें स्त्री की युगों-युगों से संचित पीड़ा से रू-ब-रू कराती है और अपनी पहचान अर्जित करती है।

जबकि 'पीली आँधी' उपन्यास संयुक्त परिवार के बसने-उजड़ने और टूटने की विकास-कथा है। इसकी नायिका सीमा है। उसके पति गौतम का अन्य पुरुषों के साथ समलैंगिक संबंध है। इस कारण वह अन्य पुरुषों के प्रति आकर्षित होने लगती है। गौतम के मना करने पर भी वह अन्य पुरुषों से संबंध बनाए रखती है। वह गौतम से कहती है कि–'गौतम मैं जीना चाहती हूँ। यहाँ लोग इस घर में साँस लेते हैं लेकिन जीते नहीं।'[9] लेखिका ने सीमा की स्वतंत्र रूप से जीवन जीने की चाह को दर्शाया है।

मृदुला गर्ग ने चित्तकोबरा, उसके हिस्से की धूप, कठगुलाब जैसे स्त्रीवादी उपन्यासों की रचना की। 'कठगुलाब' उपन्यास में पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री के दोहन-शोषण और मुक्ति-संघर्ष की कथा है। कठगुलाब सृजन का प्रतीक है। लेखिका ने इस अर्थ में उपन्यास को प्रतीकात्मक बना दिया है। उपन्यास की अधिकांश प्रमुख पात्र स्त्रियाँ हैं–स्मिता, मारियान, असीमा, नर्मदा, नीरजा और पुरुष पात्र एक ही है–विपिन। विपिन अपने बौद्धिक विलास के लिए एक स्त्री को छोड़ दूसरी के साथ दैहिक संबंध स्थापित करता है। उपन्यास से पाँच खंड हैं। पाँच पात्रों के नाम से जुड़े अध्यायों को स्त्री-मुक्ति के पाँच द्वारों के रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास के सभी प्रमुख पात्रों के लिए परिवार, विवाह-संस्था लगभग समाप्त हो गई है। कोई भी स्त्री माँ नहीं बनती या बन पाती। अकेला पुरुष विपिन पिता बनना चाहता है, परंतु उसकी प्रेमिका बाँझ है। वह उसे

सांत्वना देता हए कहता है कि–'संतान पैदा न कर पाने से कोई बंजर नहीं हो सकता और बहुत कुछ है, जिसका सृजन हम कर सकते हैं।'[10] इस उपन्यास में प्रमुख पात्र अपने-अपने तरीके से सृजन (मातृत्व) रूपी कठगुलाब उगाना चाहते हैं, किंतु कठफोड़वा (प्रतीक-कामीपुरुष) उसको खा जाता है।

जबकि चित्रा मुद्गल के उपन्यास एक जमीन अपनी, आवाँ में स्त्रीवादी स्वर है। 'एक जमीन अपनी' उपन्यास की दो स्त्री-पात्र हैं–अंकिता और नीता। दोनों ही विज्ञापन-क्षेत्र में कार्यरत हैं। मैथ्यू की आब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग कंपनी में अंकिता को काम मिलता है। मैथ्यू उसकी प्रतिभा के साथ उसके शरीर को भी बेचकर अपने बिजनेस को पुष्ट करना चाहता है, लेकिन अंकिता इन सबके लिए तैयार नहीं होती। तब भोजराज के माध्यम से अपनी प्रतिभा के बल पर विज्ञापन-जगत् की नई वनिता बन जाती है। वहीं नीता ने जो मार्ग अपनाया है, वह मांसल शारीरिक प्रदर्शन और उच्छृंखलता का है। नीता लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केंद्र या गिद्दों के बीच मांस का टुकड़ा बन जाती है। अंकिता यह सब स्वीकारने को तैयार नहीं होती है, क्योंकि वह सामाजिक हित के अनुकूल नहीं है। वह कहती है–'जितना अधिकार उसे अपनी तरह जीने का है, सोचने का है, करने का है, औरों को भी है। उसे आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हो तो उसे अपने तक ही सीमित रखे, नहीं तो ये तर्क कन्नी काटने की सहूलियत है।'[11] इसमें लेखिका ने पितृसत्तामक समाज द्वारा उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को उठाया है। साथ ही साथ यह भी उजागर किया है कि स्त्री-जीवन की नई भूमिकाएँ और उनसे उभरी स्त्री-शक्ति के बावजूद व्यापक स्तर पर स्त्री को नई असमानताओं एवं असुरक्षाओं का सामना करना पड़ रहा है। विज्ञापन के क्षेत्र में स्त्री एक व्यक्ति न होकर वस्तु के रूप में उपभोग की जाती है। इस संदर्भ में सुधीश पचौरी का मानना है कि–'एक ओर स्त्री कर्मक्षेत्र और उपभोक्ता-क्षेत्र दोनों में मर्द के दायरे में निकालकर अपनी भाषा बना रही है और इस तरह मर्दों की दुनिया को विचलित कर रही है तो दूसरी ओर लगता है कि वह स्वयं उपभोक्तावादी वस्तु बनती जा रही है।'[12]

जबकि 'आवाँ' उपन्यास कथा है नमिता पांडे की। हर्षा, स्मिता, माँ, कुंती मौसी, सुनंदा, किशोरीबाई, नीलम्मा, अनीसा, गौतमी, अंजना वासवानी और स्त्रियों के आखेट की। जो जितनी कमजोर है वह उतनी ही आखेट के योग्य। इस उपन्यास की नायिका नमिता पांडे मजदूर नेता देवीशंकर पांडे की बेटी है। पिता अन्ना साहब के परम मित्र रहे हैं। उसी कामगार अघाड़ी में नमिता को नौकरी मिलती है। अन्ना साहब उसे अकेले पाकर वही सब करने लगता है, जिसे पुरुष अपना परम अधिकार समझते हैं। यथा–'पिता नहीं, पिता जैसा हूँ। तुम्हारे देह से कोई खिलवाड़ नहीं करूँगा, अपने देह से तो कर सकता हूँ। अपना हाथ मेरे हाथों में दे दो-मैं यह भी तो हूँ। ऐसा भी हो सकता हूँ। इस सच से जब तुम्हारा साक्षात्कार हो ही गया है तो उसे मान लेने में आपत्ति!'[13] यौन-शोषण के अतिरिक्त लेखिका ने अन्य स्त्री-विषयक मुद्दों को बड़ी शिद्दत के साथ उठाया है। यथा–अविवाहित माँ के लिए मातृत्व-संबंधी सुविधाओं का अधिकार, पुत्री अपने पिता को मृत्यु पर मुखाग्नि क्यों नहीं दे सकती इत्यादि। यह उपन्यास पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने वाले अनुभवों से गुजरने की कथा है, जिसे लेखिका ने बड़ी गहनता के साथ चित्रित किया है।

निष्कर्षत: समकालीन हिंदी-लेखिकाओं ने रूढ़ सामाजिक मान्यताओं का विरोध,

स्त्री-अस्मिता का प्रश्न पुरुष के वर्चस्व से स्त्री-मुक्ति की कामना, स्त्री के दमन एवं उत्पीड़न का विरोध तथा बाजारवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति के फलस्वरूप स्त्री को 'वस्तु' समझे जाने वाली मानसिकता का जोरदार खंडन इत्यादि स्त्रीवादी समस्याओं को प्रामाणिक ढंग से उपन्यास-साहित्य में उठाया है। स्त्री होने के नाते स्त्री-जीवन की व्यथा, अपेक्षाओं, अधिकारों व जरूरतों का पुरजोर समर्थन करती नजर आती है, वह उनके व्यक्तिगत अनुभवों की ही उपज है। पुरुष के वर्चस्व को नकारती आज की स्त्री अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए समस्त चुनौतियों की स्वीकारने का साहस जुटा चुकी है। स्त्री-दशा में सुधार लाने के लिए व्यवस्था में भी सुधार लाना आवश्यक है।

संदर्भ

1. डॉ॰ विजय कुलश्रेष्ठ, जैनेंद्र के उपन्यासों का विवेचन, पृ॰ 137
2. कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अँधेरे के, पृ॰ 11
3. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ॰ 71
4. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृ॰ 83
5. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य, पृ॰ 130
6. ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स, पृ॰ 70
7. उषा प्रियंवदा, रुकोगी नहीं राधिका, पृ॰ 43
8. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ॰ 124
9. प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ॰ 251
10. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ॰ 140
11. चित्रा मुदगल, एक जमीन अपनी, पृ॰ 106
12. सुधीश पचौरी (उद्धृत) नारी विमर्श, सं॰ राकेशकुमार, पृ॰ 197
13. चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ॰ 141

85, **ग्रेटर पल्लवपुरम,**
रूड़की रोड, मेरठ
250110

ISSN 0975-735X

हरिशंकर आदेश के काव्य में सुखमय जीवन का स्वरूप

प्रो० ज्ञानचंद रावल
प्रो॰ हिंदी विभाग, गु॰कां॰ विश्वविद्यालय, हरिद्वार
यज्ञदेव
शोध-छात्र, हिंदी विभाग, गु॰कां॰ विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुखापेक्षी है। प्रत्येक मानव की यह चाहत है कि वह स्वस्थ, सुखद, मधुर और सुखमय जीवन जीए। आज की अर्थप्रधान संस्कृति के चलते हर मनुष्य प्रतिस्पर्धा और भागमभाग भरी जिंदगी जीने के लिए न केवल प्रेरित है, वरन् विवश भी है। स्वस्थ, मधुर एवं सुखमय जीवन को चाहने मात्र से जीवन सुखद और मधुर नहीं बनता, वरन् हमें व्यावहारिक जीवन में स्वस्थता, शांति और माधुर्य के लिए सजग भी रहना होगा। सुखद जीवन-सुखद सोच, समृद्धि एवं सफलता का कारण है। इन परिस्थितियों में हम किंकर्तव्यविमूढ़ हैं कि इच्छित की प्राप्ति नहीं होती, अनीच्छित दु:खरूपी काला कंबल पीछा छोड़ता नहीं। व्यक्ति दु:खों से बचना चाहता है, उससे मुक्त होना चाहता है, परंतु विडंबना यह है कि स्वयं दु:खद अवधारणाओं के चलते यह सुखमय जीवन से वंचित रह जाता है। मानवजीवन का चरम लक्ष्य है, पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में आरोग्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जैसा कि कहा भी गया है–'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।'[1]

महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध काव्यग्रंथ 'कुमारसंभवम्' के शिव-पार्वती-संवाद में एक अति महत्त्वपूर्ण उक्ति लिखी है–'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'[2] शरीर ही धर्म की साधना का प्रमुख साधन है। यह यथार्थ है कि मानव-शरीर पंचभौतिक होने के कारण नश्वर है। अंतत: एक दिन नष्ट होने वाला है। तथापि यह इतनी क्षुद्र वस्तु भी नहीं है, जिसकी उपेक्षा की जाय। जब कबीर ने मानव-शरीर को 'पानी केरा बुदबुदा जस मानस की जात।' बताया था तो उसका भाव यही था कि सीमित कालावधि के लिए जन्म लेनेवाले मनुष्य को उचित है कि यथाशीघ्र परमात्मा को पहचाने तथा श्रेयमार्ग का अवलंबन करे।

लेकिन शारीरिक असमर्थता एवं अक्षमता के परिणामस्वरूप वात, पित्त एवं कफ से ग्रसित शरीर आरोग्य सुखमय जीवन का आनंद नहीं ले पाता। तथाकथित मिश्रित अशुद्ध औषधियों से रुग्णता का उपचार भी नहीं हो पाता। प्रज्ञापराध ही इनके प्रकुपित होने का मूल कारण है। मन तथा शरीर रोग के मुख्य अधिष्ठान माने जाते हैं, जिनमें रज और तम मानसिक रोग के कारण हैं। इसी तरह शारीरिक रोग का कारण कफ और पित्त हैं। ये वात पित्त तथा कफ जब तक सम रहते हैं, तब तक ही हम स्वस्थ रहते हैं। यथा–

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च।[3]

मानस-दोष रज और तम दो ही हैं, क्योंकि सत्त्व तो विशुद्ध अविकारी है। सत्त्व के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव उत्तम तन व मन, जो सुखमय जीवन के मूलाधार माने जाते हैं, उन्हें जानकर ही हम कृतार्थ हो सकते हैं।

1. **दुःख का स्वरूप**

'अथ त्रिविधम् दुःखम् अत्यंत निवर्शतिः अत्यंत पुरुषार्थः' यह कपिलमुनि विरचित सांख्यशास्त्र का प्रसिद्ध प्रथम सूत्र है। यहाँ आचार्य ने आध्यात्मिक, आधिदैविक, तथा आधिभौतिक तीन प्रकार के दुःख बताए हैं। इन्हें दूर करने के लिए मनुष्य को अत्यंत पुरुषार्थ करना पड़ता है। इन्हीं तीनों दुःखों से मुक्ति पाना ही मानव-मात्र का मुख्य ध्येय है, जिसे श्रद्धापूर्वक ज्ञान और कर्म के अनुष्ठान से ही प्राप्त किया जा सकता है। भक्तिकालीन सगुण काव्यधारा के प्रसिद्ध कवि संतप्रवर तुलसीदास जी ने अपने जगप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' में लिखा है कि दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज काहू नहिं व्यापा।[4]

अर्थात् दैहिक यानि शारीरिक, दैविक यानि दैविप्रकोप जैसे-भूकंप, अनावृष्टि अतिवृष्टि आदि भौतिक अर्थात् संसारस्थ दूसरे प्राणि जैसे–शेर, कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य प्राणियों से मिलने वाला कष्ट। ये सभी प्रकार के दुःख भगवान् राम के राज्य में किसी को भी नहीं था। भाव यह है कि उस समय सभी पूर्ण रूप से सुखी थे, किसी को किसी भी तरह का कष्ट नहीं था। प्रो॰ 'आदेश' ने अपने काव्यों में इन्हीं तीनों प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए उपादान रूप में आयुर्विज्ञान का विशद वर्णन किया है। जिसके चिंतन-मनन एवं धारण करने से मनुष्य पूर्ण नीरोग प्रसन्नचित्त रह सकता है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर सुखमय जीवन-यापन कर सकता है। यथा–

नाद वेद का मिल गया, जिसको सच्चा ज्ञान।
उसके वश में हो गए, समझ स्वयं भगवान्।[5]

अर्थात् जिस मनुष्य को सच्चा वेद-ज्ञान उपलब्ध हो जाता है, तथा उस वेद-ज्ञान के अनुसार जो साधक ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना एवं उपासना में श्रद्धाभाव से लग जाता है, साधना से धीरे-धीरे निर्मल हुए उसके अंतःकरण में ही परमात्मप्रकाश दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार साधना के क्रम में आगे बढ़ता हुआ साधक एक दिन आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, जिससे उसके समस्त दुःख-दर्द समाप्त हो जाते हैं। परिणामस्वरूप जन्म-मरण रूपी आवागमन के महादुःख से वह भक्त मुक्त होकर मोक्षानंद की प्राप्ति कर लेता है। इस विषय में स्वयं वेद भगवान् का यही निर्देश है। यथा–'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेश्श्यनाय।'[6]

उस परमपिता परमात्मा को ठीक-ठीक जानकर ही मृत्युरूप दुःख-सागर से पार जाया जा सकता है। इसके अलावा दुःख से बचने और सुख प्राप्त करने का दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है। संतप्रवर कबीरदास जी ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है कि-

कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पीछे-पीछे हरि फिरे, कहत कबीर कबीर।[7]

 ISSN 0975-735X

इस प्रकार उपर्युक्त सभी वेद, शास्त्र, ऋषियों, मुनियों एवं संतों की वाणियों से यह सुस्पष्ट होता है कि वेदरूपी काव्याध्ययन एवं वेदानुकूल आचरण से तीनों तापों का सम्यक् परिमार्जन स्वस्थ एवं सुखमय जीवन तथा सुखी समाज का निर्माण करता है।

2. **मानसिक स्वास्थ्य**

तनाव आज की सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य के दु:खदायी जीवन के लिए यही मूलाधार है। अकेले तनाव से मुक्ति पाने वाला व्यक्ति सौ प्रकार की अन्य समस्याओं से स्वत: मुक्त हो जाता है। यह तनाव सफलताओं एव सामाजिक संबंधों पर कुठाराघात करने वाला प्रच्छन्नरिपु है। यह ग्रीष्मकालीन चलने वाली वह गर्म वायु है, जो हमारे शारीरिक स्वास्थ्य एवं शांति को उसी तरह सुखा देती है जैसे-गर्म हवाएँ यानी 'लू' धरती तथा शारीर के जल को। इतना ही नहीं यह तनाव सूखे तालाब में पड़ी दरारों की तरह व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में मोटी-मोटी दरारें डाल देता है। वर्तमान समय की 60 से 70 प्रतिशत आधि, व्याधि एवं उपाधियों का कारण मनुष्य के मन में पलने वाले चिंता, आवेग तथा तनाव ही हैं।

तनाव का अर्थ असंतुलित एवं अनियंत्रित मन से है। तनाव का भाव हतासा, निराशा, मानसिक अशांति तथा बौद्धिक क्षमता की शिथिलता से है। इसीलिए कहा जाता है कि–मन स्वस्थ तो तन स्वस्थ। इस विषय में कविवर प्रकाशवीर कविरत्न ने लिखा है–

मन-सा न जगमें प्रकाश कोई सच्चामित्र, मनसा न और कोई शत्रु हुड़दंगा है।
मनसे प्रीत-रीत, मनसे ही शांत-गीत, मनसे ही राग-द्वेष कपट-क्लेश दंगा है।
मन ही मिलाता ईश, मन ही दिलाता मुक्ति, मन ही तो डालता सुकर्मों में अड़ंगा है।
मन है मरीज तो लजीज कोई चीज नहीं, मन यदि चंगा तो कठौति में ही गंगा है।[8]

इस तरह जिसने मन को साध लिया, समझ लो उसका मन स्वत: सध गया। इस प्रकार जिसने मन और तन दोनों को नीरोग बना लिया, सही अर्थों में अपना जीवन सुखमय बना लिया। संतशिरोमणि तुलसीदास ने भी उत्तरकांड में गरुण और कागभुशुंडी प्रसंग में लिखा है कि 'मानस रोग कहहु समुझाई। तुम सर्वग्य कृपा अधिकाई।'[9]

इसी क्रम में भुशुंडी जी ने कुछ प्रमुख मानस रोगों का हृदयग्राह्य वर्णन किया है, वे हैं–काम, क्रोध, लोभ, मनोरथ, ममता, दुष्टता, अहंकार, तृष्णा तथा मत्सर आदि। इन्हें ही तुलसी ने रोग कहा है, जिन्हें ये रोग लगते हैं उनकी दशा विचित्र हो जाती है। इन सभी व्याधियों की जड़ यहाँ 'मोह' को माना गया है। जैसे–

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहि बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।[10]

विषय मनोरथ आदि अनेक व्याधियाँ हैं, जिनसे संसार पीड़ित है। इन उपर्युक्त रोगों में से दु:खमय जीवन के लिए एक ही कारण पर्याप्त है, मगर उनकी क्या अवस्था होगी, जिन्हें ये सभी एक ही साथ हों। इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। संत तुलसी लिखते हैं–

एक व्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहैं समाधि।[11]

संतप्रवर तुलसीदास ने यहाँ तनाव के प्रमुख कारण काम, लोभ, क्रोध तथा इन सबकी जड़ मोह का वर्णन किया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन कारणों की चिकित्सा क्या है? इसके लिए कहा जा सकता है कि तमोगुणी एवं रजोगुणी वृत्तियों को दबाकर उनके स्थान पर यदि 'सात्त्विकता' जिसके आचार, विचार, आहार तथा व्यवहार ये चार प्रमुख आधार हैं, को स्थापित कर दिया जाए तो इन मानसिक रोगों से मुक्ति मिल सकती है। लेकिन इसके लिए प्रार्थनाएँ, ध्यान और संध्या, सत्संग परिवार के साथ सम्मिलित रूप से किया जाए तो मन धीरे-धीरे शांत होने लगता है। महर्षि पतंजलि ने भी 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[12] कहकर उस ओम् नाम का अर्थ चिंतन के साथ जप करने का विधान किया है। इसी तरह गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा था–'अभ्यासेन तू कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते' अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही इस मन पर निग्रह किया जा सकता है। प्रो॰ हरिशंकर 'आदेश' ने अपने काव्य में इन मानसिक वृत्तियों के विषय में लिखा है कि–

सुख-दु:ख यश-अपयश जिसे, होते सदा समान।
योगी सच्चा सम जिसे मान और अपमान।
सब-कुछ खोकर भी अगर, साहस है अवशेष।
तो समझो खोया नहीं, तुमने रंच विशेष।[13]

अर्थात् सुख-दु:ख, मान-अपमान में जो सदा एकरस रहता है, वही सच्चा योगी एवं ईश्वर-विश्वासी कहलाता है। ऐसे लोग राणाप्रताप, शिवाजी आदि की तरह विकट परिस्थितियों में भी सदा साहस से भरपूर रहते हैं। यही साहस उन्हें एक न एक दिन सफलता दिला ही देता है। आदिगुरु श्री शंकराचार्य, महर्षि दयानंद जी सरस्वती, सुभाषचंद बोस आदि इसी कोटि के महापुरुष थे। अत: व्यक्ति को दृढ़संकल्पी तथा साहसी एवं ईश्वर विश्वासी होना चाहिए।

3. शारीरिक स्वास्थ्य

शारीरिक रोग वह है, जो वात-पित्त तथा कफ के न्यूनाधिक्य से होता है, जैसे–ज्वर, दमा, जोड़ों का दर्द एवं पांडुरोग आदि। जब हम आहार-विहार के नियमों को त्यागकर स्वेच्छाचार करते हैं तो परिणामस्वरूप धातुओं में विषमता आ जाती है। आमाशय में धीरे-धीरे दोष एकत्रित हो जाते हैं, जिसके कारण हम रोगी होते हैं। यदि समय पर उचित चिकित्सा न हुई तो अकाल-मृत्यु भी हो जाती है। अतएव निम्नलिखित नियमों का पालन यदि निष्ठापूर्वक किया जाए तो हम अपने तन व मन दोनों को स्वस्थ रखते हुए सुखमय जीवन जी सकते हैं–

सूर्योदय-सूर्यास्त पर तजे न जो पर्यङ्क।
उसकी जीवन अवधि के, घट जाते हैं अंक।
नख-रद-वस्त्रों को रखे, जो भी सदा मलीन।
रोग नहीं त्यागे उसे, रहे दु:खी ओ दीन।[14]

अर्थात् सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय जो लोग सोते रहते हैं, उनकी आयु कम हो जाती है। इसी तरह जो लोग सदा अपने नाखून, दाँत, एवं वस्त्रों को मलिन रखते हैं, वे हमशा रोगी ही रहते है। क्योंकि गंदगी के कारण ही रोग के कीटाणु पैदा होते हैं, शारीरिक एवं मानसिक रोगों के कारण बनते हैं। प्राय: देखा गया है कि मलिन बस्तियों एवं मैला-कुचैला वस्त्र धारण

 ISSN 0975-735X

करने वाले लोग ही विभिन्न प्रकार के रोगों जैसे–मलेरिया, ज्वर, श्वास तथा पेट आदि से सदैव ग्रस्त रहते हुए दु:ख भोगने के लिए मजबूर रहते हैं।

स्वस्थ मनुष्य के अंदर निम्नांकित छह लक्षण बताते हुए पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी लिखते हैं–'1-खूब खुलकर भूख लगे, 2-जो खाय वह भली प्रकार पच जाय, 3-समय पर बँधा हुआ चिकना एक बार में मल निकल जाय, पेट हलका हो जाय, 4-शुद्ध डकार आवे, 5-अपानवायु शब्द तथा दुर्गंधरहित सरलता से निकल जाय, 6-मन प्रसन्न रहे, निश्चिंत रहे। ये छ: लक्षण स्वस्थता के हैं।'[15] इस विषय में वेद भगवान् ने बड़ा ही सुंदर उपदेश दिया है–'सुप्तानाम् वर्चमादधे।'

अर्थात् सूर्योदय के बाद भी जो लोग सोते रहते हैं, उन आलसियों का ओज, तेज, बल आदि सूर्य खींच लेता है। ऐसे लोग धन, बल तथा श्रीविहीन हो जाते हैं। अतएव प्रात: सायं सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय सोना नहीं चाहिए। इस समय आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा अर्थोपार्जन आदि के बारे में चिंतन करना चाहिए। मनुस्मृतिकार महर्षि मनु ने अपने धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' में लिखा है कि 'ब्राह्मे मुहूर्ते बुधेत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्'[16]

अर्थात् सभी मनुष्यों को प्रात: ब्रह्ममुहूर्त में ही उठना चाहिए। उठकर धर्म, अर्थ के बारे में चिंतन करना चाहिए। इस विषय में एक लोकोक्ति भी प्रचलित है कि 'प्रात:काल एक दौलत लुटती रहती है, जो जागत हैं सो पावत हैं, जो सोवत हैं सो खोवत हैं।' भाव यह है कि प्रात:काल प्रकृतिदेवी एक दौलत बाँटती है। उस धन को केवल जागने वाले ही प्राप्त करते हैं। अत: प्रात: सूर्योदय से एक घंटा पहले ही जागकर कम-से-कम आठ अंगुल (लगभग चार गिलास) पानी खाली पेट पीना चाहिए। फिर दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर व्यायाम आदि यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इस समय आकाश में ओझोन प्राणवायु विद्यमान रहती है, जो कि सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद मानी जाती है। व्यायाम के बाद आधा घंटा विश्राम करने के बाद ऋतुनुकूल शीतल या गुनगुने जल से खूब रगड़-रगड़कर घर्षण स्नान करना उचित रहता है। इसी तरह भोजन भी शांत-एकांत स्थान पर हाथ-पैर धोकर सुखासन में बैठकर प्रसन्नतापूर्वक ही करना चाहिए। भोजन सदैव भूख से कम ही खाना स्वास्थ्यप्रद माना जाता है। महर्षि चरक ने लिखा है–'हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रिय:'[17] अर्थात् भोजन हितकारी, परिमाण में थोड़ा तथा ऋतुओं के अनुकूल ही करना चाहिए। इसीलिए कविवर प्रो॰ हरिशंकर प्रात:काल उठकर शौच आदि का विधान कर रहे हैं, जो कि वेद एवं आयुर्वेद के सर्वथा अनुकूल है। अत: उत्तम स्वास्थ्य के अभिलाषी प्रत्येक भाई-बहन द्वारा इसे जीवन में अपनाना चाहिए।

4. **प्राकृतिक जीवन**

प्रकृति शब्द से ताद्धित ठञ् प्रत्यय करने से प्राकृतिक शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होगा–'नैसर्गिक प्रकृति से व्युत्पन्न आदि'[18] औद्योगिक क्रांति के इस युग में भौतिक उन्नति को ही मानवीय प्रगति समझा जाता है। आज के लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि अपनी इच्छानुसार हम प्रकृति का जितना उपयोग कर सकें, वही हमारी प्रगति का प्रतीक है। इसीलिए आज प्रकृति का असीमित दोहन, वनों एवं वृक्षों की कटाई, औद्योगिक यंत्रों एवं महाविनाशक शस्त्रों की होड़ ने पर्यावरण को जो हानि पहुँचाई है। प्रो॰ हरिशंकर आदेश लिखते हैं–

ये पर्वत ये घाटियाँ, खड़े विटप चहुँओर।
सुखमय है वातावरण, बैठा ढिंग चितचोर।।'[19]

देर से ही सही, परंतु अभी पिछले कुछ समय से प्रकृति-संरक्षण के प्रति विश्व सचेत हुआ है। जून 1972 में जो विश्व-पर्यावरण सम्मेलन स्टाकहोम में संपन्न हुआ था, उसमें भारत ने भी सक्रिय भूमिका निभाई थी। इस सम्मेलन में जो संकल्प लिए गए थे, उसके क्रियान्वयन हेतु 23 मई 1983 में भारतीय संसद ने 'पर्यावरण-संरक्षण और सुधार अधिनियम' पारित किया था। इस अधिनियम में शब्दों की जो व्याख्या हुई है, उसके अनुसार–'पर्यावरण से तात्पर्य जलवायु एवं भूमि से होते हुए भी उस अंत:संबंध से लिया गया, जो जलवायु, भूमि, मनुष्य अन्य जीवित प्राणियों, वृक्षों एवं सूक्ष्म जीव जगत् के मध्य विद्यमान है। किसी भी ठोस, द्रव या गैसीय पदार्थ, जिससे पर्यावरण को क्षति होती हो, उसे प्रदूषणकारक तत्त्व माना गया है।'[20] पर्यावरण-संबंधी यह व्याख्या प्राचीन भारतीय चिंतन की अवधारणा के सवर्था अनुरूप है। भारतीय जीवन-प्रणाली में पर्यावरण के प्रति जागरूकता का भाव मानव-सभ्यता के प्रारंभ से ही होता है। हमारे देश ने पर्यावरण की निर्मल दृष्टि अपने पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त की है। भारतीय संस्कृति में होली, दशहरा, दीपावली आदि विभिन्न त्यौहार तथा विभिन्न प्रांतों में होने वाले विविध पर्व प्रकृति के ही किसी-न-किसी पक्ष से ही जुड़े हुए हैं। हमारे वैदिक साहित्य में जहाँ जल, वायु, अग्नि, उषा परजन्य आदि प्राकृतिक तत्त्वों की स्तुतियाँ हैं, वहाँ सोम को भी प्रमुख स्थान मिला है। कविवर हरिशंकर आदेश प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

हिमगिरी प्रहरी, सागर साथी पवन, पुण्य प्रियतम है।
ऋतुओं का शृंगार सजाता, नित जिसका यौवन है।[21]

इन प्राकृतिक देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए यज्ञीय संस्कृति को विकसित किया गया है। यज्ञ का मुख्य अर्थ देवपूजा, संगतिकरण तथा दान है। भाव यह है कि जिन देवताओं से हमें जीवन मिलता है, बदले में उन्हें कुछ देना भी चाहिए। इससे आपसी संबंध मधुर, प्रगाढ़ एवं सुरक्षित बनता है, परंतु आज मानव अधिकाधिक संसाधन जुटाने के लोभ में इतना स्वार्थी हो गया है कि प्रकृति से लेना तो चाहता है, परंतु देना नहीं चाहता। भारतीय संस्कृति हमें पहले देना फिर प्रसादस्वरूप लेना सिखलाती है। अर्थात् एक पेड़ काटने का हमें तभी अधिकार है, जब हम उसके स्थान पर कम-से-कम दो पेड़ लगा दें।

प्रकृति को वायु, जल, ध्वनि, पृथ्वी, वन-संपदा, पशु-पक्षी-सरंक्षण आदि अनेक वर्गों में बाँटा जा सकता है। इन सभी में सजीव जगत् के लिए प्रकृति की रक्षा में वायु की स्वच्छता का प्रमुख स्थान है, क्योंकि प्राणवायु के बिना क्षणभर भी जीना असंभव है। वायुदेव के महत्त्व को बताते हुए कविवर हरिशंकर लिखते हैं–

सबका तन शीतल करूँ, सदा चलूँ दिन-रात।
जग का जीवन मूल हूँ किंतु नहीं है गात।[22]

पेड़-पौधे, विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ हमारे लिए ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिल की उपस्थिति में अपने लिए कार्बन डाईआक्साइड रख लेते हैं। इस तरह वायु की शुद्धि सुखमय जीवन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तत्त्व को स्पष्ट करते हुए वायुप्रदूषण के संबंध में विचार करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि 'वायु में रोगाणु और कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।

 ISSN 0975-735X

वे कृमि अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। अतः इनका नाश किया जाना चाहिए। उदीयमान सूर्य कृमियों का नाश करे, स्थायमान सूर्य भी अपनी किरणों से भूमि पर कृमियों का नाश करे।'[23]

वृक्ष–प्राकृतिक संतुलन में वृक्षों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज मानव अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए वृक्षों को अंधाधुंध काट रहा है। हिंदी-जगत् के अनेक कवियों एवं लेखकों ने इस पर अपनी गहरी संवेदना प्रकट करते हुए वनस्पतियों, वृक्षों एवं वनों के संरक्षण के लिए प्रेरित किया है। भारतीय मूल के प्रसिद्ध कवि प्रो॰ हरिशंकर आदेश अपनी सप्तशती में वृक्ष संरक्षण की उत्तम प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि–

तरुवर करते हैं सदा, संसृति का उपकार।
जग को देते फूल-फल, पंथी छाँह उदार।
सकल वनस्पतियाँ सुफल, मानव की हैं मित्र।
इनको नहीं मिटाइए, समझ अव्याज अमित।[24]

जल–भारतीय संस्कृति में जल को देवता माना जाता है और गंगा आदि पवित्र नादियों को माँ का दर्जा दिया जाता है। हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री भाई नरेंद्र मोदी ने गंगा-शुद्धि के लिए जो संकल्प लिया है, वह वास्तव में सराहनीय है। आज गंगा-यमुना का जल इतना प्रदूषित हो चुका है कि पीना तो दूर, हाथ-पैर भी धोने लायक भी नहीं है। इन्हीं अशुद्ध जलों के प्रयोग से तरह-तरह की बीमारियाँ पैदा होती हैं। हमारे वैदिक ऋषियों ने पवित्र जल की उपलब्धि की कामना करते हुए कहा है कि–'हमारे लिए शुद्ध सदा जल प्रवाहित होता रहे।' अथर्ववेद में जल के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि 'जल हमारे लिए निश्चित रूप से सुखदायक है। हमारे शरीर में ओज, तेज एवं ऊर्जा का संवर्धन करते हैं। शरीर में पनप रहे रोगाणुओं से लड़ने की क्षमता प्रदान करते हैं।'[25] कविवर हरिशंकर आदेश ने अपने अनुराग नामक महाकाव्य में गंगा के जल की प्रशंसा करते हुए लिखा है–

देखो सम्मुख वह अमर-तोयगा, कल-कल-कल-कल बहती है।
अपने कलंक से जग कलंक श्रम-तृष निवारण करती है।[26]

यज्ञ–वैदिक साहित्य में पर्यावरण-शुद्धि के लिए यज्ञ को सर्वोत्तम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। 'जब घी से मिश्रित आहुति यज्ञकुंड में दी जाती है, तब उससे उठता हुआ धुआँ सारे वातावरण को सुगंधित कर देता है।'[27] और साथ ही पेड़, पौधों और वनस्पतियों पर भी अच्छा प्रभाव डालता है। यद्यपि इस विषय पर विदेशी विद्वान् खोज ही कर रहे हैं, परंतु हमारे वेदों में स्पष्ट उल्लेख है–'मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्यः स्वाहा, वनस्पतयः स्वाहा, फलेभ्यः स्वाहौशधीभ्यः स्वाहा।'[28] इसीलिए संस्कृत साहित्य में यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म माना है। जैसा कि शत्पथ ब्राह्मण में लिखा है–'यज्ञो वै श्रेष्ठतमम् कर्म।'[29] यज्ञ केवल कर्मकांड का ही विषय नहीं है, बल्कि ब्रह्मांड में रत प्रकृति की अनंत शक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने के लिए ऊर्जा भी प्रदान करता है। यज्ञ से ओजोन परत में हो रही क्षतिपूर्ति भी संभव है। यज्ञ जल, वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों का शोधन करके मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करता है। यज्ञ के विषय में महर्षि दयानंद ने लिखा है–'अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान-पान से आरोग्य, बुद्धि, बल,

पराक्रम बढ़के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना। इसीलिए इसको देवयज्ञ कहते हैं।'[30]

जहाँ तक बने, वहाँ हमें अपना आहार-विहार सादा ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए। हरी-साग-सब्जियों, मौसमी फलों एवं कम मिर्च-मसाले का प्रयोग करना ही श्रेयसकर है। आटे में जौ, चना, मटर तथा सोयाविन आदि उचित मात्रा में मिलाकर मिसी रोटी का प्रयोग करने से कब्ज-जनित अनेक बीमारियों से सहज ही मुक्ति मिल जाती हैं। इस विषय में कविवर हरिशंकर ने अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है–

चाहो सुख-सम्मान हो, शुद्ध रखो आचार।
इच्छा यदि आरोग्य की, शुद्ध रखो आहार।[31]

जिसका जीवन जितना प्राकृतिक होगा, वह उतना ही स्वस्थ एवं आनंदित भी रहेगा। आज हम वैज्ञानिक युग में व्यस्तम दिनचर्या के कारण प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं, जिसका परिणाम हमारे सामने है। अतः जहाँ तक संभव हो हमें प्रकृति से जुड़े रहना चाहिए। प्रकृति मानवीकरण में अभिव्यक्त सौंदर्य अपूर्व मन भावन है। मुस्कुराते, हँसते फूलों और मंद-मंद चलती हवा का भाव बिंब प्रेरक आनंदानुभूति का आधार सिद्ध होता है। यथा–

तरुवृत्तों की गोंद में, हँसते शिशु सम फूल।
शीत समीरण झल रहा, व्यजन डुलाए दुकूल।[32]

प्रकृति और पर्यावरण का प्रेम कवि को आंदोलित करता रहता है। संसार का संतुलन बनाए रखनेवाले वृक्ष फल फूल एवं धूप-छाँव से हमारी सुरक्षा करने वाले वृक्षों का गुणगान करता हुआ कवि कह रहा है कि यथा–

तरुवर करते हैं सदा, संसृति का उपकार।
जग को देते फूल-फल, पंथी छाँह उधार।[33]

हमेशा समयाभाव ही रहता है। अतः लोग रेडीमेड बासी सड़ी-गली वस्तुएँ ही खाते हैं। जिस कारण अन्य अनेक रोगों से सदा ग्रस्त रहते हैं। इसलिए सदैव निरोग रहने लिए अपने आहार-विहार पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। क्योंकि किसी संत ने कहा है कि 'पहला सुख निरोगी काया' अर्थात् स्वस्थ रहना सबसे बड़ा सुख है। संसार का हर काम शरीर से ही संपन्न होते हैं। जब शरीर ही स्वस्थ नहीं होगा तो शेष वस्तुओं का क्या महत्त्व है। प्रातः सायं ईश्वरोपासना, योग, व्यायाम तथा शुद्ध आहार-विहार पर सभी को विशेष ध्यान देना चाहिए।

5. **जीवेम शरदः शतम् भावना**

भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति मानी जाती है। वैदिक संस्कृति में मनुष्य का शतवर्षीय जीवन यशस्वी माना जाता हैं। वेद के अनुसार मनुष्य की कम-से-कम सौ वर्ष तथा अधिक से अधिक चार सौ वर्ष की मानी गयी है। जो भी मनुष्य वेदानुकूल अपना जीवन-यापन करता है, वह कम-से-कम एक सौ वर्ष तक अवयमेव जीवित रहता है। अतः सभी मनुष्य को शतवर्ष आयु हेतु प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि कहा गया है–'जीवन् नरो भद्रशतानि पश्यति' अर्थात् जीवित रहता हुआ मनुष्य सैकड़ों कल्याणों को देखता है। मानव का परम कल्याण मुक्ति है। मुक्ति हेतु एक नहीं अनेक जन्म लेने पड़ते। अतएव आयु जितनी लंबी होगी, हमें मुक्ति भी उतनी जल्दी मिलेगी।

प्रो॰ 'आदेश' ने अपने काव्य में शतायु होने के उपायों का विशद रूप में वर्णन किया है। जिसे जीवन में धारण करके मनुष्य अपने परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। कवि ने अपने काव्य में लौकिक सुखों का भी सरल शब्दों में वर्णन किया है। इन दोनों प्रकार के सुखों को एक साथ ही प्राप्त करना जीवन की बड़ी सफलता मानी जाती है। यथा–

मादक द्रव्य न ले, करे शाकाहार सहर्ष,
जो भी संयम से रहे, जीता है सौ वर्ष।[34]

अर्थात् जो व्यक्ति मादक द्रव्य जैसे शराब, भाँग, चरस, सिगरेट आदि को त्याग सदैव शुद्ध शाकाहारी भोजन करता है तथा अपनी दशों इंद्रियों सहित मन पर संयम करता है, वह निश्चित रूप से सौ वर्षों तक सुखपूर्वक जीवन-यापन करता है। प्रायः लोग मानते हैं कि शरीर की शक्ति केवल जनन-इंद्रिय के द्वारा ही क्षीण होती है। जबकि ऐसा नहीं है। शक्ति तो बोलने आदि सभी से ही क्षीण होती है–

अबल-दीन दुःख-ग्रस्त को, कभी न दी जे ताप।
आर्त-आह जिनकी बने, सदा घोर अभिशाप।[35]

अर्थात् बलहीन, दीन, दुःखी, अपाहिज आदि लोगों को कभी भी कष्ट नहीं देना चाहिए। इन दुःखी जनों की पीड़ा भरी निःश्वास आह बहुत बड़ा अभिशाप बनकर आयु को नष्ट करने वाला होता है। अतएव दीर्घायु बनने के लिए हमें अपना आहार-विहार अत्यंत शुद्ध रखना चाहिए। ईश्वर भी उसी का सहयोग करता है, जो अपना ध्यान स्वयं रखते हैं। आलसी कामचोर को तो देवता लोग भी नहीं चाहते। इस तरह प्राकृतिक जीवन जीने वाले तथा योगमय दिनचर्या व्यतीत करने वालों का जीवन सुखमय, शांतमय एवं आनंदमय रहता है।

संदर्भ

1. चरकसंहिता, 01/15
2. महाकवि कालिदास, कुमारसंभवम्
3. चरकसंहिता 1/56
4. रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर
5. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जीवन सप्तशती, 680/98
6. यजुर्वेद, 31/18
7. कबीर-ग्रंथावली,
8. प्रकाशवीर कवितावली
9. रामचरितमानस, 7/121/7
10. रामचरितमानस, 7/121/28-31
11. वहीं, 7/121/क
12. योगदर्शन, 1/28
13. लेखक प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जीवन सप्तशती, 171/176 पृ॰ 52
14. लेखक प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जमुना सप्तशती-185/86, पृ॰ 53
15. आरोग्य अंक, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ॰ 68
16. मनुस्मृति, अध्याय-4/93

17. चरकसंहिता
18. वामन शिवकुमार आप्टे, 'संस्कृत-हिंदी कोश', पृ॰ 685
19. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'आदेश सप्तशती', पृ॰ 43
20. पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण, पृ॰ 04
21. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'अनुराग महाकाव्य', परिचय सर्ग, पृ॰ 11
22. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'आदेश सप्तशती', पृ॰ 36
23. अथर्ववेद, 2/32/1, उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तुरश्मिभिः।
24. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'जमुना सप्तशती', पृ॰ 79-80
25. ऋक्॰ 10/9/1, आपो हिश्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।।
26. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'अनुराग महाकाव्य', परिचय सर्ग, पृ॰ 175
27. यजुर्वेद, 5/21, घृतेन द्यावापशथिवी पूर्येथाम्।
28. यजुर्वेद, 9/135/3
29. शतपथ ब्राह्मण, 17/15
30. महर्षि दयानंद, 'सत्यार्थ प्रकाश', चतुर्थ समुल्लासः, पृ॰ 101
31. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 'आदेश सप्तशती', पृ॰ 75
32. लेखक प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जमुना सप्तशती, 398, पृ॰ 75
33. लेखक प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जमुना सप्तशती-445, पृ॰ 75
34. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जीवन सप्तशती, 666, पृ॰ 76
35. प्रो॰ हरिशंकर आदेश, जीवन सप्तशती, 165, पृ॰ 46

 ISSN 0975-735X

नरेश सक्सेना की कविता में पर्यावरणीय व सामाजिक संवेदना

सुरेंद्रकुमार जैन
हिंदी विभाग
स॰ भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा॰, रुद्रपुर
(कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल)

नरेश सक्सेना वर्तमान हिंदी कविता के उज्ज्वल नक्षत्र हैं। पेशे से अभियंता होते हुए कविता से और कविता के माध्यम से प्रकृति से जुड़ना स्वयं में अविस्मरणीय बात है। वृक्ष, नदी, जल, धरा, वायु सहित सभी प्राकृतिक अवयवों व सामाजिक संवेदना को लेकर कविता में भावों का इतना उत्कृष्ट वेग है कि पढ़ते हुए पाठक स्वयं को सहसा इनसे जुड़ा हुआ पाता है। संगीत और साहित्य की मिश्रित समझ रखने वाले चुनिंदा कवियों में से एक हैं। फिल्म-निर्देशन के लिए इन्हें राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला, परंतु फिल्मी दुनिया की चकाचौंध भी उनके जीवन को प्रभावित नहीं कर सकी। पहली कविता वर्ष 1958 में ज्ञानोदय में प्रकाशित हुई। सुनो चारुशीला, समुद्र पर हो रही है बारिश (कविता-संग्रह), प्रेत, हर क्षण विदा, दौड़ (नाटक), एक हती मनू (बुंदेली नाटक), आदमी का आ (नुक्कड़ नाटक) नरेश सक्सेना की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इन्होंने 'आरंभ' (त्रैमासिक पत्रिका) सहित अनेक पत्रिकाओं का संपादन किया है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लेख व कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इन्हें पहल सम्मान, ऋतुराज सम्मान, उत्तर प्रदेश शासन का साहित्यभूषण सम्मान, मुकुटबिहारी सरोज स्मृति सम्मान, कविता कोश सम्मान एवं हिंदी साहित्य सम्मेलन सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया है। बनावट रहित, सीधी, सच्ची, उन्मुक्त, युगबोध से परिपूर्ण कविता लिखने वाले नरेश सक्सेना वास्तव में इक्कीसवीं सदी के समर्थ प्रतिनिधि कवि हैं। नरेश सक्सेना की कविता वास्तव में जीवनमूल्य की कविता है। वे पर्यावरणीय चेतना के मूर्द्धन्य कवि हैं। इनके काव्य में पर्यावरणीय क्षरण को लेकर जो टीस देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कवि पर्यावरण-प्रदूषण की पीड़ा को स्वयं की पीड़ा से जोड़ लेते हैं। नरेश सक्सेना ने आम जनजीवन की पीड़ा को बड़ी सजगता व निर्भीकता से कविता में निभाया है।

पर्यावरण एक व्यापक अवधारणा है, जिसके अभ्यंतर में संपूर्ण सृष्टि समाहित है। प्रत्येक वस्तु चाहे वह जैविक है अथवा अजैविक, उसका अपना एक पर्यावरण होता है। जब उसके घटकों पर लालच के कारण मानव की कुदृष्टि पड़ती है, तब उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका नुकसान अंततः मानव को ही उठाना पड़ता है। पर्यावरण बचा रहे, उसकी क्षति न हो, इसकी चेतना नरेश सक्सेना की कविता में स्थान-स्थान पर दिखाई देती है।

वृक्ष प्रकृति की अनुपम देन हैं। वृक्ष किसी भी प्रयोजन से काटा जाय वह निश्चित ही पर्यावरण के लिए अहितकर होगा। अंतिम संस्कार के लिए प्रयुक्त की जाने वाली लकड़ी के लिए एक वृक्ष कट जाएगा इसकी चिंता भी नरेश सक्सेना करते हैं और किसी भी तरह वृक्ष को बचाए रखना चाहते हैं। 'एक वृक्ष भी बचा रहे संसार में' जैसी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति से साक्षात्कार करना पड़ता है, उसे प्रेम करना पड़ता है जो कवि के स्वभाव में ही है–

लिखता हूँ अंतिम इच्छाओं में
कि बिजली के दाहघर में हो मेरा संस्कार
ताकि मेरे बाद
एक बेटे और एक बेटी के साथ
एक वृक्ष भी बचा रहे संसार में।[1]

प्रकृति हमारे पास आने वाली पीढ़ियों की धरोहर है। हम उसकी सुरक्षा के दायित्व से बँधे हैं। जैसी हमें विरासत में मिली है, वैसी या उसमें सुधार के साथ हमें अगली पीढी को हस्तांतरित करनी है। प्रश्न यह है कि हमें इस दायित्व का बोध क्यों नहीं हो रहा है? प्रकृति के साथ खिलवाड़ का ये सिलसिला कब तक चलेगा? अपने बच्चों के लिए विरासत में हम कंक्रीट के जंगल, धूल-धुआँ, बंजर भूमि, अम्लीय वर्षा, बजबजाती नदियाँ छोड़कर जाएँगे? मानव अपनी जिम्मेदारियों से मुँह नहीं मोड़ सकता। नरेश सक्सेना ने उपर्युक्त कविता के माध्यम से मानव को उसकी जिम्मेदारी का आभास कराया है, दायित्वबोध कराया है।

वर्तमान समय में प्रकृति और मानव के मध्य का संबंध टूट-सा गया है, बाजारवादी मानसिकता के कारण लोग मुनाफे के लिए कुछ भी कर रहे हैं, वे अपने आँगन में लगे पेड़ ही बेचे दे रहे हैं। हमारी संस्कृति में आँगन के वृक्ष को घर के बुजुर्ग के समान सम्मान दिया जाता है। जिस वृक्ष की छाँव में बचपन गुजार दिया, जिसके फूलों की सुगंध ने आँगन को महकाया, फलों ने जीवन में मिठास घोले रखी, उस पेड़ को काटने में लोगों को अब कोई गुरेज नहीं है। कृतघ्नता का यह भाव कवि को भीतर तक कचोट देता है, ऐसी मार्मिक कविताएँ पर्यावरणीय क्षति के संदर्भ में कम ही देखने को मिलती हैं–

अरे! कोई देखो/ मेरे आँगन में गिरा कटकर/ गिरा मेरा नीम/ गिरा मेरी सखियों का झूलना/ बेटे का पालना गिरा/ उड़ी उसकी चिड़िया/ देखो उड़ा उनका शोर/ देखो एक घोसला गिरा/ देखो वे आरा ले आए/ ले आए कुल्हाड़ी/ और रस्सा ले आए उसे बाँधने/ देखो कैसे काँपी उसकी छाया। (उसे ले गए)[2]

नरेश सक्सेना जी का मानना है कि 'हमारी हवा, पानी, मिट्टी इन तीनों चीजों को हमारे समय की टैक्नोलॉजी जो पूँजीवाद के कब्जे में है, जो मुनाफा कमाने के लिए सारी चीजों को बर्बाद किए दे रही हैं और हमारी भ्रष्ट सरकारें बर्बाद होने दे रही हैं।' जंगलों का अंधाधुंध कटान सिर्फ पैसों के लालच में किया जा रहा है, वन्य प्राणियों के शिकार का एकमात्र उद्देश्य भी यही है। पहाड़ों पर गैरकानूनी खनन धड़ल्ले से किया जा रहा है, कोई रोकने वाला नहीं है, पानी का उद्योग उन क्षेत्रों में भी चल रहा है, जिन क्षेत्रों में सदानीरा नदियाँ बहती हैं। कवि ने इसकी पीड़ा 'चीड़ लदे ट्रक पर' कविता के माध्यम से व्यक्त की है–

हैं डिंग सौंग औ' चीड़ लदे ट्रक पर
कितनी चिड़ियों के नीड़ लदे ट्रक पर
पर्वत नदियाँ झरने हिरने
लदकर बाजार चले बिकने
है हत्यारों की भीड़ लदे ट्रक पर
कितनी चिड़ियों के नीड़ लदे ट्रक पर।[3]

पर्यावरण की हो रही क्षति को देखकर भविष्य के प्रति सचेत करना कवि अपना कर्तव्य समझता है। धीरे-धीरे पेड़ों, नदियों, पक्षियों, मछलियों तथा वन्य जीव-जंतुओं का क्षय होता जा रहा है। मनुष्य ने ग्राहक का रूप ले लिया है, उसमें मनुष्यता का लोप होता जा रहा है। कवि भविष्य में घटित होने वाली इस कड़वी सच्चाई को 'देखना जो ऐसा ही रहा' कविता के द्वारा दिखाना चाहते हैं–

देखना जो ऐसा ही रहा तो, एक दिन.... बस्तियाँ नहीं होंगी/ मनुष्य नहीं होंगे/ सिर्फ बाज़ार होंगे/ जहाँ होंगी कविताएँ/ पेड़ों, नदियों, चिड़ियों, मछलियों और खरगोशों का/ विज्ञापन करती हुई।[4]

जल प्रकृति का ऐसा तत्त्व है, जिसके अभाव में जीवन की कल्पना करना भी असंभव है, परंतु नादानी में मनुष्य जीवन के इस आवश्यक तत्त्व को विकृत करने में जरा भी संकोच नहीं कर रहा। नदियाँ, जिनको भारतीय संस्कृति में माँ का स्थान प्राप्त है, उनको मैला-कुचैला करने में किसी को कोई झिझक नहीं है। व्यवस्थाएँ लाचार हैं। मनुष्य को, वनस्पतियों को, जीव-जंतुओं को शुद्ध जल की महती आवश्यकता है। जल के अभाव में या दूषित जल के कारण सभी विचलित हैं, अनेक बीमारियों का शिकार हैं। 'मछलियाँ' कविता साफ पानी की आवश्यकता की ओर इंगित करती है। एक छोटी बच्ची की साफ पानी को लेकर प्रस्तुत की गई संवेदना देखने योग्य है–

अच्छा! तो जहाँ लिखा है मछली
वहाँ पानी भी लिख दो
तभी उसकी माँ ने पुकारा तो वह दौड़कर जाने लगी
लेकिन अचानक मुड़ी और दूर से चिल्लाकर बोली
साफ पानी लिखना पापा।[5]

ग्लोबलवार्मिंग के प्रभाव से ग्लेशियरों के विलुप्ती के कगार पर पहुँचने के कारण कुछ नदियाँ सूख गई हैं, कुछ सिकुड़कर नाले बन गई हैं, कुछ बहती हैं तो शहरों की तमाम गंदगी लिए बहती हैं। इसका अहसास किसी को नहीं है कि सूखी और मैली नदियाँ कितनी भयानक समस्याएँ हमारे सामने ला सकती हैं, जो भरी नदी द्वारा लायी गई बाढ़ से ज्यादा भयावह हो सकती हैं। ग्लोबलवार्मिंग के परिणामस्वरूप बदलते हुए पर्यावरणीय संदर्भों और नदियों के हालात को देखकर कवि के मन का दर्द और डर जायज लगता है–

गहरे पानी से डरता हूँ, क्योंकि
तैरना नहीं आता

लेकिन सूखी नदियों से ज़्यादा डर लगता है।[6]

बाजारवाद, पूँजीवाद, भूमंडलीकरण और उदारीकरण की चकाचौंध के कारण पंचसितारा होटल, रिज़ार्ट आदि बनाने के लिए अनेक चट्टानों को डाइनामाइट से तोड़-फोड़कर समतल किया जा रहा है। पर्वतों, चट्टानों की नैसर्गिक सुंदरता को धीरे-धीरे खत्म किया जा रहा है, पहाड़ों पर अब बड़ी मात्रा में कंक्रीट के जंगल दिखाई देने लगे हैं। विस्फोट के द्वारा उड़ाई जा रहीं चट्टानों पर यह व्यंग्यात्मक कविता द्रष्टव्य है–

चट्टानें उड़ रही हैं
बारूद के धुएँ और धमाकों के साथ
चट्टानों के कानों में भी उड़ती-उड़ती
पड़ी तो थी अपने उड़ाये जाने की बात
वे बड़ी खुश थीं/ उन्हें लगता था
उन्हें उड़ाने के लिए वे लोग
पंख लेकर आएँगे। (चट्टानें)[7]

कवि देहावसान के समय जिस वृक्ष को बचाने की इच्छा जता रहे हैं, उस वृक्ष के हरे-भरे पन व उसके फलने-फूलने का प्रबंध भी वह करना चाहते हैं। एक तरफ लालच में अंधा मनुष्य प्रकृतिक प्रदूषण की चिंता से दूर होकर जिस डाली पर बैठा है, उसी डाली को काटने पर उतारू है, तो दूसरी तरफ कवि नरेश सक्सेना जीवन के बाद भी उसका संरक्षण व संवर्द्धन चाहते हैं, प्रकृति के प्रति समर्पण ऐसी भावना अन्यत्र दुर्लभ है–

उस वक्त मेरे साथ जरूर रहना बच्चो/ जब मैं आखिरी बार फलों-फूलों/ और हरियाली की तरफ लौट रहा होऊँ/ मेरी देह की अग्नि से/ गर्म हो जाएगी आसपास की हवा..
..जब कभी फलों की मिठास तुम तक पहुँचेंगी/ हरियाली भली लगेगी/ या हवाओं को बदला हुआ महसूस करोगे/ तो तुम पहचान लोगे/ कहोगे अरे! पापा!

नरेश सक्सेना की कविता में समाज, विज्ञान, तकनीक व प्रकृति का अद्‌भुत सामंजस्य दिखाई पड़ता है, जो 'गिरना' कविता में अपने उत्कृष्ट वेग पर पहुँच गया है। इस लंबी कविता में पिछले कुछ वर्षों में हुए मानवीय पतन के चिंतन की वानगी है। गिरना कविता की ओर इंगित करते हुए उमेश चौहान लिखते हैं कि 'पतन की प्रवृत्ति के ऐतिहासिक एवं समसामयिक पहलुओं का विश्लेषण करती यह कविता मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती है। मानवता का यह पतन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों, राजनीतिक परिवर्तनों, आर्थिक संसाधनों व शक्तियाँ जुटाने के मार्ग में आ रहे परिवर्तनों से जुड़ा है। यह पतन की व्याप्ति की ओर देखती है। यह प्राकृतिक बिंबों के सहारे इस पतन के दोषकारी परिणामों से बचने का रास्ता तलाशती है।'[8] इस कविता में पर्यावरणीय क्षति से उत्पन्न हुई की चिंता भी दृष्टिगोचर होती है। प्राकृतिक कारकों का इतना क्षय हो चुका है कि हमें ऋतु आगमन-परिवर्तन का भास ही नहीं होता है, आने वाली पीढ़ियाँ क्या समझेंगी वसंत, शीत, शरद आदि ऋतुओं को? इसी परिप्रेक्ष्य में मानवीय मर्यादा और नैतिक आचरण से गिरने वाले लोगों से कवि का आह्‌वान है कि गिरना है तो गिरो, परंतु उसमें भी सृजनता का बल होना चाहिए,

संरक्षण और पोषण का तत्त्व होना चाहिए–

गिरो पतझर की पहली पत्ती की तरह
एक कोंपल के लिए जगह ख़ाली करते हुए
गाते हुए ऋतुओं का गीत
'कि जहाँ पत्तियाँ नहीं झरतीं
वहाँ वसंत नहीं आता'[9]

आण्विक हथियारों का निर्माण विश्व की विभिन्न संप्रभु शक्तियाँ कर रही हैं, निर्माण की प्रक्रिया में इनका परीक्षण भी आवश्यक होता है। जिस क्षेत्र में यह परीक्षण किया जाता है, वहाँ के वातावरण को भयंकर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता है। इनका प्रयोग यदि युद्ध में किया गया तो क्या परिणाम सामने आएँगे, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। हिरोशिमा व नागासाकी पर हुए परमाणु हमले ने पूरी दुनिया को हिलाकर रख दिया था और आज सत्तर वर्षों बाद भी इस हमले का प्रभाव वहाँ के वातावरण में मौजूद है। सत्तर वर्षों के अंतराल में तो परमाणु के आधुनिकतम संस्करण मानव तैयार कर चुका है, इनके प्रयोग के बाद तो पृथ्वी पर जीवन की संभावना भी कवि को नहीं लगती–

हम तो होंगे नहीं
पता नहीं पृथ्वी पर जीवन भी होगा या नहीं
शायद आणविक राख से सनी
ईंटें ही कहेंगी कथा
और ईंटें ही सुनेंगी। (ईंटें-2)[10]

मानव-समाज को सुव्यवस्थित जीवन-निर्वाह के लिए जहाँ साफ-सुथरे और स्वच्छ वातावरण, साफ पानी, शुद्ध वायु, हरी-भरी वन्यसंपदा तथा प्रदूषणरहित स्थान की आवश्यकता होती है, वहीं एक स्वच्छ सामाजिक वातावरण के लिए सकारात्मक दृष्टिकोण, रचनात्मक प्रवृत्ति, मानवतावादी विचार, अच्छी सोच तथा मनुष्य के सद्भावनापूर्ण आचरण की भी आवश्यकता होती है। लेकिन आज भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करना ही मानव का अंतिम उद्देश्य रह गया है, जिसे वह किसी भी प्रकार से प्राप्त करना चहता है। गरीब-अमीर की खाई दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग आधुनिकीकरण के हजार दावों के बाद आज भी भूखा सोता है, जिसके सर पर छत नहीं है, पहनने के लिए कपड़े नहीं है, जिनका जीवन चिथड़ों के सहारे चल रहा है। ऐसी परिस्थितियों में रोजी-रोटी के लिए संघर्षरत मजदूरवर्ग से जुड़ी वेदना तथा हाशिए पर खड़े आदमी की चिंता कवि नरेश सक्सेना की कविता में यथास्थान उभरकर सामने आई है–

बिजली के खंभों से नहीं आती बिजली/ बिजली घरों से भी नहीं आती वह
बहुत दूर कोयला खदानों के नीम अँधेरे में
कोयला खनते मजदूरों के सीने से निकलती है
जो अक्सर खून की उल्टियाँ करते/ हाँफते हुए

या धसकी हुई सुरंग में जिंदा दफ्न होकर/ मरते हैं।

गरीब परिवारों के बाल-बच्चे इलाज व दवा के अभाव में साधारण रोगों से भी मर जाते हैं। यह सभ्य समाज का कुरूप चेहरा है। ऐसे गरीब, बेसहारा परिवार के बच्चे पढ़ नहीं पाते, उनमें बाल स्वभावयुक्त चंचलता लुप्त हो जाती है, खेलना इनके भाग्य में ही नहीं है। बच्चों को उनका स्वाभाविक हक दिलाने के लिए समाज, सरकार, विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए गए प्रयासों का परिणाम वैसा नहीं रहा जैसा कि होना चाहिए था। ये बच्चे मजदूरी करने को विवश हैं। ऐसे बच्चों की संवेदना को कवि ने 'अच्छे बच्चे' कविता के माध्यम से प्रकट किया है–

कुछ बच्चे बहुत अच्छे होते हैं
वे गेंद और गुब्बारे नहीं माँगते
मिठाई नहीं माँगते ज़िद नहीं करते

इतने अच्छे बच्चों की तलाश में रहते हैं हम
और मिलते ही
उन्हें ले आते हैं घर/ अक्सर
तीस रुपये महीने और खाने पर।[11]

भूख इस समय की सबसे भीषण त्रासदियों में से एक है। भूखा आदमी अन्न के दाने के लिए कितना तड़पता होगा, इसका एहसास वही कर सकता है, जिसने इन परिस्थितियों को झेला हो, करीब से देखा हो। कवि नरेश सक्सेना कैसे इन लोगों के आंतरिक अहसास से जुड़ गए? कैसे उनकी भूख की तड़प का अनुमान लगा गए? ये वे ही जानते हैं–

भूख से बेहोश होते आदमी की चेतना में
शब्द नहीं/ अन्न के दाने होते होंगे
अन्न का स्वाद होता होगा
अन्न की खुशबू होती होगी। (भाषा से बाहर)[12]

क्षणिक स्वाद और मनोरंजन के लालच ने मनुष्य के अहसास को इतना नीचे गिरा दिया कि उसे अब दूसरों के दर्द, तकलीफों से काई मतलब नहीं रह गया है। इस स्वाद पर नियंत्रण के अभाव में मनुष्य पशुता की ओर अग्रसर होता जा रहा है। दया का भाव उसके हृदय से तिरोहित हो गया। बड़ी-बड़ी दावतों में मांसाहारी व्यंजन परोसे जा रहे हैं, बड़े-बड़े होटलों के रेस्टोरेंट में अलग-अलग मांसों की अलग-अलग कीमतें वसूल की जा रही हैं, दुर्भाग्य से इनमें प्रवासी पक्षी भी हैं और वे पक्षी भी शामिल हैं, जो विलुप्ती की कगार पर खड़े है। कवि के हृदय में इन पक्षियों की हत्या का दर्द 'प्रवासी पक्षी' नामक कविता में उभरकर सामने आया–

भयानक हिमपात और कोहरे में डूब चुके हैं/ उनके अहसास
इन दिनों उनके रेस्त्राओं में प्रदर्शित हैं/ मेहमान चिड़ियों की सुंदर तसवीरें
जिन पर रीझे हुए ग्राहकों की/ लार ग्रंथियाँ सक्रिय हो उठी हैं
भाव तय हो चुके हैं/ उनके सीने, टाँगों और गर्दन के।[13]

वर्तमान समाज में सांप्रदायिकता महामारी के रूप में फैल चुकी है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना क्षीण हो चुकी है। धार्मिक उन्माद के समाचार प्रतिदिन आ रहे हैं। धार्मिक विद्वेष फैलानेवाले लोग अपना हित साधने में लगे हैं। लोग बिना सोचे-समझे उनके चंगुल में फँसते जा रहे हैं। सांप्रदायिकता की आग में सब-कुछ नष्ट करने पर तुले लोग परिणाम की आशंका से बेखबर अपने कुकृत्यों को अंजाम देने में लगे हैं। कवि नरेश सक्सेना ने गुजरात दंगों पर पर्याप्त अभिव्यक्ति दी है। इन दंगों ने मानवता को कुचलने की सारी हदें पार कर दी थीं। वहाँ के भयावह हालात को कवि ने 'गुजरात-1' कविता की पहली पंक्ति में ही स्पष्ट कर दिया है, 'लाशों से भरे दृश्य हैं, धुएँ से भरी हवाएँ'।[14] सांप्रदायिक सद्भावना की पक्षधरता उनकी कविता में पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होती है–

सुबह उठकर देखा तो आकाश
लाल, पीले, सिंदूरी और गेरुए रंगों से रंग गया था
मजा आ गया 'आकाश हिंदू हो गया है'
पड़ोसी ने चिल्लाकर कहा
'अभी तो और मजा आएगा' मैंने कहा
बारिश आने दीजिए
सारी धरती मुसलमान हो जाएगी।[15]

आदमी का दोहरा चरित्र, दुमुँहापन समाज के लिए अत्यंत घातक होता है, इससे व्यक्ति की पहचान होना मुश्किल हो जाती है। नैतिक पतन को प्राप्त ऐसे लोग सामाजिक मान-मर्यादाओं को कुचलकर रख देते हैं। कौन हमारे ऊपर बहेलिये की तरह ताक लगाए बैठा है, इसका पता ही नहीं चलता। सगे संबंधी भी इन कारणों से शक के दायरे में रहते हैं। आदमी की करनी और कथनी में जमीन-आसमान का अंतर आ जाता है। शब्दों के सहारे ही व्यक्ति काम चला लेना चाहता है, करना कुछ भी नहीं चाहता। 'भाषा से बाहर' कविता में कवि ने ऐसी विकसित सभ्यता को रौंद दिया है, जिसकी कथनी और करनी में फेर है–

बेहतर हो/ कुछ दिनों के लिए हम लौट चलें
उस समय में/ जब मनुष्य के पास भाषा नहीं थी
और हर बात/ कहके नहीं, करके दिखानी होती थी।[16]

मानवीय मूल्यों के ह्रास का प्रमुख कारण धन और पूँजी के प्रति मानव का आकर्षण है, संबंध और रिश्तों का आधार ही जब धन हो जाय तो सामाजिक विकृति को रोक पाना संभव नहीं है। धन के लालच में मनुष्य भ्रष्टाचार की खाई में गिरता चला जा रहा है। कवि की कामना है कि अपने गिरे हुए चरित्र में मनुष्य मानवता का कुछ अंश तो बचा ले, जिससे आशा की कुछ किरण शेष रह सकें–

चीजों के गिरने के नियम होते हैं! मनुष्यों के गिरने के
कोई नियम नहीं होते।
लेकिन चीज़ें कुछ भी तय नहीं कर सकतीं

अपने गिरने के बारे में
मनुष्य कर सकते हैं।[17]

कवि गिरने के नकारात्मक स्वरूप को सकारात्मक दिशा प्रदान करना चाहता है, जिससे समाज को, बंधुत्व की भावना को, वसुधैव कुटुंबकम् की अवधारणा को, पारस्परिक प्रेम को बल मिल सके और सद्भावना का नया अध्याय लिखा जा सके, आम जनमानस के दुख को साझा किया जा सके, बच्चों के मन में नई चेतना, नई उमंग का संचार किया जा सके–

गिरो प्यासे हलक में एक घूँट जल की तरह
रीते पात्र में पानी की तरह गिरो
उसे भरे जाने के संगीत से भरते हुए
गिरो आँसू की एक बूँद की तरह
किसी के दुख में
गेंद की तरह गिरो/ खेलते बच्चों के बीच[18]

वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में नारी भोग की वस्तु होकर रह गई है। कामकाजी महिलाएँ हों अथवा घरेलू, सभी अनेक प्रकार से शोषण का शिकार हो रही हैं। विरोध के सामर्थ्य के अभाव में वे अंदर ही अंदर घुटने को मजबूर हैं और ये घुटन उन्हें आत्महत्या जैसे कृत्यों की तरफ उन्मुख कर रही है। स्त्री की इस शोचनीय दशा को संदर्भित कर डॉ॰ सूरज पालीवाल लिखते हैं कि, 'परिवार की जरूरतों को पूरा करने निकली स्त्री के सामने एक ऐसा विश्वसमाज है, जो उसके स्त्री होने को उसकी कमजोरी मानता है, जो केवल चीजों को उपयोग करना चाहता है, जो खाओ, पीयो और ऐश करो के सिद्धांत को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर चुका है, जिसके लिए नैतिक और अनैतिक शब्द बेमानी हो चुके हैं।'[19] छेड़छाड़, हिंसा, बलात्कार जैसी परिस्थितियाँ स्त्री के अंतस में प्रतिशोध की ज्वाला धधका देती हैं, जो दिनोंदिन बढ़ती चली जाती है। कोमलता, निर्मलता, प्रांजलता जिसके आचरण और स्वभाव में प्रकृतिस्थ है, उसके अंदर भरी ज्वाला किसी दावाग्नि से कम नहीं–

चम्बल में पानी नहीं खून बहता है/ चंबल में मछलियाँ नहीं लाशें तैरती हैं
चंबल प्रतिशोध की नदी है/ और वह कौनसी लड़की है
जो प्रतिशोध और खून से भरी नहीं है/ और जिसमें लाशें नहीं तैरतीं
फिर भी शारदा, सई, क्षिप्रा, कलिंदी तो लड़कियों के नाम हैं
चंबल नहीं है किसी लड़की का नाम।[20]

जातिवाद, सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, पूँजीवाद, बाजारवाद और राजनीतिक कारणों से उत्पन्न हो रहे द्वेष-क्लेष, हिंसा, असहिष्णुता, प्रतिशोध, आतंक जैसी प्रवृत्तियाँ मानवीयता को झकझोर रही हैं, इसकी परिणति क्या होगी यह कोई नहीं जानता। सामाजिक विघटन की यह व्यथा वैश्विक है। दुनिया के हर कोने से विघटन के स्वर सुनाई देने लगे हैं। समाज की सबसे छोटी इकाई 'परिवार' में भी विघटन की स्थिति है। जीविका कमाने के एकमात्र उद्देश्य के कारण आदमी यांत्रिक भूमिका में जी रहा है। नरेश सक्सेना की कविता इस यांत्रिक जीवन से छुटकारा

दिलाने की कविता है, व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने की कविता है, नफ़रत की खाई पाटने की कविता है, भविष्य को सँवारने की कविता है, प्रकृति के साथ सामंजस्य और प्रेम स्थापित करने की कविता है और अंततः मानवीय संवेदना की कविता है।

संदर्भ

1. रेवांत, संपादकः कौशलकिशोर, जनवरी-दिसंबर 2014 पृ॰ 10
2. नरेश सक्सेना, कवि ने कहा, पृ॰ 71
3. नरेश सक्सेना, सुनो चारुशीला, पृ॰ 58
4. वही, पृ॰ 38
5. वही, पृ॰ 14
6. नरेश सक्सेना, कवि ने कहा, पृ॰ 38
7. वही, पृ॰ 51
8. रेवांत, संपादकः कौशलकिशोर, जनवरी दिसंबर 2014 पृ॰ 55
9. नरेश सक्सेना, सुनो चारुशीला, पृ॰ 23
10. वही, पृ॰ 42
11. नरेश सक्सेना, कवि ने कहा, पृ॰ 97
12. नरेश सक्सेना, सुनो चारुशीला, पृ॰ 64
13. वही, पृ॰ 65
14. वही, पृ॰ 67
15. नरेश सक्सेना, कवि ने कहा, पृ॰ 18
16. नरेश सक्सेना, सुनो चारुशीला, पृ॰ 64
17. वही, पृ॰ 21
18. वही, पृ॰ 23
19. सूरज पालीवाल, हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, पृ॰ 21
20. रेवांत, संपादकः कौशलकिशोर, जनवरी दिसंबर 2014 पृ॰ 40

हिंदी विभाग
स॰ भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा॰, रुद्रपुर
(कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल)
मो॰ 08057913000
ईमेलः surenderkumarjain@rediffmail.com

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में रामायणकालीन आख्यान एवं समाज

प्रो॰ धर्मेन्द्रकुमार द्विवेदी
असि॰ प्रो॰ संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय, पुँवारका, सहारनपुर

गंभीर अंतश्चेता आदिकवि वाल्मीकि के असामान्य व्यक्तित्व का पल्लवन-पुष्पण 'रामायण' विश्वसाहित्य में भारत की चिरंतन भक्ति-भावना, ज्ञान-भावना, आदर्श भावना, लोकभावना, मैत्री-भावना, आचार-भावना को एक साथ प्रदर्शित करनेवाला पूजनीय ग्रंथ है। भारतीय मनीषा इस अकांड अमृतफल का रसास्वादन कर स्वयं को गौरवान्वित समझता है तथा सहृदय इसकी रसभरित शैली एवं कथानक का अवलंबन कर अपनी विद्याबुद्धि को जाँचते-परखते रहते हैं। इसी क्रम में कतिपय आख्यान, साहित्य रचित हो जाते हैं। रामायण के विषय में लिखने-कहने को कई सारी बातें हैं, परंतु संप्रति हम उस काल के आख्यानों, तदनंतर पात्रों/चरित्रों के माध्यम से समाज को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने का प्रयास करते हैं।

अतिपुरातनकाल में सामूहिक नृत्य-गीतादि के द्वारा धार्मिक उत्सवों का आयोजन होता था, जो सुदीर्घ परंपरा में आख्यानों के रूप में स्मरणीय है। ऋग्वैदिक यम-यमी (10/11), पुरुरवा-उर्वशी (10/15) आदि संवाद-सूक्त निरुक्तकार यास्क की दृष्टि में आख्यान ही हैं।[1] मैक्समूलर, लेवी तथा हर्टेल ने इन संवाद-सूक्तों को नाटक कहा है।[2] विण्टरनित्स जहाँ इन्हें प्राचीनतम गाथा कहते हैं, वहीं महाभारतकार आख्यान, उपाख्यान, कथा, आख्यायिका, पुराण एवं इतिहास—सभी को समानतः प्राचीन कहानी मानते हैं।[3] अतएव इस प्रसंग में रामकथा पर विचार अपेक्षित है। डॉ॰ वेबर का इस संबंध में विचार है कि बौद्धों के जातक साहित्य में दशरथजातक प्रसिद्ध है, जहाँ वर्णित रामकथा को महर्षि वाल्मीकि ने प्रेरक के रूप में ग्रहण किया।[4] वैसे एक बात तो है कि इसमें पालि-भाषा में रूपांतरित उत्तरकांड का श्लोक संपूर्णतः मिलता है। एक विचार श्री दिनेशचंद्र सेन का भी है, जिन्होंने रामायण के पूर्वभाग को दशरथजातक से एवं उत्तर-भाग को रावण-संबद्ध आख्यान से प्रभावित कहा है। एक का प्रचलन उत्तर भारत में तथा दूसरे का दक्षिण भारत में था।[5] फिर डॉ॰ याकोबी का मानना है कि दंडकारण्य एवं रावणवध-संबंधी घटनाओं का संबंध वेद-वर्णित देवकथाओं से है।[6] बात चाहे जो भी हो, यह निस्संकोच कहा जाएगा कि महामुनि वाल्मीकि ही रामायण के प्रणयनकर्त्ता हैं। हाँ, रामकथा की सुदीर्घ परंपरा को बनाए रखने का श्रेय सूतवंश को भी है। राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह दिनकर का विचार देखें—

'रामकथा-संबंधी आख्यान काव्यों की वास्तविक रचना वैदिककाल के बाद, इक्ष्वाकुवंश के सूतों ने आरंभ की। इन्हीं आख्यानों के आधार पर वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की। इस रामायण में अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड तक की कथावस्तु का वर्णन था और उसमें सिर्फ

 ISSN 0975-735X

बारह हजार श्लोक थे।'[7]

उक्त तथ्य का समर्थन करते हुए फादर कामिल बुल्के विचार करते हैं कि राम, रावण तथा हनुमान के विषय में पहले स्वतंत्र आख्यान प्रचलित थे, जिनके संयोग से रामायण की रचना हुई।[8]

रामायण में अनेक आख्यानों का अस्तित्व है, जैसे-ऋष्यशृंग की कथा, विश्वामित्र की कथा, गंगावतरण की कथा। ऋष्यशृंग की कथा पद्मपुराण तथा महाभारत में समान रूप से है। डॉ॰ लूडर्स ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि महाभारत की कथा की अपेक्षा पद्मपुराण की कथा प्राचीन है। इस क्रम में 'हरिवंशपुराण' का उल्लेख आवश्यक है, जहाँ कहा गया है कि रामकथा पुराणविदों (चारणों, सूतों या कुशीलवों) द्वारा गायी जाती रही है-

गाथा अप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
रामे निबद्धतत्त्वार्था माहात्मयं तस्य धीमतः।[9]

महाभारत में भी रामोपाख्यान की चर्चा है।[10] वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, उपनिषद्-ग्रंथों में राम-संबद्ध उल्लेख हैं।[11] सच तो यह है कि रामायण की कथा की लोकप्रसिद्धि पर संदेह की कोई बात नहीं है। फिर इस वैश्विक ग्रन्थ को आकारित करने हेतु अगर प्रेरणा कहीं से प्राप्त हुई हो, तो भी आदिकवि वाल्मीकि की चिंतनधारा के हम ऋणी हैं, क्योंकि उनकी इस चिंतनशीलता के कारण ही रामायण भारतवर्ष की विचारधारा बन गई है तथा आज तक विश्वसमुदाय को अनुप्राणित कर रही है। श्री वाचस्पति गैरोला जी कहते हैं–

'रामायण एक दिन अपने अकेले निर्माता की कृतिमात्र रही होगी किंतु आज वह कोटि-कोटि नर-नारियों के घर-घर की वस्तु है।'[12]

आदिकाव्य की उपाधि से विभूषित सार्वदैशिक एवं सार्वकालिक 'रामायण' काव्य-सौंदर्य, शाश्वत् संदेश, उदात्त भावनाओं से अलंकृत होने के कारण सृजनकाल से अब तक समग्र विश्व हेतु प्रेरणास्रोत है। प्रसादमयी शैली में निर्मित इस महाकाव्य में निहित आदर्श एवं संस्कृति को देखकर हम उस काल के समाज का दर्शन, चिंतन-मनन कर सकते हैं। रामायण के पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण करने पर उस काल की सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत का पता चल सकता है। वस्तुतः रामराज्य में आदर्शवाद, नैतिकता, सिद्धांत आदि पर ज्यादा बल दिया जाता था। रामायणकालीन सामाजिक संस्कृति का प्राणतत्त्व धर्म था। प्रतिक्षण धर्म की धारा प्रवाहित होती दिखती है। धर्म के अभाव में समाज विखंडित हो जाता है, पथभ्रष्ट हो जाता है, लोग अनाचारी हो जाते हैं, संस्कृति अरक्षणीय हो जाती है, इसे आज अनुभव किया जा रहा है। हम धर्म-कर्म के स्वरूप को रामायण के पात्रों में देख-समझ सकते हैं, जैसे–पितृधर्म, पत्नीधर्म एवं भ्रातृधर्म के रक्षार्थ श्रीराम, सीता, लक्ष्मण चौदह वर्षों तक सुख-साधनोपभोग का परित्याग कर वन में विचरण करते रहे। हृदय से आह तक नहीं निकली। माता कैकेयी को श्रीराम ने कोसा तक नहीं। भ्रातृप्रेमवश लक्ष्मण ने जरूर मातृनिंदा की और इसी माता के प्रेम में वशीभूत होकर भी धर्म का परित्याग श्रीराम ने नहीं किया। वे लक्ष्मण से अनन्य प्रेम करते थे। अतएव हनुमान जी से संजीवनी मँगायी। मेघनाद की शक्ति से शक्तिहीन होकर मूर्च्छित पड़े लक्ष्मण को देखकर श्रीराम का हृदयोद्गार देखें–

देशे-देशे कलत्राणि, देशे-देशे च बान्धवाः।

न तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः।

यह सही है कि श्रीराम विचलित थे लेकिन धर्म के प्रति उनकी आस्था कैसी थी, इसकी अभिव्यक्ति किसी सहृदय ने निम्नलिखित प्रकार से की है–

जिस धर्म पै सारा राज्य गया, श्री पितृदेव का मरण हुआ।
जिस धर्म पै भाई भरत छुटा, सीता प्यारी का हरण हुआ।
बस उसी धर्म पर भाई भी, यदि मर जाए तो मर जाए।
आवाज यही अपनी होगी, हाँ, धर्म नहीं जाने पाए।

श्रीराम प्रोक्त धर्मवाक्य वास्तव में धर्म है, परंतु क्या वर्तमान में धर्म-कर्म का वही स्वरूप रह गया है अथवा धर्म के नाम पर आडंबर, स्वार्थ-साधना की जा रही है? यहाँ माता कैकेयी का स्मरण भी उचित है। यह बात तो है कि श्रीराम दशरथनंदन से मर्यादा पुरुषोत्तम कहीं न कहीं, देवी कैकेयी के कारण बने, लेकिन इस माता की सत्ता के प्रति लोलुपता निश्चयमेव निंदनीय मानी जाती रहेगी। अगर हम यह सोचें कि अपनी संतान के कारण ऐसा कर्म करना अनुचित नहीं तो हम अपनी आने वाली पीढ़ी को कुमार्ग पर स्थापित करने का कुप्रयत्न कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त सती-साध्वी सीता का अलौकिक पातिव्रत एवं लक्ष्मणप्यारी उर्मिला के अति कष्टप्रद चौदहवर्षीय घरेलू वनवास को क्या विस्मृत किया जा सकता है? लक्ष्मण ने उर्मिला को अश्रुपातन करने से मना किया, जिसका निर्वहन उन्होंने किया। आज भी ऐसी नारी मिल सकती है, परंतु रामराज्य में इनकी संख्या बहुतायत में होगी, ऐसा माना जा सकता है। सीताजी परपुरुषस्पर्श के रूप में केसरीनंदन हनुमान का प्रस्ताव ठुकराती हैं, रावण की निंदा करती हुई उसके स्पर्श को एकदम से नकारती हैं–

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्।

आज लोग दूसरे को पापी कहने में संकोच नहीं करते, लेकिन जनकनंदिनी का विचार देखें जब वे कहती है कि श्रेष्ठ पुरुष पापी/पुण्यात्मा/हत्यारा कोई भी हो, सब पर दया करें, क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी अपराध नहीं होता हो। इस तरह की सोच वाले कितने लोग हैं हमारे समाज में आज, सब निंदापुराण में अहर्निश लगे हैं। और तो और, चरित्रशुद्धि निमित्त अग्निपरीक्षा की घटना को संप्रति यद्यपि इस दृष्टि से देखा जाता है कि यह श्रीराम का अनुचित न्याय था तथापि सत्य यह है कि लोकरक्षार्थ जनकदुलारी को अग्निदेवता के संरक्षण में रखा गया था, जिसकी जानकारी श्रीराम, सीता के अतिरिक्त किसी को नहीं थी। श्रीराम के हृदय में अग्निशुद्धि के प्रति कोई संशय नहीं था, परंतु उनके कुछ कटु वचनों पर जानकी ने प्रतिकारपूर्वक नारी जगत् के रक्षार्थ विशिष्ट बात कही–

'आपने मेरे निर्बल अंश को देखा, सबल अंश को नहीं। नारी का दुर्बल अंश उसका स्त्रीत्व है तथा सबल अंश पत्नीव्रत। क्रोधाभिभूत आपका यह लांछन सामान्य मानव-सदृश है। आपने लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया कि आपने मेरा पाणिग्रहण किया है और शास्त्रानुसार मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ। मेरी भक्ति एवं पाणिग्रहण को पीछे रखना तथा स्त्रीत्व को आगे करना कहाँ तक सही है–'

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।

 ISSN 0975-735X

लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्।
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्।[13]

अग्निशुद्धि फिर भी हुआ। आज भी कहीं न कहीं नारी सीता-सदृश धैर्य धारण कर अपने सम्मान को विस्मृत कर रही है। इसके बाद लोकापवाद की बात आ गई। पतिधर्म पर राजधर्म हावी हो गया। रामदुलारी परित्यक्ता हो गई, मातृभूमि के आँचल में जाकर बैठ गई। सच तो यह है कि इस स्थिति में कोई भी स्त्री सीतावत् ही आचरण (पृथ्वीदेवी की शरणागति/आत्महत्या) करती है। यद्यपि अग्निशुद्धि की ही तरह सीता-परित्याग भी समाज की दृष्टि में अनुचित ही है, परंतु प्रजा का हितरक्षक राजा मन ही मन भावविह्वल होकर यह भी सोचता है कि नेत्रों के लिए अमृतवत् सीता का वियोग मेरे लिए असहनीय है–

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयोः।
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।[14]

अपवाद की विद्यमानता सर्वत्र है, रामराज्य में भी ऐसा था, लेकिन आज तो अपवाद सामान्य होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगत है। रामायणकालीन समाज में आदर्शवाद का प्रतिशत अधिक था और वर्तमानकालीन समाज में आदर्शवाद की न्यूनता अधिक है। आज सैकड़ों उपकार पर एक अपकार भारी पड़ता है तथा उस समय एक उपकार समस्त अपकारों को विस्मृत करनेवाला होता था–

कथचिंदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मावत्तया।

रामायणकालीन प्रजा की सोच समुन्नत थी। हम देखते हैं कि प्रजा राज्यकार्यों में सहायक हुआ करती थी तथा आवश्यकतानुसार अन्याय के विरुद्ध स्वर उठाती थी। श्रीराम, सीता, लक्ष्मण के वनगमनकाल में समस्त अयोध्यावासी एक स्वर से कह उठे–'धिक् त्वां दशरथम्'

आशय यह है कि रामराज्य का सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन सरल, सहज, स्वार्थहीन, परोपकारी, उदात्त दिखता है। वस्तुतः महायुगी वाल्मीकि ने अपने ग्रंथ में उस समय के पारिवारिक संबंधों और सामाजिक जीवन, क्रियाकलापों का इतनी बारीकी से विश्लेषण किया है कि वैसा कदाचित् ही किसी दूसरे ग्रंथकार ने किया हो।[15] स्वार्थपरायणता अगर उस समय थी तो अपवादस्वरूप। कहा तो यह भी जाना चाहिए कि कैकेयी को वर देनेवाले राजा दशरथ स्वार्थी नहीं थे। वे सोच भी नहीं सकते थे कि उनके वरदान का परिणाम इतना भयंकर होगा। इसका स्पष्ट संकेत यह है कि व्यक्ति को भावुक होकर निर्णय लेना नहीं चाहिए। पुनः श्रीराम को देखें, आदिकवि के काव्य-मंदिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठापित श्रीराम की यह सच्चरित्रता ही थी कि उन्होंने सीता- परित्याग के अनंतर दूसरा विवाह नहीं किया। अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्णमूर्ति को गृहिणी का स्थान दिया–

हिरण्यमयी सीताप्रतिकृतिर्गृहिणीकृता।[16]

वर्तमान में लोग श्रीराम के स्थान पर स्वयं को रखकर परिकल्पना कर सकते हैं कि क्या

वे रामवत् कार्य कर सकते थे? क्या निम्नलिखित कथन केवल राम के लिए ही हो सकता है–

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।[17]

कहना यह है कि समाज श्रीराम-चरित्र से मानवीयता के समस्त गुणों को ग्रहण कर सकता है तथा अपना, अपने समाज, राष्ट्र का सर्वतोमुखी उत्कर्ष कर सकता है। देखा जाय तो पाश्चात्य सभ्यता की आँधी में हमारी संस्कृति, सभ्यता, चरित्र, सोच-समझ कहीं न कहीं लुप्त होती दिख रही है। इसे बचाना होगा और इसके लिए राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, उर्मिला आदि के आचार-विचार को ग्रहण करना होगा, चूँकि वहाँ धर्म कर्म के रूप में विद्यमान था। डॉ॰ रमाशंकर त्रिपाठी ने सच ही कहा है कि राम के रूप में मानो धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया है। अत: वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नियंत्रित हैं, मर्यादित हैं। सत्यत: श्रीराम यदि विग्रहवान् धर्म हैं तो सीता साक्षात् विग्रहवती दया हैं।[18] वस्तुत: आदिकवि वाल्मीकि का अखंड-अमृतफल रामायण, उसमें सन्निहित आख्यान लोकप्रसिद्ध आज भी है, आवश्यकता है केवल सच्चे अनुकरणकर्ताओं की। कवींद्र रवींद्र कोई गलत थोड़े कह गए थे।

'रामायण का प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यंत विस्तृत रूप में वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में भाई-भाई में, स्वामी-स्त्री में, जो धर्मबंधन है, जो प्रीति एवं भक्ति का संबंध है, उसको रामायण ने इतना महान् बना दिया है कि वह सहज ही महाकाव्य के लिए उपयुक्त हो गया है।'[19]

निष्कर्षत: ज्ञानमना महामनस्वी आदिकवि वाल्मीकिविरचित रामायण ने जिस तरह से उत्तरवर्ती ग्रंथों (उत्तररामचरितम्, महावीरचरितम्, रघुवंशम्, चंपूरामायण, जानकीहरण, प्रतिमानाटक, उन्मत्तराघव, रामलिंगामृत, कुंदमाला, दूतांगद आदि) को प्रेरणा प्रदान की, उसी तरह से यह वर्तमान एवं भविष्य में भी जगत् को आलोकित करती रहेगी, विश्वबंधुत्वादि की शिक्षा देती रहेगी। हाँ, यह अवश्य ध्यातव्य है कि इसके लिए हमें स्वयं को सर्वप्रथम प्रकाशित करना होगा। रामायण की महिमा का भला क्या कहना–

यावत् स्थास्यन्ति गिरय: सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यन्ति।

संदर्भ

1. महर्षि यास्क, निरुक्त (11/25)
2. विण्टरनित्स, ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम-1, पृ॰ 102
3. हॉपकिन्स, दि ग्रेट एपिक ऑफ इंडिया, पृ॰ 50
4. डॉ॰ वेबर, ऑन दि रामायण, पृ॰ 11
5. डॉ॰ दिनेशचंद्र जैन, दि बंगाली रामायण, पृ॰ 03-59
6. एच॰ याकोबी, दस रामायण, पृ॰ 86
7. श्री रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ॰ 69
8. फादर कामिल बुल्के, रामकथा, 64
9. हरिवंशपुराण, 41/149
10. महाभारत, वनपर्व, 173/6

11. ऋग्वेद, 10/93/14, ऐतरेय ब्राह्मण-7/27/34, शतपथ ब्राह्मण-4/6/1/7, जैमिनीय उपनिशद् ब्राह्मण, 37/32/4/9/1/1
12. श्री वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ॰ 168
13. रामायण, युद्धकांड, 116/14-16
14. उत्तररामचरितम्, 1/38
15. श्री वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ॰ 169
16. उत्तररामचरितम् (महालक्ष्मी प्रकाशन), पृ॰ 146
17. वही, 2/7
18. श्री रमाशंकर त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास, द्वितीय अध्याय, पृ॰ 29-30
19. श्री वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ॰ 169

भारत में महिला अधिकार : सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य

डॉ० दानवीर सिंह

भारत एवं विश्व के अनेक भागों में महिला-जागृति, महिला-स्वतंत्रता एवं महिला-समानता का आंदोलन नवगति एवं दिशा में व्यक्त हो रहा है। महिलाओं ने अस्मिता के प्रति पहले से अधिक सतर्कता व्यक्त की है। प्रकृति ने पुरुष एवं महिला को शारीरिक एवं भावनात्मक दृष्टि से चाहे भिन्न अस्मिता प्रदान की हो, लेकिन इस आधार पर समानता एवं क्षमता, न्याय एवं अवसर-संबंधी पूर्वाग्रहों का आरोपण निरर्थक है। महिला को ममता, करुणा, नैतिकता, धैर्य, क्षमा एवं दया की प्रतिमूर्ति बनाकर इतिहास में सदैव छला गया है। महिला की प्रतिद्वंद्विता पुरुष से नहीं, वरन् उन सभी आरोपित विकृतियों से है, जो महिलावर्ग को हेय-स्तर पर स्थापित करने में ही विजय-कामना की परिपूर्ति मानी जाती है। युगांतरों से उत्थान-पतन की तरंगों में झूलती हुई भारतीय महिलाओं को कभी तो सम्मान का स्वर्णिम कगार मिला तो कभी पतन की मझधार। प्राचीन नारी को सामने रखकर बीसवीं शताब्दी के महिला-अधिकारों की तुलना करते हैं तो एक बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। इस परिवर्तन का विकास धीरे-धीरे विविध कालों में हुआ।

महिलाओं का सर्वाधिक सशक्त रूप हमें वैदिककाल में देखने को मिलता है। इस युग में महिलाओं की स्थिति बहुत सम्मानजनक थी। स्त्री का यह युग भारत के इतिहास का 'स्वर्णिमयुग' कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य के प्रमाण बताते हैं कि अदिति, गार्गी, मैत्रेयी और अपाला जैसी असाधारण प्रतिभासंपन्न महिलाओं की शिक्षा का स्तर उस युग के शिक्षित पुरुषों के समक्ष था। वैदिककाल में महिलाओं को पुरुषों के समान ही राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकार प्राप्त थे। 'मनुस्मृति' में भी लिखा है कि–

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्रफला क्रिया:।

अर्थात् जिस कुल में नारी की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुरवचनादि) द्वारा आदर-सत्कार नहीं होता, उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं।[1] यह श्लोक महिला-गरिमा एवं सम्मान को ही पुष्ट करता है।

वैदिकयुग का दृष्टिकोण, जो महिलाओं के प्रति दिव्य कल्पनाओं तथा पवित्र भावनाओं से पूर्ण था, अब पूर्णतया बदल चुका था। मध्यकाल महिलाओं की दृष्टि से कलंक का युग माना जाता है। समय के साथ-साथ पुरुषों का व्यवहार उसके प्रति बदलता चला गया। पुरुष-प्रधान समाज ने उसके पूजनीय स्थान को भोग एवं विलासिता की वस्तु में बदल दिया। महिलाओं के

 ISSN 0975-735X

मानसिक, आत्मिक तथा साहित्यिक प्रगति के मार्ग पर अनेक प्रतिबंध लगा दिए गए। 'स्त्री शूद्रो नाधीयताम्' जैसे वाक्य रचकर उसे शूद्र की कोटि में रख दिया। स्त्री को विवाह-संस्कार के अतिरिक्त और सभी संस्कारों से वंचित कर दिया गया।[2] धीरे-धीरे बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दाप्रथा, बहु-पत्नी विवाह तथा अविद्या का अंधकार इत्यादि समस्याएँ महिला-समाज के लिए अभिशाप बनने लगीं। धीरे-धीरे उसकी मजबूत स्थिति क्षीण होने लगी। महिला का समाज में क्या स्थान हो, उसकी समाज में क्या भूमिका हो—इसका निर्धारक पुरुष बन गया।

ब्रिटिशकाल में सामाजिक एवं धर्मसुधार आंदोलन का प्रारंभ हुआ। 9वीं सदी में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद एवं एनीबेसेन्ट इत्यादि समाज-सुधारकों ने महिलाओं के सुधार-हेतु महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। राजा राममोहन राय ने सन् 1828 ई॰ में 'ब्रह्मसमाज की स्थापना करके 'सती-प्रथा' जैसी निर्मम कुरीति को बंद करवाया। नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, अंतर्जातीय विवाह आदि को प्रोत्साहन दिया तथा पर्दा-प्रथा को खत्म करने पर जोर दिया।[3] डॉ॰ ए॰आर॰ देसाई ने लिखा है—'औरतों के आंदोलनों में इस बात पर जोर दिया गया कि पर्दा का सामाजिक प्रगति एवं शरीर और मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सामाजिक जीवन के उत्थान में अगर औरतों को अपनी भूमिका अदा करनी है तो पर्दा-प्रथा को खत्म होना चाहिए।'[4] स्वामी दयानंद सरस्वती ने सन् 1875 ई॰ में 'आर्यसमाज' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के द्वारा बाल-विवाह का विरोध किया तथा विधवाओं के पुनर्विवाह हेतु अथक् प्रयास किए। गांधीजी ने भी बाल-विवाह, दहेज, पर्दा एवं सती-प्रथा का विरोध किया। वे विधवा पुनः विवाह के पक्षधर थे।[5] समाज की वे सभी कुरीतियाँ, जो महिलाओं को पीड़ित एवं शोषित करती थीं, उनका विरोध समाज-सुधारकों द्वारा बड़ी प्रखरता से किया गया।

ब्रिटिश सरकार ने भी 1856 ई॰ में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1972 में सिविल मैरिज अधिनियम, 1874 में विवाहित पत्नी संपत्ति अधिनियम, 1929 में बाल-विवाह अवरोधक अधिनियम, 1935 में भारतीय सरकार अधिनियम आदि सामाजिक विधानों द्वारा भारतीय स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाने के प्रयास किए। परिणामस्वरूप स्त्रियों को आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक असमर्थताओं की पीड़ा से मुक्ति मिली।[6] इस समय तक पूरे देश के लोगों ने महिलाओं से संबंधित विषयों पर एक नए दृष्टिकोण के साथ विचार करना प्रारंभ कर दिया था, जो अपने आपमें एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भी महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। भारत में स्त्रियों के समान अधिकार की बात भारत के संविधान के साथ आई। भारत के संविधान की भूमिका में ही बिना किसी लिंग-भेद के समानता की उसके संपूर्ण रूप से व्याख्या की गई है।[7] बाल-विवाह के विनाशकारी प्रभावों को रोकने के लिए 1929 में बाल-विवाह अवरोधक अधिनियम पास किया गया, जिसमें विवाह की आयु लड़कों के लिए 18 वर्ष तथा लड़कियों के लिए 14 वर्ष थी। 1978 में इस नियम को संशोधित करके लड़कों की आयु 21 वर्ष तथा लड़कियों की आयु 18 वर्ष कर दी गई, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषकर निम्न जातियों में बाल-विवाह का अभी भी अधिक प्रचलन है। राजस्थान तो विशेष रूप से बाल-विवाह के लिए प्रसिद्ध है। यह अशिक्षा और अज्ञानता के कारण ही हो रहा है। इस समस्या के समाधान के लिए सामाजिक जागरूकता और शिक्षा आवश्यक है। 1961 में दहेज-प्रथा निषेध अधिनियम पास

किया गया था, जिसमें 1981 व 1986 में संशोधन भी किया गया। इस अधिनियम के अनुसार विवाह के समय दहेज, पैसे या वस्तुओं के रूप में लेना या देना दंडनीय अपराध है। यह अधिनियम अपनी प्रयोजन-सिद्धि में बड़ी बुरी तरह असफल रहा है। दहेज-प्रथा के कारण विवाह के पश्चात् अनेक महिलाओं को अपनी जान से हाथ धोने पड़ते हैं तो अधिकतर को कष्टप्रद जीवन व्यतीत करना पड़ता है। शिक्षा बढ़ने के साथ ही दहेज की माँग भी बढ़ती जा रही है। इस समस्या से मुक्ति के लिए लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी अपने दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है तभी इस प्रथा से मुक्ति संभव है। इसी प्रकार 1955 के 'हिंदु विवाह अधिनियम' और 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' ने महिलाओं को धार्मिक व जातीय प्रतिबंधों से दूर विवाह करने की आज्ञा व आवश्यकता पड़ने पर विवाह-बंधन को तोड़ने की अनुमति दी है। अब बहुपत्नी विवाह गैरकानूनी है तथा विधवा पुनर्विवाह को भी कानूनी मान्यता प्राप्त है। 1956 के उत्तराधिकार अधिनियम द्वारा हिंदु महिलाओं को संपत्ति-संबंधी अधिकार प्राप्त हो गए हैं। व्यवहार में इस कानून से भी महिलाओं को अधिक लाभ नहीं मिला है।[8]

महिला-शिक्षा की विशेष आवश्यकताओं को देखते हुए 1958 में 'स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना की गई थी। इस परिषद ने भी समय-समय पर अपने अमूल्य सुझावों से इस कार्य को आगे बढ़ाया। फलस्वरूप नारी-शिक्षा के लिए बजट में अतिरिक्त व्यवस्था हुई। गाँव-गाँव में स्कूल खुले। जनमत जगाने के लिए एक बड़ी धनराशि खर्च की गई, पर नारी-शिक्षा का आँकड़ा 8 से 24 तक बढ़ने के अलावा अन्य कोई ठोस परिणाम दिखाई नहीं दिया।"[9] 1975 का 'महिला वर्ष' अपने हकों और हितों की पहचान के लिए एक शुरुआत के रूप में हमें मिला था। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से सरकारों पर दबाव आया था कि वे नारी-कल्याण व नारी-विकास के लिए योजनाएँ बनाएँ। वे बनीं और बन रही हैं, जिनका लाभ हमें लेना चाहिए कि राष्ट्र-विकास में हमारी भागीदारी बढ़े और हमारा खोया हुआ सम्मान हमें वापस मिले। किंतु इन सबके बदले हुआ क्या?[10] अभी महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं आया है। तलाक-परित्याग, अपहरण, बलात्कार, हत्याओं और आत्महत्याओं में बेतहाशा वृद्धि ही हुई है।

आई॰ पी॰ सी॰ 1860 की धारा 375(6) के अनुसार बलात्कारी को कम-से-कम सात वर्ष, जो आजीवन कारावास में भी बदल सकती है, सजा का प्रावधान है। परंतु वहीं दूसरी ओर भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 155 (4) में यह प्रावधान है कि अगर किसी पुरुष पर बलात्कार या बलात्कार का आरोप है तो उसे यह सिद्ध करना चाहिए कि पीड़ित आमतौर पर अनैतिक चरित्र की महिला है। इस प्रावधान में पुरुष को यह अधिकार मिल जाता है कि वह जब चाहे बलात्कार करने के बाद महिला का अनैतिक चरित्र प्रमाणित कर बच जाए। बलात्कार की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं और बलात्कारी को संदेह का लाभ देकर बरी कर दिया जाता है। न्यायाधीश के निर्णय के अंतिम शब्द-'मैं जानता हूँ अभियुक्त ने अपराध किया है, किंतु साक्ष्यों के अभाव में मैं अभियुक्त को संदेह का लाभ देते हुए मुक्त कर रहा हूँ।'[11] वर्तमान समय में यौन-अपराधों में कमी नहीं आई है। इस तरह की अनेक घटनाएँ समाचारपत्रों, टीवी आदि पर छायी रहती हैं। पुरुषों की विकृत मानसिकता के कारण ही महिलाएँ शारीरिक एवं मानसिक शोषण की शिकार होती हैं। डॉ॰ राधाकुमार लिखते हैं-'भारत में बलात्कार की घटनाओं की संख्या और आवर्तता चौंकाने वाली है। सच्चाई यह है कि बलात्कार की घटनाओं की असली संख्या कहीं

अधिक है, परंतु इनके बारे में रिपोर्ट दर्ज न कराए जाने के कारण उनका पता नहीं चल पाता। अगर पंजीकृत घटनाओं की खोजबीन की जाए तो उनकी संख्या बलात्कार की पंजीकृत घटनाओं की संख्या से बहुत अधिक निकलेगी।'[12] समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976, महिलाओं तथा पुरुषों को समान कार्य या समान स्वरूप कार्य के लिए समान पारिश्रमिक और रोजगार के मामले में महिलाओं के साथ किसी प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध व्यवस्था करता है। अधिनियम के उपबंध सभी प्रकार के रोजगारों पर लागू किए गए हैं, परंतु महिलाओं को नौकरी करने के दौरान असुरक्षा की भावना, समान कार्य के लिए समान वेतन न मिलना भी एक वास्तविक सच्चाई है।

1992 ई में एक 'राष्ट्रीय महिला आयोग' का गठन किया गया, जिससे महिलाओं पर सामाजिक व आर्थिक रूप से हो रहे अन्याय व अत्याचारों से लड़ा जा सके, लेकिन अशिक्षा व अज्ञानता के कारण अधिकांश महिलाएँ ऐसी संस्थाओं से लाभन्वित नहीं हो पाती हैं। भारतीय दंड संहिता की धारा 313, 314, 315 के अनुसार यदि कोई भी व्यक्ति कन्या भ्रूण-हत्या का जघन्य अपराध करता है तो उसे गैरजमानती जेल की सजा हो सकती है। इसमें महिला की सहमति नहीं है तो यह सजा आजीवन कारावास और यदि महिला की सहमति है तो दस साल की सजा तक होगी। यहीं कानून उस डॉक्टर पर भी लागू होता है, जो कन्या भ्रूण-हत्या का काम करेगा। अधिकांश महिलाएँ पारिवारिक दबाव में आकर ऐसा कार्य करने को मजबूर हो जाती हैं। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि–

भ्रूण गर्भ में चीखता, कोई न सुने पुकार।
कैसा होगा सोचिए, बेटी बिन संसार।[13]

हमारे देश में कुछ ऐसे राज्य भी हैं, जहाँ पर 2001 से 2007 तक एक भी कन्या भ्रूण-हत्या नहीं हुई है–मेघालय, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, लेकिन बाकी राज्य इस कमी को पूरा करते हुए दिखाई देते हैं। अब तक बीस करोड़ कन्या भ्रूण-हत्याएँ हो चुकी हैं।'[14] 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में पुरुषों की संख्या 62,37, 24,248 तथा महिलाओं की संख्या 58,64,69,174 हैं। इनमें महिलाओं और पुरुषों का अनुपात 940/1000 है। अतः आप स्वयं ही अनुमान लगा लीजिए कि आने वाले समय में क्या हालात होने वाले हैं।

इसके अतिरिक्त घरेलू हिंसा कानून 2006 के आधार पर न्याय व समानता को स्थापित करने का सरकारी प्रयास किया गया तथा विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भी महिलाओं को विशेष रूप से लाभान्वित करने के उद्देश्य से अनेक प्रावधान किए गए हैं। 73 वें व 74वें संविधान-संशोधन के साथ नारी को पुरुष से कहीं ज्यादा अधिकार, शिक्षा, रोजगार एवं राजनीति के क्षेत्र में प्रदान किए गए हैं। हमारी सरकार नारी-उत्थान के लिए जागरूक है। आज भी भारतीय नारी सभी क्षेत्रों में, चाहे व प्रशासनिक क्षेत्र हो अथवा निजी क्षेत्र अपनी अग्रणी भूमिका निभा रही है। यूनिसेफ द्वारा भी नारी-उत्थान तथा उसकी सुरक्षा के लिए अनेक कार्यक्रम प्रतिपादित किए जा रहे हैं।[15] परंतु अनेक योजनाओं व कानूनों के क्रियान्वयन होने पर भी महिलाओं एवं पुरुषों की स्थिति में अंतर मिट नहीं सका है। आज भी महिलाएँ पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा, कन्या-भ्रूण हत्या, विधवाओं की हीनदशा, कन्या-पक्ष को हीन समझा जाना, अनमेल विवाह, यौन-शोषण, घरेलू-हिंसा, आदि समस्याओं से ग्रस्त दिखाई दे रही है। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से महिलाएँ आत्मनिर्भर अवश्य होने लगी है, किंतु प्रत्येक क्षेत्र में अभी स्वाधीन नहीं हो सकी है।

वर्तमान स्थितियों में अपेक्षित सुधार नहीं हो सका। यद्यपि स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए जा रहे हैं, फिर भी समुचित सुधार की आवश्यकता है। इतनी जागरूकता होने के स्वरूप महिलाओं की सुरक्षा में कमी आई है। आँकड़ों के अनुसार देश-भर में पिछले 5-7 वर्षों में महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों में 40 से 45 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों का मुख्य कारण है, समाज में विकसित हो रही उपभोक्तावादी संस्कृति और संचार-माध्यमों, विशेषकर दूरदर्शन फिल्मों तथा विदेशी चैनलों द्वारा दिखाई जा रही नारी की विकृत छवि।[16] महिलाओं का उत्पीड़न रोकने के लिए संविधान में अनेक संवैधानिक एवं कानूनी व्यवस्थाएँ कराई गई हैं, लेकिन उनके उचित क्रियान्वयन का अभाव है। संवैधानिक प्रयास महिलाओं का समग्र विकास व सुरक्षा का साधन नहीं है। उनकी सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि महिलाओं की अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन। आज की महिला को दासी न बनकर सहचरी बनना है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज जो महिलाओं की स्थिति है, वह और प्राचीन भारत की महिलाओं में पर्याप्त अंतर है। संविधान में 'समानता' शब्द का समावेश अवश्य हो गया है, किंतु व्यवहार में अभी समानता नहीं आई है। महिलाओं के हित के लिए जो कानून अभी तक बने हैं, वे व्यावहारिक नहीं हैं। यथा व्यस्क मताधिकार के अंतर्गत महिला और पुरुष दोनों को ही मत देने का समान अधिकार प्राप्त है, किंतु आज भी अधिकांश परिवारों मे पुरुष ही तय करता है कि मत किसे दिया जाए।

वर्तमान कानूनों का अगर हम बारीकी से परीक्षण करें तो यह स्पष्ट हो हो जाता है कि अभी भी अनेक कानून पुरुषों के पक्ष में हैं। संपत्ति के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन निर्णय द्वारा महिलाओं को अपने पिता की संपत्ति में हिस्सा के निर्णय सराहनीय है, लेकिन परिवार के सदस्य बहुत कम मामलों में महिलाओं के साथ न्याय कर पाते हैं। इसी प्रकार 73वें संशोधन मे महिलाओं को पंचायती राज संस्थाओं तथा नगरपालिकाओं एवं नगर निगमों में 33 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त है। सैद्धांतिक रूप से देखा जाए तो पंचायतीराज व्यवस्था अपने उद्देश्यों में सफल दिखाई देती है, परंतु व्यावहारिक स्थिति इसके विपरीत है। आज देश की महिलाओं का एक बहुत विशाल प्रतिशत अपने वैधानिक अधिकारों को जानता ही नहीं। अधिकारों का जब ज्ञान ही नहीं तो उससे लाभ लेने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। राजनीति से हटकर समाज की मन:स्थिति का विकास करना आज की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही स्थितियों में बहुत अंतर है। आज भी महिलाएँ विकास और सामाजिक दृष्टि से पुरुषों से पीछे हैं। भारतीय महिलाओं को कानूनी तौर पर पूर्ण समानता प्राप्त है, लेकिन वास्तविकता में उन्हें भेदभाव का सामना करना पड़ता है। इतनी शक्ति और अधिकारों के मिलने के पश्चात् भी महिलाएँ क्यों पिछड़ रही हैं? उनकी स्थिति क्यों दयनीय है? यह सोचनीय पहलू है। दुनिया में ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ महिलाओं को हाशिए पर रखकर आर्थिक विकास संभव हुआ हो, राष्ट्र विकास के महान कार्य में महिलाओं की भूमिका तथा योगदान को पूरी तरह सही परिप्रेक्ष्य में रखकर ही राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए नीतियों का क्रियान्वयन, राजनीतिक इच्छाशक्ति, महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता तथा सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव की आवश्यकता है तभी राष्ट्र की प्रगति एवं महिलाओं का समग्र विकास संभव है।

 ISSN 0975-735X

संदर्भ

1. मनुस्मृति, मन्वर्थ मुक्तावली, श्लोक-56, पृ॰ 11
2. डॉ॰ उमा शुक्ल, भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान, संस्करण, 2007, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 14
3. डॉ॰ दर्शन पांडेय, नारी-अस्मिता की परख, संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2004, नई दिल्ली, पृ॰ 20
4. डॉ॰ ए॰ आर॰ देसाई, अनुवाद, प्रयागदत्त त्रिपाठी, भारतीय राष्ट्रवाद की साामाजिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 220
5. एम॰ के॰ गांधी, विमेन्स रोल इन सोसाइटी, अहमदाबाद, नवजीवन, 1959, पृ॰ 328
6. डॉ॰ सरस्वती मिश्रा, भारतीय स्त्रियों की प्रस्थिति, प्रथम संस्करण 1996, शारदा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 19-20
7. डॉ॰ सुधारानी श्रीवास्तव, भारत में महिलाओं की वैधानिक स्थिति, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ॰ 5
8. डॉ॰ सरस्वती मिश्रा, भारतीय स्त्रियों की प्रस्थिति, 1996 शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ॰ 22
9. श्रीमती आशारानी व्होरा, भारतीय नारी: अस्मिता और अधिकार, 1986, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 35
10. श्रीमती आशारानी व्होरा, नारी-विद्रोह के भारतीय मंच, 1991, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 153
11. कुमुद शर्मा, स्त्री-घोष, पृ॰ 21
12. डॉ॰ राधाकुमार, स्त्री-संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 261
13. महीपाल आर्य, जाट ज्योति, 2009, पृ॰ 31
14. यूनिसेफ रिपोर्ट फ्राम इंटरनेट
15. प्रज्ञा शर्मा, महिला विकास एवं सशक्तीकरण, पोइंटर पब्लिशर्स, जयपुर 2001, पृ॰ 49
16. डॉ॰ सुधारानी श्रीवास्तव, महिलाओं के प्रति अपराध, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, 1999, नई दिल्ली, पृ॰ 58

एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
एस॰डी॰ (पी॰जी॰) कॉलेज
मुजफ्फरनगर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ भीमराव अंबेडकर जीवन-संघर्ष एवं चुनौतीं

कु॰ रीनारानी (शोधछात्रा)
डॉ॰ रेनू उपाध्याय (शोध निदेशिका)
हिंदी विभाग, कन्या महाविद्यालय
आर्य समाज भूड़, बरेली

डॉ॰ भीमराव अंबेडकर दलितों के मसीहा, समाज-उद्धारकर्ता, संविधान-निर्माता, भारतीय समाज से अछूत-प्रथा को नष्ट करने वाले, मानवतावादी, बुद्धिवादी व्यक्ति थे। उन्होंने प्रत्येक चुनौती का बड़ी निडरता के साथ सामना किया और जीवन-भर न्याय की लड़ाई के लिए संघर्ष करते रहे। उनके संघर्ष का ही यह फल है कि आज दलितवर्ग समाज में अपने अधिकारों के साथ सम्मान से सिर उठाकर जी रहा है। 'नवभारत के संविधान के प्रधान शिल्पी, जनतंत्र के संरक्षक और मानवी स्वतंत्रता के हिमायती डॉ॰ बाबासाहब अंबेडकर का जीवनचरित आधुनिक भारत के इतिहास का एक महान पर्व है, मानवी स्वतंत्रता के इतिहास का वह एक स्वर्णिम पृष्ठ है। खुद की बुद्धि पर निर्भर रहकर प्रकांड तपश्चर्या, अलौकिक धैर्य और निरंतर उद्यमशीलता से जो उच्च ध्येय के लिए निरंतर संघर्ष करता है, वह धूलि से धुरंधरों की मालिका में जाकर कैसा विराजमान होता है, यह सिद्ध करने वाला उदाहरण आधुनिक भारत में साधारणजन को अन्यत्र मिलना मुश्किल है।'[1] इस सुप्रसिद्ध मनीषी का जन्म 14 अप्रैल 1891 को मध्यप्रदेश के जिला रत्नागिरी गाँव मऊ में हुआ था। 'डॉ॰ अंबेडकर का पुश्तैनी गाँव अंबावाडे है, जो महाराष्ट्र के रत्नागिरी जनपद के एक छोटे से कस्बे मांडनगाड से पाँच मील दूर स्थित दापोली के निकट पड़ता है।'[2] इनके पिता का नाम रामजी सकपाल था, जो कि सेना में सूबेदार थे। माता जी का नाम भीमाबाई था। वह मुरबाडकर परिवार से थीं। उनके चौदह बच्चे हुए, जिनमें से सात की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई। उनके सबसे बड़ बेटे का नाम बलराम, दूसरे बेटे का नाम आनंदराव और सबसे छोटे का नाम भीम था। दो बेटियों के नाम मंजुला और तुलसी थे।'[3] अंबेडकर जी अपने माता-पिता की चौदहवीं संतान थे। रामजी सकपाल की नौकरी की अवधि पंद्रह वर्ष थी। वह सेवानिवृत्त हो चुके थे। बच्चों का पालन-पोषण और घर की जिम्मेदारी की चिंता उन्हें सताने लगी। वह मऊ से सतारा आ गए। सतारा में उन्हें एक कंपनी में चौकीदार का काम मिल गया। सतारा में आए हुए उन्हें कुछ दिन बीते थे कि भीमराव के भाई बहनों को यह बोध हो गया कि वह अछूत हैं, उन्हें समाज में अन्य लोगों की तरह जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं है। आस-पास के लोग उनके साथ घृणित व्यवहार किया करते थे। भीमराव इन सबसे अनभिज्ञ थे। वह बाकी बच्चों की तरह सबके साथ खेलना चाहते थे। घुलना-मिलना चाहते थे। भीमराव जैसे ही दौड़कर बच्चों के निकट जाते, 'तो कोई बड़ा बच्चा झट से आगे आता और कहता, 'नहीं तू हमारे साथ नहीं खेल सकता। तू अछूत है, जा यहाँ से भाग।'[4] वह इस सबका मतलब नहीं समझ पाते थे। घर जाकर अपनी माँ को सारी बातें बताते और रोने लगते। माँ उन्हें बड़े प्रेम से

 ISSN 0975-735X

समझातीं और कहतीं कोई बात नहीं बेटा, तुम अपनी बहनों और भाइयों के साथ खेल लिया करो। जैसे-जैसे भीमराव बड़े हो रहे थे, उनकी माँ को उनकी पढ़ाई की चिंता होने लगी। वह चाहती थीं कि भीमराव का किसी अच्छे स्कूल में नाम लिख जाए, लेकिन नीची जाति के होने के कारण किसी भी स्कूल में दाखिला नहीं हो पा रहा था। एक दिन एक स्कूल के हैडमास्टर भीमराव के दाखिले के लिए तैयार हो गए, लेकिन उन्होंने रामजीराव के सामने एक शर्त रख दी, 'आपके लड़के को दाखिल तो कर लूँगा, परंतु उसे बड़ी जात के बच्चों के साथ नहीं बिठा सकता। उसे अपनी टाट-पट्टी साथ लानी पड़ेगी और कक्षा की दहलीज में जहाँ बच्चे अपने जूते उतारते हैं, वहाँ बैठकर पढ़ना पड़ेगा।'[5]

रामजीराव ने अपनी पत्नी को शर्त के विषय में बताया तो वह अत्यंत दुखी हुई। फिर भी उन्होंने हाँ कर दी। इनके गाँव का नाम चूँकि अंबावाडे था, इसलिए स्कूल में इनका पूरा नाम भीमराव अंबेडकर लिखा गया। उसी स्कूल में इनके बड़े भाई आनंदराव का नाम भी लिखवा दिया। भीमराव स्कूल जाने लगे। शर्त के अनुसार प्रतिदिन वह अपने साथ टाट-पट्टी लाते, जूतों के स्थान पर बैठते और दूसरी तरफ मुँह करके भोजन करते। भीमराव पढ़ने में बहुत होशियार थे। देखते-ही-देखते वह कक्षा एक से पाँचवीं में आ गए थे। माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। महार जाति के होने के कारण कोई वैद्य या हकीम घर नहीं आता था। उचित इलाज न होने के अभाव में एक दिन उनकी माँ (भीमाबाई) की मृत्यु हो गई। इनकी दोनों बहनें मंजुला और तुलसी का विवाह हो चुका था। माँ के गुजर जाने पर भीमराव बहुत दुखी हुए और कई दिन तक खाना नहीं खाया। पिता ने कहा, 'बेटा, तुम ऐसे ही रोते रहोगे तो तुम्हारी माँ के सपनों का क्या होगा? तुम नहीं जानते, तुम्हारी माँ की आँखों में तुम्हें बड़ा आदमी बनाने के कितने सपने थे। बेटा, उठो, खाना खाओ और पढ़ाई में लग जाओ। वे सपने तुम्हें पूरे करने हैं।'[6]

अगले ही दिन भीमराव अपने नियमित समय पर स्कूल जाने लगे अैर मन लगाकर पढ़ने लगे। एक ब्राह्मण जाति के हैडमास्टर भीमराव से बहुत खुश थे। उनका नाम आंबेडकर था। 'वहाँ आंबेडकर नाम के उनके अध्यापक ने उनका नाम 'आंबावाडकर' से बदलकर अंबेडकर कर दिया।'[7] तबसे इनका नाम भीमराव अंबेडकर हो गया। पाँचवीं पास करने के बाद रामजीराव बच्चों को लेकर बंबई चले गए। बंबई के एलफिन्स्टन हाईस्कूल में उनका नाम लिखवा दिया गया। एक दिन अध्यापक ने कक्षा में भूगोल पढ़ाते हुए भीमराव से कहा, 'भीम भारत का नक्शा बनाकर दिखाओ।' भीम चॉक लेकर जैसे ही आगे बढ़े, इतने में एक बच्चे ने भीमराव को रोक दिया और कहने लगा, 'सर ब्लैक बोर्ड के पीछे हम लोग अपना खाना रखते हैं। भीम महार है, इसने हमारा खाना छू लिया तो वह अपवित्र हो जाएगा और हमें फेंकना पड़ेगा।' 'ओह' अध्यापक के मुँह से केवल एक शब्द निकला।[8] सभी बच्चों ने अपना खाना वहाँ से हटा दिया। फिर भीमराव ने भारत का नक्शा बनाया। यह उनके जीवन के अपमान की एक और घटना थी, जिसे उन्होंने चुपचाप सहन कर लिया।

सन् 1906 में भीमराव अंबेडकर का विवाह भीखू वालंगकर की पुत्री रमाबाई से कर दिया गया। सन् 1907 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। जब भीमराव हाईस्कूल में थे तभी उनकी मित्रता एक ईसाई लड़के कैलुस्कर से हो गई, जिसे उन्होंने अपनी परिस्थिति से अवगत करया। कैलुस्कर ने उन्हें महाराजा गायकवाड से मिलने का सुझाव दिया। भीमराव बड़ौदा नरेश

से जाकर मिले और उनके सामने अपनी सारी स्थिति को रख दिया। भीमराव की बातों को सुनकर महाराज उनकी मदद करने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने 25 रुपए महीना छात्रवृत्ति की सुविधा उपलब्ध करा दी। वह मन लगाकर पढ़ने लगे। सन् 1912 में रमाबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका नाम यशवंत रखा गया। सन् 1913 में भीमराव ने मुंबई युनिवर्सिटी से स्नातक की परीक्षा पास की। आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण वह पुनः बड़ौदा नरेश के पास अपनी नौकरी की प्रार्थना लेकर गए और सेना में लेफ्टीनेंट के पद पर उन्हें नौकरी मिल गई। नौकरी करते हुए कुछ ही समय हुआ था कि पिता रामजीराव सकपाल का स्वास्थ्य बिगड़ने के संबंध में उन्हें एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसे पढ़कर भीमराव अत्यंत विचलित हो गए। छुट्टी न मिलने के कारण नौकरी से इस्तीफा देकर चले गए। उचित इलाज कराने पर भी रामजीराव स्वस्थ न हो सके और सन् 1913 में एक दिन वह इस संसार से चले गए। भीमराव के ऊपर तो जैसे दुखों का पहाड़ ही टूट पड़ा। माँ गुजर गई, पिता भी नहीं रहे, नौकरी चली गई, लेकिन उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। वह महाराज गायवाड की मदद से अपनी आगे की पढ़ाई पूरी करने के लिए अपनी पत्नी और पुत्र को छोड़कर अमेरिका चले गए। उस समय उनकी पत्नी भीमाबाई संतान को जन्म देने वाली थीं। कुछ समय बाद उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गंगाधर रखा गया। वह बचपन में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। यह सुनकर अंबेडकर जी को गहरा आघात पहुँचा। सन् 1915 में उन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र विषय में एम॰ए॰ की शिक्षा पूर्ण की। कोलंबिया विश्वविद्यालय से ही उन्होंने अपना शोधकार्य 'द नेशनल डिवाइडेंड ऑफ इंडिया : ए हिस्टोरिकल एंड इनेलिटिकल स्टडी' नामक विषय पर पूर्ण किया। पी॰एच॰डी॰ का कार्य पूर्ण करने के उपरांत जून 1916 में लंदन सकूल ऑफ इकोनॉमिक्स एंड पोलिटिकल साइंस में अध्ययन करने के लिए लंदन चले गए।'[9] सन् 1917 में कोलंबिया यूनिवर्सिटी से उन्हें पी॰एच॰डी॰ की उपाधि प्राप्त हुई। लंदन में अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हुए महाराज के आदेश पर उन्हें भारत वापिस आना पड़ा और दुर्भाग्यवश उनकी छात्रवृत्ति भी बंद हो गई।

भीमराव अंबेडकर जब भारत लौटे, तो उनके आदर-सत्कार के लिए वहाँ कोई उपस्थित नहीं था। महाराज के आदेश के बावजूद कोई उनके सम्मान के लिए उपस्थित नहीं हुआ। उन्हें किसी भी रेस्तरा या धर्मशाला में रहने की जगह नहीं मिली। अंत में बहुत प्रयास करने के उपरांत उन्हें एक पारसी धर्मशाला में आसरा मिल गया, लेकिन वहाँ उन्हें अपना नाम बदलकर रहना पड़ा। महाराज के सेना सचिव के पद पर उन्हें नियुक्त किया गया था। वह अपना कार्य पूरी लगन व ईमानदारी के साथ कर रहे थे, लेकिन वहाँ के अधिकारियों को यह गवारा नहीं था कि एक नीची जाति का आदमी इतने बड़े पद पर आसीन हो। वह उनके साथ अभद्रता से पेश आते। यहाँ तक कि चपरासी भी उनके साथ अनुचित व्यवहार करता, 'नौकर वर्ग से कोई भी उन्हें सहयोग नहीं देता था। वे कागज और संचिकाए अंबेडकर के पास दूर से ही पटक देते थे। अंबेडकर के बाहर निकलते समय वे चटाई तक लपेट देते थे। उन्हें कार्यालय में लिपिकों के लिए रखा पीने का पानी तक नहीं मिलता था। इस अमानुषी और असह्य परिस्थिति के कारण अंबेडकर सार्वजनिक ग्रंथालय में जाकर पढ़ते थे।'[10] इतना अपमान सहने के बावजूद वह अपने कर्त्तव्य को पूरी ईमानदारी व निष्ठा से निभाते। एक दिन ऐसी घटना घटी, जिसने अंबेडकर को अंदर तक झकझोर दिया, 'अंबेडकर जिस पारसी आवासगृह में रहते थे, वहाँ एक दिन क्रोध से

आगबबूला पारसियों का झुंड हाथ में लाठियाँ लेकर आ पहुँचा। उस संतप्त झुंड के एक व्यक्ति ने उनका नाम पूछा, 'तुम कौन हो?' अंबेडकर ने तुरंत उत्तर दिया, 'मैं हिंदू हूँ।' उस पर उस व्यक्ति ने कहा, 'तुम कौन हो हम यह जानते हैं। तुमने हमारे समाज के वसतिगृह को भ्रष्ट किया है। तुम इसी समय यहाँ से बाहर जाओ। अंबेडकर ने अपनी सारी शक्ति इकट्ठा करके उनसे कहा, 'आठ घंटे बाद मैं यहाँ से चला जाऊँगा।'[11] काफी बहस के बाद अंबेडकर वहाँ से चले गए और निर्णय किया कि अब वह यहाँ नौकरी नहीं करेंगे। वह दीवान को अपना त्यागपत्र देकर महाराज से बिना मिले ही बंबई चले गए। बंबई में मित्र कैलुस्कर से मुलाकात हुई। कैलुस्कर की सलाह पर अंबेडकर ने सीडेनहॉम कालेज ऑफ कॉमर्स एंड इकोनॉमिक्स मुंबई में प्रोफेसर के पद के लिए आवेदन किया, चूँकि जगह खाली थी और उनकी नियुक्ति हो गई। आय-प्राप्ति का स्रोत तो बन गया, लेकिन कहीं-न-कहीं मन में एक टीस हमेशा रहती थी कि पिछड़े समाज की रूढ़िवादिता, उनकी मानसिकता में कैसे परिवर्तन लाया जाए? उसका विकास कैसे हो?

एक दिन एक ऐसी घटना घटी, जिसने उन्हें पुनः इस बात का बोध करा दिया कि वह अछूत वर्ग के ही हैं। उन्हें समाज में वह सब अधिकार प्राप्त नहीं हैं, जो सवर्णों को हैं। 'एक दिन अंबेडकर जब कक्षा से पढ़ाकर निकले तो प्यास से उनका गला सूख रहा था। वे एक क्षण को यह भूल गए कि घड़े से पानी लेने का हक दूसरों की तरह उन्हें प्राप्त नहीं है। वे झट से घड़े के पास पहुँचे और एक गिलास पानी डालकर पीने लगे। उसी समय वहाँ से एक गुजराती प्रोफेसर गुजरे। उनकी निगाह अंबेडकर पर पड़ गई। उन्हें ध्यान आया अंबेडकर तो अछूत हैं, इन्होंने घड़े से पानी ले लिया, इन्होंने घड़ा छू लिया। यह तो अनर्थ हो गया। अछूत चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो जाए, पर घड़ा तो नहीं छू सकता। वे डॉ॰ अंबेडकर की ओर झपटे और गुस्से से बोले, 'यह आपने क्या किया? क्या आप भूल गए कि आप अछूत हैं? आपने घड़ा अपवित्र कर दिया, अब इसका पानी कोई नहीं पी सकता।'[12] यह सब देखकर अंबेडकर जी आश्चर्यचकित रह गए। उन्हें अपनी आँखों व कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था कि शिक्षा के विद्वान ऐसी बातें भी कर सकते हैं। प्रिंसिपल के कहने पर चपरासी ने वह घड़ा फोड़ दिया। अंबेडकर यह देखकर सन्न रह गए। अंबेडकर जी ने उस कालेज में डेढ़ साल तक अध्यापन कार्य किया। मार्च 1920 को उन्होंने प्रोफेसर के पद से त्यागपत्र दे दिया या यूँ कहिए कि उस घटना से उन्हें जो गहरा मानसिक आघात पहुँचा था, उससे विचलित होकर वह हमेशा के लिए उस कालेज को छोड़कर चले गए।

मित्र नवल भटेना और कोल्हापुर के साहू महाराज से आर्थिक मदद प्राप्त कर वह लंदन चले गए। सितंबर 1920 में उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स एंड पोलिटिकल साइंस में अपना अध्ययन-कार्य शुरू किया और ग्रेज-इन में वकालत की शिक्षा के लिए भी जुट गए। लंदन विश्वविद्यालय से 'प्रोविन्शल डिसेट्रलाइजेशन ऑफ इंपीरियल फाइनान्स इन ब्रिटिश इंडिया' विषय लेकर 1921 के जून में वे एम॰एस॰सी॰ परीक्षा उत्तीर्ण हुए।'[13] आगे पढ़ाई जारी रखने के लिए पैसे की समस्या फिर सामने आने लगी। वह समझ नहीं पा रहे थे कि व्यवस्था कैसे होगी? कुछ संकोच भी था, फिर भी हिम्मत करके 4 सितंबर 1921 में अंबेडकर ने साहू छत्रपति से आर्थिक मदद ली और उन्हें यह आश्वासन भी दिया कि वह इसे शीघ्र से शीघ्र लौटाने का प्रयास करेंगे। सन् 1922 में उन्होंने डी॰एस॰सी॰ की डिग्री के लिए 'रुपए की समस्या उसका उद्‌भव और समाधान' विषय पर शोधप्रबंध लंदन विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया। 6 मई सन् 1922 को

साहू छत्रपति महाराज की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से अंबेडकर जी को गहरा आघात पहुँचा, क्योंकि उन्हें ऐसा लग रहा था जैसे उनके सिर से उनके संरक्षक का साया उठ गया हो। 14 अप्रैल 1923 को वह भारत आ गए। आते ही अपने शोधप्रबंध को लंदन विश्वविद्यालय में प्रेषित किया। अंबेडकर को लंदन विश्वविद्यालय ने 'डॉक्टर ऑफ साइंस' की उपाधि 1923 के अंत में प्रदान की।'[14] निरंतर प्रयास, अडिग विश्वास, लगन और मेहन के बल पर वह कामयाबी की ऊँचाई तक पहुँच गए थे। रमाबाई एक तरफ पति की अपार सफलता से प्रसन्न थीं, तो दूसरी तरफ उन्हें पति का साथ, स्नेह, प्रेम हर्षित किए जा रहा था।

रुपए की समस्या पर लिखे उनके शोधप्रबंध का संशोधित परिवर्धित संस्करण दिसंबर 1923 में इंग्लैंड के आर॰एस॰ किंग एंड संस लिमिटेड कंपनी से प्रकाशित हुआ। उन्होंने यह निर्णय किया कि वे भारत में रहकर अछूतों, दलितों व गरीबों के न्याय के लिए लड़ेंगे व उनका सहयोग करेंगे। अपनी वकालत के दम पर उन्हें सवर्णों के अत्याचार व अन्याय से मुक्ति दिलाएँगे।

अंबेडकर जी के पास पहला मुकदमा ही तीन अस्पृश्यों द्वारा ब्राह्मणों के विरुद्ध था। अस्पृश्यों द्वारा लिखित पुस्तक में ब्राह्मणों के द्वारा बनाए गए नियमों, अस्पृश्यों के प्रति अत्याचार आदि की कड़ी निंदा की गई थी। पुस्तक देखकर ब्राह्मण वर्ग आग-बबूला हो गया और उन तीनों के खिलाफ ब्राह्मणों ने मानहानि का दाव ठोक दिया। अस्पृश्यों के मुकदमे की पैरवी अंबेडकर जी ने की थी। उनके तर्कों के सामने ब्राह्मण वर्ग के वकील की दलील काम न आ सकी और 'उन्होंने साबित कर दिया, किताब में दलितों के साथ ब्राह्मणों के अत्याचारों की जो दर्द-भरी कहानी लिखी गई है, वह समाज का जीता-जागता सच है। इसे पुस्तक के रूप में देश व समाज के सामने लाकर तीनों अछूत लेखकों ने कोई अपराध नहीं किया है। अपराधी तो वे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने छुआछूत और जातिवाद का विष फैलाकर समाज को गुमराह किया है।'[15]

मुकदमा तीनों अछूतों के पक्ष में रहा। उन तीनों अछूतों को न्याय दिलाकर अंबेडकर जी ने सवर्णों को उनकी करनी का मुँहतोड़ जवाब दिया और अपने संघर्ष की पहली सफलता प्राप्त की। 20 मार्च सन् 1926 को भीमराव अंबेडकर ने एक सम्मेलन में कहा था कि 'अब समय आ गया है कि जिन्हें समाज अछूत कहता है, जिनका बात-बात पर अपमान करता है, वे सब एक हो जाएँ। तुम किसी से डरते क्यों हो, क्यों दबते हो? तुम तो देश और समाज के आधार हो, तुम्हारी मेहनत से उठाए गए अन्न से सबका पेट भरता है। मैं कहता हूँ दबना छोड़ो। अपने स्वाभिमान को इकट्ठा करो और उठकर खड़े हो जाओ, एकजुट हो जाओ। तुम सबसे बड़ी ताकत हो, परंतु हाँ, एक बात ध्यान रखो, कोई भी गलत काम न करो। मेहनत की खाओ... दृढ़ इरादा कर लो, हमें अपने-आपका बदलना है और अपने प्रति समाज का रवैया बदलना है। जो बात मुँह से निकालो वह ठोस होनी चाहिए। उसमें वजन होना चाहिए। दबी जुबानी से बोलना त्यागो। तुम्हारे साथ यदि गलत होता है, अन्याय होता है तो ऊँची आवाज में उसका विरोध करो।'[16]

अंबेडकर जी ने दलितों के उत्थान के लिए निरंतर प्रयास किए। उन्हें समाज में न्याय दिलाने की लड़ाई व सम्मानित जीवन व्यतीत करने का अधिकार के जागरूक करना, उन्हें प्रेरित करना, उनमें आत्मविश्वास पैदा करने का भरसक प्रयास किया। अंबेडकर जी ने दत्तोपंत पवार को 16 अगस्त 1926 को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने-'अब तक तीन बेटों और एक बेटी, कुल चार लाडले संतानों की अंत्येष्टि क्रिया करने का वक्त हम पर गुजरा है।'[17] का वर्णन किया था।

 ISSN 0975-735X

चार संतानों को खो देने के दुख से उन्हें अत्यंत पीड़ा पहुँची थी। धीरे-धीरे उन्होंने अपने-आपको सँभाल लिया। जून 1928 में उन्हें बंबई के सरकारी विश्वविद्यालय में विधि के प्रभारी प्राध्यापक के रूप में शिक्षणकार्य का अवसर प्राप्त हुआ। समाज के पिछड़े वर्ग की उन्नति व विकास के लिए उन्होंने जून 1928 में दो छात्रावासों की व्यवस्था कराई। विधिशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में अंबेडकर जी की नौकरी का कार्यकाल मार्च 1929 के अंत में पूरा हो गया था। 'अप्रैल 1929, चिपलून में आयोजित रत्नागिरी जल परिषद की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए निर्मंत्रित किया गया था।'[18] 12 नवंबर सन् 1930 तक द्वितीय गोलमेज सम्मेलन, 17 नवंबर से 24 दिसंबर 1932 तक तृतीय गोलमेज सम्मेलन। इन तीनों गोलमेज सम्मेलनों में अंबेडकर जी की भूमिका सक्रिय रही। उन्होंने किसान, मजदूर, अस्पृश्य वर्ग तथा पिछड़े समाज के लोगों को ध्यान में रखते हुए 10 सूत्री माँग-पत्र गांधी जी के समक्ष प्रस्तुत किया। 'माँग-पत्र में उन्होंने दलितों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र तथा जनसंख्या के अनुसार प्रांतों की विधानसभाओं तथा केंद्र सरकार में प्रतिनिधित्व की माँग की थी।'[19] उनकी इन माँगों को स्वीकृति प्राप्त हुई, जिससे गरीबों व दलितों के विकास का एक नया मार्ग बना।

अपने कर्त्तव्यों व जनहित की सेवा की व्यस्तता के कारण वह अपनी पत्नी व पुत्र के लिए समय नहीं दे पाते थे। पत्नी रमाबाई का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, 'बीमारी की लंबी अवधि में रमाबाई बहुत कमजोर हो गई थीं और थक भी गई थीं। उनके गाल पिचक गए थे, उनकी रंगत उड़ चुकी थी। डॉ॰ अंबेडकर अपनी पत्नी के कष्टों को कम करने और उनकी बीमारी का इलाज करवाने के लिए जो भी कुछ कर सकते थे, उन्होंने किया।'[20] 27 मई 1935 को उनकी पत्नी रमाबाई का देहांत हो गया। रमाबाई की मृत्यु से अंबेडकर जी को गहरा सदमा पहुँचा। वह अपनी सुध-बुध खो बैठे। कई दिनों तक उन्होंने अपने-आपको कमरे में बंद रखा और रोते रहे। वह रमाबाई से बहुत प्रेम करते थे। 'सन् 1935 से 1947 तक का 12 वर्ष का समय अंबेडकर के लिए विविध संघर्षों और चुनौतियों से भरा था। इस बीच कभी वे दलितों के संघर्ष का नेतृत्व करते, उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने का नेतृत्व करते, लेख लिखते, किताबें लिखते, देश-विदेश में आयोजित सभाओं में अपने विचार रखते।'[21] 15 अगस्त 1947 को देश आजाद हुआ। 30 अगस्त 1947 को संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में भीमराव अंबेडकर जी को चुना गया। इस समिति में सात सदस्य थे–अलादी कृष्णस्वामी अय्यर, एन॰ गोपालास्वमी अय्यर, के॰एम॰ मुंशी, सैयद मुहम्मद सादुल्ला, बी॰एल॰ मिश्रा, डी॰पी॰ खेतान और डॉ॰ अंबेडकर। इन सात सदस्यों में से बी॰एल॰ मिश्र ने त्यागपत्र दे दिया। उनकी जगह एन॰ माधव राव को लिया गया और डी॰पी॰ खेतान के स्थान पर टी॰टी॰ कृष्णमाचारी को लिया गया। इस समिति की बैठकों का कार्य 40 दिन तक चला। इन सात सदस्यों में से बहुत कम सदस्य ही बैठकों में उपस्थित रहे, लेकिन डॉ॰ अंबेडकर नियमित कड़ी मेहनत, लगन एवं निष्ठा से अपने स्वास्थ्य की चिंता किए बगैर अपने कार्य में लगे रहे। इस कार्य को पूर्ण करना उनकी जिम्मेदारी ही नहीं, बल्कि एक चुनौती भी थी। बीच-बीच में उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगता था। कार्य पूर्ण हुआ और उन्होंने संविधान का कच्चा प्रारूप सभा के अध्यक्ष को सौंप दिया।

एक दिन अचानक स्वास्थ्य ज्यादा खराब होने के कारण उनके पुत्र यशवंत राव ने उन्हें बंबई के मावलंकर अस्पताल में भर्ती करा दिया। वह मधुमेह रोग से पीड़ित थे। उसी अस्पताल में कु॰ शारदा कबीर नामक डॉक्टर कार्यरत थीं, जिससे उनका इलाज शुरू हो गया। धीरे-धीरे

सुधार भी होने लगा। अंबेडकर जी के व्यक्तित्व से डॉ॰ शारदा काफी प्रभावित थीं। वह जाति की ब्राह्मण थीं। अंबेडकर जी उनकी सेवा व देखभाल से अति प्रसन्न थे। इसी समय उन्होंने डॉ॰ शारदा से विवाह करने का निर्णय किया। 'विवाह तय होने पर डॉ॰ शारदा कबीर हवाई जहाज से नई दिल्ली पहुँचीं। 15 अप्रैल 1948 की सुबह अंबेडकर जी के दिल्ली के हार्डिज एवेन्यू निवास स्थान पर उनका अंबेडकर के साथ विवाह संपन्न हुआ।'[22] तबसे वह सविता अंबेडकर के नाम से जानी जाने लगीं। सन् 1949 में अंबेडकर जी कानून मंत्री बने। संविधान का कार्य भी चलता रहा। 2 वर्ष 11 महीने 18 दिन के निरंतर परिश्रम के पश्चात 26 नवंबर 1949 को संविधान सभा द्वारा पारित किया गया और 26 जनवरी 1950 को भारतीय संविधान लागू हो गया। 27 सितंबर सन् 1951 को अंबेडकर जी ने कानून मंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, परंतु वह रुके नहीं, उनका संघर्ष जारी रहा। 01जून 1952 को कोलंबिया यूनिवर्सिटी ने 'उन्हें डॉक्टर ऑफ लॉ की मानद उपाधि से विभूषित किया और उन्हें संविधान का निर्माता, मंत्रिमंडल तथा राज्यपरिषद (काउंसिल ऑफ स्टेट्स) का सदस्य, भारत का एक अग्रणी नागरिक, एक महान समाज सुधारक और मानव अधिकारों का एक साहसी समर्थक बताया।'[23]

12 जनवरी सन् 1953 को उन्हें हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा डी॰लिट्॰ की उपाधि से सम्मानित किया गया। मई 1955 में अंबेडकर जी के स्वास्थ्य में तेजी से गिरावट आई। वह स्वयं चलने-फिरने में अपने-आपको असमर्थ पाते। उन्हें साँस की बीमारी ने भी घेर लिया था, जिसके कारण उन्हें कभी-कभी ऑक्सीजन की आवश्यकता भी पड़ जाती थी, लेकिन अपने स्वास्थ्य की चिंता किए बगैर वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहे। दलितों के प्रति हुए अन्याय और अपमान ने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। उन्होंने स्वयं भी उस दर्द को भोगा था और उन्होंने एक दिन बौद्धधर्म स्वीकार करने का निर्णय किया। 14 अक्टूबर 1956 को अंबेडकर जी ने बौद्धधर्म में दीक्षा ली। सन् 1935 में अंबेडकर ने कहा था कि 'मैं पैदा तो हिंदूधर्म में हो गया हूँ, परंतु मैं इस धर्म में मरूँगा नहीं।' 24 वे अपनी बात पर अडिग रहे, उन्होंने हिंदूधर्म का त्याग कर बौद्धधर्म को स्वीकार करके अपने कहे हुए शब्दों को पूरा किया। जीवन के अंतिम पड़ाव पर अपनी बीमारी के अधिक बढ़ जाने के कारण उससे लड़ते जूझते थक गए थे। बीमारी ने उनके शरीर को जर्जर कर दिया था। उनकी पत्नी डॉ॰ सविता अंबेडकर, पुत्र यशवंतराव उनकी सेवा में हमेशा उपस्थित रहते थे और एक दिन 6 दिसंबर 1956 को उनका निधन हो गया।

डॉ॰ भीमराव अंबेडकर समानता के पक्षधर थे। वह समूची मानवता के विषय में, उनके हित के लिए निरंतर संघर्ष करते रहे। वह दलितों के जीवनस्तर एवं उनकी जीवन-शैली में परिवर्तन चाहते थे, उनका विकास चाहते थे। उन्हें समाज में सम्मानीय स्तर दिलाने की उन्होंने भरसक कोशिश की। समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक उन्नति के लिए उन्होंने अथक् प्रयास किए और जीवन में आई चुनौतियों को सरलता से स्वीकार करके विषम परिस्थितियों का डटकर सामना किया। डॉ॰ भीमराव अंबेडकर एक महान विभूति थे।

'विश्वभूषण अंबेडकर की आलौकिक जिंदगी से भारत में ज्ञान का एक नया तीर्थ निर्मित हुआ है। भक्तों के लिए नई प्रेरणा देने वाले एक केंद्र की निर्मिति हुई है। उस जिंदगी से एक नया देवता अवतरित हुआ है। इस मंदिरमय देश के उस देवता के मंदिर का वह अक्षय दीप विश्व के किसी भी कोने से प्रकाशमान दिखाई देगा। ...ज्ञान का एक नया विश्वविद्यालय प्राप्त हुआ

है। मेले के लिए एक नया तीर्थ निर्माण हुआ है, साथ ही वाङ्मय को एक नया मौका मिला है। अमर कृति करने वाले इसी तरह देवत्व प्राप्त करते हैं।'[25]

संदर्भ

1. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 13
2. नानकचंद रत्तू, डॉ॰ आंबेडकर : कुछ अनछुए प्रसंग, पृ॰ 17, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
3. वही, पृ॰ 18
4. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 55, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
5. वही, पृ॰ 56
6. वही, पृ॰ 58
7. नानकचंद रत्तू, डॉ॰ आंबेडकर : कुछ अनछुए प्रसंग, पृ॰ 21, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
8. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 61, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
9. वही, पृ॰ 64
10. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 34
11. वही, पृ॰ 34
12. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 68, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
13. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 34
14. वही, पृ॰ 49
15. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 68, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
16. वही, पृ॰ 72
17. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 60
18. वही, पृ॰ 127
19. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 68, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
20. नानकचंद रत्तू, डॉ॰ आंबेडकर : कुछ अनछुए प्रसंग, पृ॰ 57, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
21. एम॰पी॰ कमल, दलित संघर्ष के महानायक, पृ॰ 74-75, स्नेह साहित्य सदन, नई दिल्ली
22. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 384
23. नानकचंद रत्तू, डॉ॰ अंबेडकर : कुछ अनछुए प्रसंग, पृ॰ 25, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
24. डॉ॰ राजेंद्रमोहन भटनागर, डॉ॰ अंबेडकर : चिंतन और विचार, पृ॰ 66
25. धनंजय कीर रचित पुस्तक डॉक्टर बाबासाहेब आंबेडकर, अनुवाद : गजानन सुर्वे, डॉ॰ बाबा साहब आंबेडकर जीवन-चरित, पृ॰ 498

सुपुत्री स्व॰ श्री छोटेलाल सागर
म॰नं॰ 12, **मो॰ कटघर**
पोस्ट व थाना किला (बरेली) 243003
मो॰ 09760552261

गोपनीयता बनाम सूचना का अधिकार कानून

शिवा अग्रवाल
शोधार्थी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है तथा हमारे देश का संविधान विश्व का सबसे बड़ा लिखित संविधान। संविधान की प्रस्तावना में लिखा है 'हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई॰, मिति मार्ग शीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी को एतद द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'[1] उक्त वाक्यों में विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को स्पष्ट रूप से समाहित किया गया है, परंतु यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि कोई भी विचार या अभिव्यक्ति की पूर्णता तब तक नहीं हो सकती है जब तक कि उसके संबंध में जानकारी पूर्ण व स्पष्ट न हो। संविधान के भाग तीन में नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई है जिसके अनुच्छेद 19 (क) में अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा वाक्-स्वातंत्र्य का अधिकार नागरिकों को पहले से ही संविधान द्वारा प्राप्त है। पी॰वी॰ नरसिम्हाराव बनाम राज्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि सूचना-प्राप्ति का अधिकार एक मूल अधिकार है, जो कि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से उछला है।[2] इसी प्रकार अनुच्छेद 39 (क) नागरिकों को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार देता है और सम्मानूपर्वक जीने के अधिकार के लिए जरूरी है नागरिकों का सूचना-संपन्न होना। परंतु सूचना अधिकार कानून के अस्तित्व में आने से पहले नागरिक सूचना से दूर थे। इस संदर्भ में मैक्स बेबर ने कहा था 'सरकारी गोपनीयता की अवधारणा नौकरशाही की विशिष्ट ईजाद है। नौकरशाही उतनी कट्टरता से किसी और चीज की रक्षा नहीं करती, जितनी गोपनीयता की करती है। असीमित सूचनाओं के आधार पर एकत्रित किए गए ज्ञान को गोपनीय रखने का कानून बनवाकर ही वह अपनी श्रेष्ठता स्थापित करती है। इसलिए वह कम जानकार संसद और मूर्ख जनता की भूरी-भूरी प्रशंसा करती है।'[3] यद्यपि हमें आज़ाद हुए लगभग सात दशक होने को हैं, परंतु आज भी देश में कई ऐसे कानून प्रचलित हैं जो ब्रिटिश शासनकाल की देन हैं। कोई भी देश यदि किसी पर सत्तासीन होता है तो वह कभी भी नहीं चाहेगा कि वहाँ के आवाम को उनके हक प्राप्त हों। गुलामी के समय लोगों की स्वतंत्रता के साथ-साथ उनकी अभिव्यक्ति पर भी कई तरह के पहरे थे। ब्रिटिश शासनकाल में अँग्रेज़ी हुकूमत भारत में उपलब्ध

 ISSN 0975-735X

संसाधनों के दोहन करने मात्र के लिए चल रही थी, जिनका मुख्य उद्देश्य अन्याय व शोषण के जरिए अपना सिक्का जमाना था तथा उनके राजकोष का निष्पादन किस प्रकार हो, यही उनकी नीति थी तथा यह किस प्रकार गोपनीय रहे यह उनकी प्राथमिकता। वैसे भी ब्रिटेन का नाम पूरी दुनिया में शासकीय गोपनीयता का पहला कानून बनानेवाले देश के रूप में लिया जाता है। ब्रिटेन में पहली बार 1889 में शासकीय गोपनीयता कानून बना था। जब ब्रिटेन में यह कानून बना तो भारत ब्रिटिश उपनिवेश का अंग था। इस कारण स्वाभाविक रूप से भारत को भी इस कानून का शिकार होना पड़ा । महारानी विक्टोरिया ने उसी समय एक अधिसूचना जारी करवाकर कहा कि ब्रिटिश शासन के अधीन आने वाले देश चाहें तो इस सरकारी गोपनीयता कानून को लागू करें या फिर कानून का मसविदा तैयार कर उसे अपनी विधानसभा में पारित करवा लें। भारत में इसी के सापेक्ष 10 अक्टूबर 1889 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव एसेंबली में 'ऑफिशियल सीक्रेट्स' के नाम से विधेयक लाया गया, जिसे एक सप्ताह बाद यानि 17 अक्टूबर को पारित कर दिया गया। इस कानून में कुल पाँच अनुच्छेद थे। सैनिक जासूसी करने के मामलों में आजीवन या 5 वर्ष से अधिक कारावास का प्रावधान रखा गया था तथा अन्य सरकारी दस्तावेज के प्रकटन पर 1 वर्ष के कारावास का प्रावधान रखा गया था।

परंतु इस कानून के लागू होने के बाद भी सूचनाएँ सार्वजनिक होने लगी तथा लोगों में बढ़ते आक्रोश को भाँपकर तथा सिविल मामलों को भी गोपनीय रखने के लिए 1902 में संशोधन का प्रारूप तैयार कर लिया गया। लार्ड कर्जन के समय सन् 1904 में संशोधन की अनुमति दे दी गई तथा इसकी परिधि में आने वाले अपराधों को संज्ञेय एवं गैरजमानती कर दिया गया। इस कानून से भारतीय प्रेस पर शिकंजा कसा तथा आम आदमी के सूचना प्राप्त करने के अधिकार पर पूरी तरह से पाबंदी लगा दी गई। 'राजशाही में व्यक्ति और समाज के पास कोई अधिकार था, तो सिर्फ इतना कि वह सत्तावर्ग की आज्ञा का चुपचाप पालन करे। ऐसी व्यवस्था में शासक को उसके कार्यों तथा किसी भले-बुरे के लिए उत्तरदायी ठहराना असंभव है। शासक के शक्ति-प्रयोग पर कोई परंपरागत या वैधानिक प्रतिबंध नहीं था। राजा निरंकुश था, सर्वशक्तिमान था।[4] नीतियाँ दमनकारी होती गईं। आम आदमी की सूचना से पहुँच दूर होती गई, फिर भी सन् 1911 को एक नया सरकारी गोपनीयता कानून बना दिया गया। यह कानून भी ब्रिटेन के साथ-साथ सभी ब्रिटिश उपनिवेशों पर भी लागू किया गया। सन् 1916 में इस कानून का प्रस्तावित मसविदा तैयार करने की प्रक्रिया शुरू की गई थी। सन् 1922 को यह विधेयक प्रस्तुत हुआ। कुछ भारतीय चिंतकों ने जिनमें के॰बी॰एल॰ अग्निहोत्री, हरिसिंह गौर एवं के॰सी॰ नियोगी आदि के नाम शामिल हैं, इसका विरोध किया परंतु 28 नवंबर 1923 को इसी के तहत ब्रिटिश सरकार ने 1923 में शासकीय गोपनीयता कानून बनाया। इस कानून की धाराओं में सरकारी दस्तावेजों के प्रकटीकरण पर पावंदी लगाई गयी। गुप्त बात को सही तरह से नहीं समझाया गया बस दंड का प्रावधान कर दिया गया यद्यपि इसमें केवल न्यायालय यह तय कर सकता था कि कोई बात गोपनीय है या नहीं। यही वह कानून था, जो आरटीआई लागू होने से पहले आज़ादी के पाँच दशक गुजर जाने के बाद भी हमारी सरकारों की कार्यशैली का आधार बना रहा। 'प्राचीन भारत में भी गणतंत्र के कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं, लेकिन राजतंत्र ही सर्वाधिक प्रचलित शासन-पद्धति बना रहा। अँग्रेज़ों ने भारत आकर रजवाड़ों और नवाबों से सत्ता छीनकर आधुनिक औपनिवेशिक शासन-प्रणाली को

जन्म दिया। राजाओं और नवाबों की तरह, अँग्रेज़ी हुकूमत ने भी नागरिकों के साथ 'शासक' और 'शासित' का संबंध बनाया। शासन किसी भी कृत्य के लिए जनता के प्रति जवाबदेह नहीं था। न ही जनता को शासन के कृत्यों के बारे में जानने का हक था। अँग्रेज़ों ने गोपनीयता कानून, 1923 के जरिए कठोर प्रतिबंध लगाकर तमाम सूचनाओं से नागरिकों को वंचित रखा। 1947 में भारत आज़ाद हुआ और लोकतांत्रिक गणतंत्र की स्थापना की गई। लेकिन जैसा कि भगतसिंह ने लिखा था, गोरे की जगह काले अँग्रेज़ों ने बागडोर सँभाल ली। लोकतंत्र लागू तो हुआ लेकिन गोपनीयता के कठोर परदों के बीच काम करने वाले नौकरशाह खुद को राजा समझते रहे। स्वाधीनता-आंदोलन की आग में तपकर आए नेताओं ने भी अँग्रेज़ों के बनाए गोपनीयता कानून का भरपूर आनंद उठाया, क्योंकि यही कानून था, जो उन्हें लोकतंत्र में भी राजा की तरह व्यवहार करने की खुली छूट दे रहा था।'[5]

गोपनीयता की इसी अजीबोगरीब स्थिति पर उत्तरप्रदेश में सरकार बनाम राजनारायण मामले में सन् 1975 में जस्टिस के॰के॰ मैथ्यू ने सटीक टिप्पणी की थी।[6] उन्होंने कहा था कि 'यह धारणा रही है कि सूचना गोपनीय होती है। शासक और शासित के बीच ऐसे रिश्ते की परंपरा रही है। राजतंत्र में राजा के पास निरंकुश सत्ता थी। उसके निर्णय को भी चुनौती नहीं दी जा सकती थी। उपनिवेश में विदेशी शासक भी इसी नीति पर चले। उन्होंने सूचना को अपनी ताकत बनाकर जनता को इससे दूर रखा। सरकारी मशीनरी ने सचेत ढंग से गोपनीयता की संस्कृति विकसित कर ली है।' सूचना की स्वतंत्रता की वकालत सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश वी॰आर॰ कृष्णाय्यर ने विशेष रूप से की थी।[7] यद्यपि आज़ादी के उपरांत इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि ये कानून व्यापक जनहित में नहीं हैं। सन् 1948 में प्रेस-विधि जाँच समिति ने सरकार के सामने अपना पक्ष रखते हुए कहा कि व्यापक राजहित एवं जनहित में ही गोपनीयता-संबंधी कानून के प्रावधानों का उपयोग किया जाए। भारत में जो प्रथम प्रेस आयोग बना, उसने भी सन् 1954 में व्यापक राजहित एवं जनहित में ही गोपनीयता-संबंधी कानून के प्रावधानों का उपयोग करने की वकालत की। आयोग ने कहा कि किसी भी दस्तावेज पर गोपनीय लिख देने मात्र से उसका प्रकटीकरण अपराध की श्रेणी में नहीं आना चाहिए। उपरांत प्रथम बार 1967 में संशोधन हुआ, परंतु यह शिथिल होने के बजाय कठोर ही होता गया। चीन युद्ध के दौरान जासूसी के आरोप में पकड़े गए आमिर हुसैन की गिरफ्तारी से सजग होते हुए सरकार ने सैनिक जासूसी पर प्रतिबंध लगाने से संबंधित प्रावधान में संशोधन कर दिया।

उस दौरान शासकीय कर्मचारियों के सिविल आचरण नियमों में यह प्रावधान था कि कोई भी शासकीय सेवक शासन के किसी सामान्य या विशेष आदेश के अनुसरण में कार्य करने की व्यवस्था को छोड़कर या सौंपे गए कर्तव्यों का सद्भावना से पालन करने की स्थिति को छोड़कर किसी भी शासकीय सेवक या किसी अन्य को जिसको कि ऐसे दस्तावेज या जानकारी देने के लिए प्राधिकृत न किया गया हो, कोई शासकीय दस्तावेज या उसका कोई भाग या जानकारी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नहीं देगा। इसी बीच समय-समय पर अन्य आयोगों का गठन होता रहा तथा उन्होंने अपने-अपने सुझाव प्रेषित किए। भारतीय विधि आयोग ने भी 1971 में राष्ट्रीय सुरक्षा पर अपनी रिपोर्ट में शासकीय गोपनीयता कानून, 1923 की धारा पाँच का उल्लेख करते हुए सुझाव दिया कि ऐसे सामान्य प्रकटीकरण, जिनमें राज्य-हित प्रभावित न होते हों, मुकदमा चलाने की

अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इसी परिपेक्ष्य में भारतीय प्रेस परिषद ने 1981 में शासकीय गोपनीयता कानून, 1923 की धारा पाँच को बदलने की सिफारिश की। इसके उपरांत 1982 में द्वितीय प्रेस आयोग ने भी शासकीय गोपनीयता कानून की धारा पाँच को निरस्त करने की सिफारिश की। आयोग ने लिखा 'इस धारा के अंतर्गत आनेवाला क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। इसमें कहीं भी यह परिभाषित नहीं किया गया है कि 'गुप्त' क्या है तथा 'शासकीय गुप्त बात' क्या है। परिभाषा के अभाव में यह बात सरकार के विनिश्चय पर निर्भर है कि वह किस बात को 'गुप्त' माने और किसको नहीं।' यही वह कानून है, जिसे द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, जिसके अध्यक्ष वीरप्पा मोईली थे, ने निरस्त करने का सुझाव दिया था। गोपनीय किसी सरकार की प्रणाली में एक साजिश का उपकरण नहीं होना चाहिए।[8] एक तरफ सरकार द्वारा खुद बनाए आयोग संशोधन की सिफारिशें करते रहे, वहीं वैश्विक परिदृश्य बहुत तेजी से बदलने लगा। कई देशों ने आम आदमी तक सूचनाओं की सुलभ पहुँच के लिए कानून बनाना शुरू कर दिया तथा कुछ देशों में ये कानून सैकड़ों वर्षों से अस्तित्व में थे। उधर अनेक विद्वानों ने भी सूचना की पैरवी की तथा अपने विचार दिए। **भ्रष्टाचार गुप्त स्थान पर पनपता और सार्वजनिक स्थल को बचाता है, गोपनीयता एक बुराई है।**[9]

'कई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे–संयुक्त राष्ट्र, यू॰एन॰, अमेरिकी राज्यों के संगठन, यूरोपीय परिषद और अफ्रीकन यूनियन ने सूचना की स्वतंत्रता के अधिकार के मौलिक और कानूनी रूप को प्राधिकृत रूप से स्वीकार किया है। अमेरिका, यूरोप और अफ्रीका में मानवाधिकारों की सभी तीन प्रमुख प्रणालियों ने सूचना के अधिकार के महत्त्व को औपचारिक रूप से मानवाधिकार के रूप में स्वीकार किया है। संयुक्त राष्ट्र का विशेष रिपोर्टर राय और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर 1997 से अपनी प्रत्येक वार्षिक रिपोर्ट में सूचना की स्वतंत्रता के मुद्दे को उठाता रहा है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अमेरिकी राज्यों के संगठन के विशेष रिपोर्टर ने बार-बार स्वीकार किया है कि सूचना की स्वतंत्रता एक मौलिक अधिकार है, जिसमें सार्वजनिक निकायों के पास उपलब्ध सूचना प्राप्त करने का अधिकार शामिल है।'[10] पूरा विश्व सूचना एवं मौलिक अधिकारों को अपने तरीके से परिभाषित कर रहा था तथा सन् 1990 के दशक तक विश्व के दर्जनभर से ज्यादा देश अपने यहाँ यह कानून लागू कर चुके थे। हेराल्ड जे॰ लास्की और कर्ट आइनजर ने कहा था–'जिन्हें भरोसेमंद और वास्तविक सूचनाएँ नहीं मिल पातीं, उनकी स्वतंत्रता खतरे में है। आज नहीं तो कल, उनका नष्ट होना स्वाभाविक है। सत्य किसी भी राष्ट्र की प्रमुख धरोहर है। जो उसे दबाने या छिपाने की कोशिश करते हैं अथवा जो उसके उजागर होने से भयभीत रहते हैं, बर्बाद होना ही उनकी नियति है।'[11] उसी दौरान भारत में भी जनआंदोलनों की शुरुआत हो चुकी थी तथा सरकारें इस बात को समझने लगी थीं कि सूचना तक आम आदमी की पहुँच को सुलभ बनाना होगा।

भारतीय परिपेक्ष्य में सूचना का अधिकार

आज विश्व सूचना और संचार क्रांति के दौर से गुजर रहा है। प्रतिदिन ईजाद होती नई तकनीकों ने आम आदमी की राहें अत्यंत आसान कर दी हैं। सूचना प्रौद्योगिकी ने संपूर्ण विश्व को एक विश्व ग्राम में परिवर्तित कर दिया है, जहाँ कंप्यूटर के माउस पर सारी सूचनाएँ उपलब्ध

हैं। इंटरनेट के जाल ने विभिन्न सूचनाओं तक पहुँच को आसान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, परंतु सरकारी महकमों में कैद सूचनाओं तक आम आदमी की पहुँच कितनी सुलभ है यह बड़ा सवाल है। सूचना संसाधनों की उपलब्धता का किस हद तक प्रजातांत्रिक प्रणाली में उपयोग हो पाया है? प्रजातांत्रिक प्रणाली में जनसूचना अधिकार की महत्ता किस हद तक है, यह बात जरूर ध्यान देने योग्य है।

बात शासकीय कामकाज में पारदर्शिता और सूचना की करें तो सूचनाधिकार के लिए दुनिया भर में विभिन्न रूपों में माँग उठती रही है। लेकिन स्वीडेन पहला देश है, जिसने 247 साल पहले सूचनाधिकार लागू किया था। वहाँ 1766 में फ्रीडम ऑफ प्रेस एक्ट पारित हुआ। इसमें लोक-दस्तावेजों तक पहुँच का अधिकार दिया गया था। इसे सुविचारित रूप से फ्रीडम ऑफ द प्रेस एक्ट, 1949 में प्रतिस्थापित किया गया। फिर 1976 में संशोधन भी हुआ। स्वीडेन के संविधान में हर नागरिक को, कुछ विषयों में निर्बधन को छोड़कर सभी सरकारी दस्तावेज हासिल करने का अधिकार है। वहाँ सभी प्रशासनिक दस्तावेजों को खुला मान लिया जाता है। सबसे पहले पारदर्शिता लागू करने वाले देश स्वीडेन की प्रति व्यक्ति आय आज दुनिया में सर्वाधिक है। शासकीय कार्यों में पारदर्शिता एवं नागरिकों को जानने का अधिकार को लगभग 1940 के दशक में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक महत्त्वपूर्ण जरूरत मान लिया गया था। 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ की आमसभा ने अपने प्रस्ताव में कहा था कि सूचना का अधिकार मनुष्य का एक बुनियादी अधिकार है तथा यह उन सभी स्वतंत्रताओं की कसौटी है, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रतिष्ठित किया है। इसी तरह संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1948 में अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में घोषणा की कि 'जानकारी पाने की इच्छा रखना, उसे प्राप्त करना तथा किसी माध्यम द्वारा जानकारी एवं विचारों को फैलाना मनुष्य का मौलिक अधिकार है।'

फिनलैंड में 1951 में सरकारी दस्तावेजों की सार्वजनिक प्रकृति निर्धारित करने संबंधी कानून के रूप में पारदर्शिता लागू की गई। कनाडा, अमेरिका, फ्रांस, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया जैसे देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की भावनाओं के अनुरूप सूचना के अधिकार संबंधी कानून बनाए। हालाँकि, इसमें कई प्रकार के निर्बधना व अपवाद भी रखे गए। इसके बावजूद पूरी दुनिया में सूचना के अधिकार की लहर चल पड़ी।

कनाडा में 'एक्सेस टू इनफॉरमेशन एक्ट, 1982' के जरिये सूचनाधिकार लागू हुआ। इसमें कनाडा के नागरिकों तथा स्थाई नागरिकों को सरकारी दस्तावेजों की सूचना हासिल करने का अधिकार दिया गया। इसके दायरे में विधि न्यायालयों, पार्लियामेंट एवं वाणिज्यिक नियमों को छोड़कर संघीय सरकार की सभी संस्थाओं को लाया गया।

अमेरिका ने प्रशासनिक प्रणाली अधिनियम-1946 की धारा तीन के संशोधन के रूप में सूचना की स्वतंत्रता अधिनियम, 1966 लागू किया। इस 'फ्रीडम ऑफ इन्फॉरमेशन एक्ट' ने पारदर्शिता का जबरदस्त माहौल बनाया। इस कानून में संघीय सरकार के दस्तावेजों तक नागरिकों की पहुँच को 'सामान्य' बात बना दिया तथा उसमें गोपनीयता सिर्फ 'अपवाद' स्वरूप ही रह गई। इस अधिनियम के अनुसार सिर्फ नौ अपवादों के आधार पर ही नागरिकों को किसी सूचना से वंचित किया जा सकता है। अमेरिका के सूचना स्वातंत्र्य अधिनियम 1974 के तहत सूचना देने का दायित्व शासन पर है। फ्रांस में सरकारी दस्तावेजों तक नागरिकों की पहुँच सुनिश्चित करने

 ISSN 0975-735X

हेतु 1978 में कानून बना। इसमें आठ अपवादों के आधार पर किसी नागरिक को किसी सूचना से वंचित करने का प्रावधान रखा गया। आस्ट्रेलिया में 'फ्रीडम ऑफ इन्फॉरमेशन एक्ट, 1982' के रूप में सूचनाधिकार लागू हुआ। इसके दायरे में संघीय सरकार की सभी एजेंसियों को लाया गया, जिसमें राजधानी प्रक्षेत्र भी शामिल था। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया–'इस अधिनियम द्वारा ऐसी जानकारी पाने का अधिकार दिया जाता है, जो मंत्रियों, विभागों और लोक-प्राधिकारियों के कब्जे में दस्तावेजों के रूप में है। इसमें अपवाद के बतौर सिर्फ अत्यावश्यक लोकहित और निजी मामले आएँगे। न्यूजीलैंड ने 'ऑफिशियल इन्फॉरमेशन एक्ट, 1982 बनाया। इस कानून की एक विशेषता यह है कि इसमें सिर्फ सरकारी दस्तावेजों को ही 'सूचना' नहीं माना गया, बल्कि किसी मंत्री या अधिकारी के पास शासकीय हैसियत में मौजूद किसी तथ्य के ज्ञान या परिस्थिति की जानकारी को भी 'सूचना' के दायरे में रखा गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्व महासचिव कोफी अन्नान ने सूचना की ताकत को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया था–'सूचना की व्यापक लोकतंत्रकारी शक्ति से हमें परिवर्तन और निर्धनता-उन्मूलन के समस्त अवसर इतने रूपों में मिले हैं, जिनकी हम आज कल्पना तक नहीं कर सके।' भारत में सूचना के अधिकार के लिए सबसे ठोस, स्पष्ट एवं अनवरत आंदोलन राजस्थान के किसानों ने चलाया। अरुणा राय एवं निखिल डे के नेतृत्व में मजदूर किसान शक्ति संगठन 'हमारा पैसा, हमारा हिसाब' आंदोलन भारत के सूचना के अधिकार का अगुआ बना। 1975 में आई॰ए॰ एस॰ की नौकरी छोड़कर जनांदोलनों से जुड़ी अरुणा राय ने 1987 में राजस्थान के देवडूँगरी गाँव से एक संगठन की नींव रखी–'मजदूर किसान शक्ति संगठन'। भारत के पूर्व एयर मार्शल पी॰के॰ डे के पुत्र निखिल डे तथा स्थानीय कार्यकर्ता शंकरसिंह की मदद से इस संगठन ने जल्द ही अपनी मजबूत पकड़ बना ली। मजदूरी आजीविका के साधन तथा जमीन के सवालों पर आंदोलन तेज हुआ। उन दिनों विभिन्न निर्माण कार्यों से जुड़े मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी से वंचित करना आम बात थी। पूरी मजदूरी की माँग करने पर सरकारी अधिकारी कहते कि तुमने पूरा काम नहीं किया है, इसलिए पूरी मजदूरी नहीं दी जा सकती। तब मजदूरों ने कहा कि हमें अपने मेजरमेंट बुक, मस्टर रोल, यूटिलाइजेशन सर्टिफिकेट वगैरह दिखाओ। हम देखना चाहते हैं कि इसमें हमारे द्वारा किए गए काम को पूरा दिखाया गया है या अधूरा और हमारे नाम पर कितनी मजदूरी का भुगतान दिखाया गया है। इस पर अधिकारियों ने दस्तावेज दिखाने से इंकार कर दिया, तब मजदूरों ने कहा–हमें दस्तावेज देखने हैं और हमें इनकी फोटो कॉपी भी चाहिए।

इस तरह, विकास योजनाओं में गबन तथा कम मजदूरी के खिलाफ 1993 में आरंभ अभियान ने धीरे-धीरे पारदर्शिता के लिए आंदोलन का रूप लिया। इसी दौरान अपना गाँव, अपना काम योजना में भारी अनियमितता का भंडाफोड़ करने के लिए इससे संबंधित दस्तावेजों की माँग करते हुए 15 जून 1994 को भी राजसमंद में धरना दिया गया। इसी वर्ष जून महीने में कोट किराणा रायपुर, पाली में ग्रामीणों के दबाव में बी॰डी॰ओ॰ ने दस मस्टर रोल की जाँच की। इसमें फर्जीवाड़े का पता चला। इसके बाद भ्रष्टाचार के खिलाफ जनसुनवाई का अनूठा प्रयोग शुरू हुआ। जनसुनवाई में दस्तावेजों को ग्रामीणों के बीच जाँच के लिए पेश करने पर भारी गड़बड़ियों का पता चला। चार जिलों में जनसुनवाई के आधार पर एम॰के॰एस॰एस॰ ने भ्रष्ट अधिकारियों एवं जन प्रतिनिधियों के खिलाफ मुकदमा दर्ज कराने का प्रयास किया, लेकिन इसकी अनुमति नहीं मिली।

इसके बाद मजदूर किसान शक्ति संगठन ने जानने के अधिकार को लेकर आंदोलन तेज कर दिया। चारों जनसुनवाई के आधार पर फरवरी 1995 में जाँच हुई।

आंदोलन के दबाव में पाँच अप्रैल 1995 को राजस्थान के मुख्यमंत्री भौरोसिंह शेखावत ने विधानसभा में घोषणा कर दी कि हमारी सरकार भारत की पहली सरकार होगी, जो किसी भी नागरिक को स्थानीय विकास कार्यों से संबंधित दस्तावेजों की फोटो कापी उचित शुल्क पर उपलब्ध कराएगी। इस कानून के कार्यान्वयन नहीं होने के विरोध में एक साल बाद एम॰के॰एस॰एस॰ के ब्यावर के चांग गेट पर छह अप्रैल 1996 को अनिश्चितकालीन धरना आयोजित किया। धरने के पहले ही दिन सरकार ने आदेश जारी किया कि नागरिक शुल्क जमा करके दस्तावेज देख सकते हैं, लेकिन फोटो-कॉपी नहीं मिलेगी।

लेकिन मजदूर किसान शक्ति संगठन इस घोषणा से संतुष्ट नहीं हुआ। कहा कि हमें प्रमाणित प्रति मिले बगैर हम भ्रष्टाचार के खिलाफ मुकदमा दर्ज नहीं करा सकते। इसलिए सिर्फ दस्तावेज देखने का अधिकार पर्याप्त नहीं। लिहाजा, ब्यावर का यह धरना लगातार जारी रहा। इसे व्यापक जनसमर्थन मिलता गया। अंततः लगभग डेढ़ महीने बाद, 14 मई 1996 को राज्य सरकार ने एक समिति बनाने की घोषणा की, जिसे सूचना के अधिकार का स्वरूप तैयार करना था। इस तरह धरना खत्म हुआ। लेकिन फिर एक साल तक कोई प्रगति नहीं हुई। छह मई 1997 से मजदूर किसान शक्ति संगठन ने राजधानी जयपुर के स्टैच्यू सर्कल में विशाल अनिश्चितकालीन राज्यस्तरीय धरना शुरू किया। यह धरना पूरे राज्य और देश में चर्चा का विषय बना। धरना के 52 दिन बाद उप मुख्यमंत्री हरिशंकर भाभड़ा ने दिलचस्प रहस्योद्घाटन किया। उन्होंने कहा कि राज्य सरकार पिछले साल ही अधिसूचना जारी कर चुकी है कि पंचायत तथा ग्रामीण स्थानीय निकाय संबंधी दस्तावेजों की फोटो-कॉपी उचित शुल्क देकर हासिल की जा सकती है। हालाँकि सरकार के कामकाज में पारदर्शिता लाने की इस अधिसूचना को ही इतने दिनों तक गोपनीय क्यों रखा गया, इसका जवाब किसी के पास नहीं था।

इसके बावजूद राज्य में सूचना का अधिकार नहीं मिला। आंदोलन चलता रहा। जनवरी 1998 में पंचायतों से मिले दस्तावेजों की जाँच के आधार पर कूकरखेड़ा भीम, राजसमंद, लोटियाणा, रावतमाल, सूरजपुरा जवाजा, अजमेर में जनसुनवाई की गई। इस दौरान तीन सरपंचों ने गबन किए गए पैसे लौटाए। बाद में जाँच के आधार पर तीन सरपंचों को निलंबित कर दिया गया।

पहली मई 2000 को राजस्थान विधानसभा ने सूचना का अधिकार कानून पारित किया। इसी दिन पंचायतीराज अधिनियम में संशोधन करके वार्डसभा एवं ग्रामसभा में सामाजिक अंकेक्षण को अनिवार्य कर दिया गया। 26 जनवरी 2001 से राजस्थान में सूचना का अधिकार कानून लागू हुआ। इस तरह, राजस्थान को सूचनाधिकार देने वाले पहले राज्य का श्रेय भले न मिला हो, यहाँ के ग्रामीणों को पूरे देश में इसकी अवधारणा और उदाहरण पेश करने का ऐतिहासिक गौरव अवश्य प्राप्त हुआ।

5-6 अप्रैल 2001 को ब्यावर के सुभाष गार्डेन में सूचना के अधिकार का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके विशाल मंच पर बैनर था-'चोरीवाड़ो घणों होग्यों रे, कोई तो मुण्डे बोलो।' लूट-खसोट बहुत हो चुकी, कोई तो मुँह से बोले या अपनी जुबान खोले।

 ISSN 0975-735X

भारत में सूचनाधिकार लागू होने के विविध चरण

भारत में सूचनाधिकार लागू होने की एक लंबी प्रक्रिया देखी जा सकती है। 1989 में प्रधानमंत्री बने श्री वी॰पी॰ सिंह ने चुनाव में सूचनाधिकार का वायदा किया था। तीन दिसंबर 1989 को देश के नाम अपने पहले संदेश में उन्होंने संविधान संशोधन करके सूचना अधिकार प्रदान करने तथा शासकीय गोपनीयता कानून में संशोधन की घोषणा की थी। लेकिन वी॰पी॰ सिंह की सरकार अपनी कोशिशों के बावजूद इसे लागू नहीं कर पाई। प्रेस परिषद ने जब सूचना के अधिकार पर राष्ट्रीय सम्मेलन किया था तो उसमें स्वयं श्री वी॰पी॰ सिंह ने कहा था कि 'प्रधानमंत्री बनने के बाद मैंने अधिकारियों से कहा कि सूचना के अधिकार पर एक प्रस्ताव बनाकर लाएँ। बार-बार याद दिलाने के बाद अधिकारियों ने जो मसविदा भेजा, उसे पढ़ने से लगा कि यह तो फालतू की कवायद होगी। मसविदा इतना पनीला था कि उसमें कितना ही दूध डाला जाता, वह दूधिया तक नहीं होता।'[12]

एक मार्च 1990 को केंद्र सरकार ने शासकीय गोपनीयता कानून में संशोधन संबंधी बिंदुओं पर अशासकीय पत्र निर्गत करके जानने का प्रयास किया कि शासकीय गतिविधियों को किस तरह कम किया जा सकता है।

अक्टूबर 1995 में लालबहादुर शास्त्री नेशनल एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी में सूचना के अधिकार पर कार्यशाला हुई। इसमें सूचनाधिकार पर आंदोलनरत प्रमुख लोगों, अधिकारियों ने विचार-विमर्श करके सूचना के अधिकार का एक प्रारूप तैयार किया।

24 मई 1997 को नई दिल्ली में मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन हुआ। इसका विषय था 'प्रभावी और उत्तरदायी सरकार के लिए कार्य-योजना का निर्माण।' इसमें सूचनाधिकार कानून बनाने पर सहमति हुई। कार्मिक एवं लोक-शिकायत मंत्रालय ने अपनी 38वीं रिपोर्ट में भी सिफारिश की।

1996 में गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में नेशनल केम्पेन फॉर पीपुल्स राइट टू इन्फॉरमेशन का गठन हुआ। एन॰सी॰पी॰आर॰आई॰ तथा भारतीय प्रेस परिषद् में जस्टिस पी॰बी॰ सावंत के नेतृत्व में मसविदा दस्तावेज तैयार किया। इसे भारत सरकार को सौंपा गया।

इस पर विचार करने के लिए सरकार ने एच॰डी॰ शौरी की अध्यक्षता में कमेटी बनाई। इसके गठन का उद्देश्य था-'सरकार को पारदर्शी एवं जवाबदेह बनाना।' समिति को सूचना अधिनियम के साथ ही पारदर्शी एवं उत्तरदायी शासन की आवश्यकता को पूरा करने के लिए नौकरशाही के ढाँचे व कार्यप्रणाली संबंधी समुचित सुझाव देने थे। समिति ने सिविल सेवा आचरण नियम और विभागीय सुरक्षा अनुदेश निर्देशिका में उपयुक्त संशोधनों की सिफारिश की ताकि उन्हें प्रस्तावित विधेयक के अनुकूल बनाया जा सके।

शौरी कमेटी ने मई 1997 में 'सूचना स्वातंत्र्य विधेयक' का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस पर केंद्र सरकार द्वारा गठित मंत्रियों के समूह ने विचार किया कि राष्ट्रीय हित, भारत की अखंडता एवं विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों को बनाए रखते हुए, नागरिकों को सूचना की स्वतंत्रता किस प्रकार दी जाए। एच॰डी॰शौरी द्वारा प्रस्तुत प्रारूप को लगातार दो सरकारों ने पारित भी किया था, परंतु संसद में पेश नहीं किया गया था। इसी बीच तत्कालीन शहरी विकास मंत्री श्री राम जेठमलानी ने नागरिकों को अपने मंत्रालय की फाइलों का निरीक्षण करने और उसकी छाया प्रति प्राप्त करने का अधिकार देने के लिए एक प्रशासनिक आदेश जारी किया था, परंतु तत्कालीन

कैबिनेट सचिव ने इस आदेश को लागू करने की इजाजत नहीं दी थी।

वर्ष 2001 में संसद की स्थाई समिति ने सूचना स्वातंत्र्य विधेयक अनुमोदित किया। दिसंबर 2002 में संसद ने सूचना स्वातंत्र्य विधेयक पारित किया। जनवरी 2003 में इसे राष्ट्रपति की मंजूरी मिली। छह जनवरी 2003 को इसे अधिनियम संख्या 5/2003 के बतौर अधिसूचित किया गया। लेकिन इसकी नियमावली बनाने के नाम पर इसे लागू नहीं किया गया।

मई 2004 में केंद्र में यूपीए की सरकार आई। काँग्रेस ने अपने चुनाव घोषणापत्र में सूचनाधिकार का वायदा किया था। यूपीए सरकार ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम में कहा कि सूचना के अधिकार को ज्यादा गतिशील, सहभागितापूर्ण एवं अर्थपूर्ण बनाया जाएगा। यूपीए सरकार ने न्यूनतम साझा कार्यक्रम के कार्यान्वयन के लिए एक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् का गठन किया। इसमें विभिन्न जनांदोलनों एवं जनसंगठनों से जुड़े मुख्य लोग तथा सूचनाधिकार को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए। अगस्त 2004 में एन॰सी॰पी॰आर॰आई॰ ने सूचना स्वातंत्र्य अधिनियम में संशोधन के सुझाव दिए। इसी बीच एडवोकेट प्रशांत भूषण ने नागरिक के सूचना का अधिकार पर राष्ट्रीय अभियान एन॰सी॰पी॰आर॰आई॰ की ओर से जनहित याचिका दायर की और माँग की गई थी कि सूचना की आज़ादी अधिनियम, 2002 को तत्काल लागू किया जाए। इस मामले पर 20 जुलाई 2004 को उच्चतम न्यायालय में सुनवाई हुई थी। उच्चतम न्यायालय ने केंद्र सरकार को यह जवाब देने के लिए 15 सितंबर 2004 की समय सीमा तय की थी कि यह अधिनियम कब अधिसूचित किया जाएगा और यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो अंतरिम प्रशासनिक दिशा-निर्देश कब जारी किए जाएँगे।

इसी दौरान राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् ने सूचना के अधिकार का एक मुकम्मल दस्तावेज प्रस्तुत किया। लेकिन संसद में इसे संशोधित करके सूचना का अधिकार विधेयक के रूप में 22 दिसंबर 2004 को पेश किया गया। यह विधेयक 2002 के कानून से बेहतर जरूर था, लेकिन इसमें कई खामियाँ थीं। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा पारित कई धाराओं को या तो बुरी तरह काट-छाँट दिया गया था, या फिर पूर्णतया हटा दिया गया था। एक बड़ा बदलाव यह भी था कि इसे सिर्फ केंद्र सरकार तक सीमित कर दिया गया था। राज्य सरकारों पर यह कानून लागू नहीं होता। इस कानून का उल्लंघन करने वाले अधिकारियों को दंडित करने संबंधी अधिकांश प्रावधानों को भी निष्प्रभावी कर दिया गया। स्वाभाविक तौर पर, इसके खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् में शामिल सूचनावादियों ने परिषद् की अध्यक्ष सोनिया गांधी को साफ कह दिया कि हमें इतना कमजोर काननू नहीं चाहिए। सोनिया गांधी के हस्तक्षेप के बाद यूपीए सरकार ने मंत्रियों का एक समूह बनाकर विधेयक के संशोधनों की समीक्षा का दायित्व सौंपा। इस समिति ने विधेयक को संसद की स्थायी समिति के पास भेज दिया। इस बीच राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के सदस्यों ने प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह से मिलकर अपनी मूल अनुशंसाएँ लागू करने का आग्रह किया।

अतंत: इसे मार्च 2005 में संसद में पेश किया गया। यह 11 मई 2005 को लोकसभा में 144 संशोधनों के साथ पारित हुआ। 12 मई को राज्यसभा ने भी इसे पारित कर दिया। 12 जून 2005 को राष्ट्रपति ने इसे स्वीकृति दी। इस तरह, 12 अक्टूबर 2005 से सूचना का अधिकार कानून, जम्मू-कश्मीर को छोड़कर, जहाँ विधानसभा द्वारा पहले ही सूचनाधिकार कानून पारित एवं

 ISSN 0975-735X

लागू किया जा चुका था, पूरे देश में प्रभावी हो गया। इसके अलावा, केंद्र सरकार से जुड़े निकायों के संबंध में सूचना के अधिकार कानून 2005 के तहत सूचना माँगने का अधिकार जम्मू-कश्मीर के नागरिकों को भी प्राप्त है।

सूचनाधिकार का केंद्रीय कानून बनने से पहले देश के नौ राज्यों में यह अधिकार लोगों को मिल चुका था–तमिलनाडु 1997, गोवा 1997, राजस्थान 2000, कर्नाटक 2000, दिल्ली 2001, असम 2002, मध्य प्रदेश 2002, महाराष्ट्र 2002, जम्मू-कश्मीर 2004

कर्नाटक ऐसा पहला राज्य है, जिसने सूचना का अधिकार लागू करने की कोशिश की। हालाँकि उसे सफलता नहीं मिली। 1988 में कर्नाटक विधानसभा में 'कर्नाटक में फ्रीडम ऑफ प्रेस' विधेयक पेश किया गया था। इसे भारी विरोध का सामना करना पड़ा। अतंत: यह मामला भारतीय प्रेस परिषद् को सौंपा गया। परिषद् ने इस पर सकारात्मक सुझाव दिए। इसके बावजूद मामला ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। तमिलनाडु विधानसभा ने 17 अप्रैल 1997 को सूचना का अधिकार विधेयक पारित किया। इस तरह भारत में ऐसा पहला कानून बनाने का श्रेय तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करुणानिधि को मिला। इसके तीन महीने बाद ही जुलाई 1997 में गोवा विधानसभा ने विधेयक पारित करके ऐसा दूसरा राज्य होने का गौरव पाया। मध्य प्रदेश सरकार ने 1996 में मध्य प्रदेश राइट टू इन्फॉरमेशन बिल तैयार किया। 1997 में इसे कैबिनेट में भारी विरोध का सामना करना पड़ा। 1998 में मध्य प्रदेश विधानसभा ने इस विधेयक को पारित करके आश्चर्यजनक रूप से राज्यपाल के पास न भेजकर राष्ट्रपति के पास मंजूरी हेतु भेज दिया, जहाँ से यह विधेयक कभी वापस नहीं लौटा।

पाँच साल बाद, 2003 में मध्य प्रदेश विधानसभा ने पुन: नया विधेयक पारित करके लागू किया। हालाँकि मध्य प्रदेश के बिलासपुर संभाग के कमिश्नर हर्ष मंदर ने 1995 से 1997 के बीच सार्वजनिक वितरण प्रणाली, परिवहन, ग्रामीण विकास योजनाओं, साक्षरता, रोजगार से जुड़े दस्तावेजों में पारदर्शिता के महत्त्वपूर्ण प्रयास किए। राजस्थान वह राज्य है, जहाँ सूचनाधिकार के लिए सबसे पहले और सबसे जबरदस्त आंदोलन हुआ। भारी जनदबाव के कारण 1995 में मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत ने विधानसभा में आश्वासन दिया कि जल्द ही सूचनाधिकार लागू किया जाएगा। लेकिन जनता को अगले पाँच वर्षों तक निरंतर आंदोलन करना पड़ा। मई 2000 में राजस्थान विधानसभा ने सूचनाधिकार विधेयक पारित किया। महाराष्ट्र में 11 दिसंबर 2000 को सूचनाधिकार विधेयक पारित हुआ, लेकिन यह बेहद कमजोर था। इसमें विभिन्न महत्त्वपूर्ण सूचनाओं पर पाबंदी थी। इसलिए, सूचनावादियों को यह कानून बेहद अपर्याप्त लग रहा था। यही कारण था कि अन्ना हजारे ने राज्य में जोरदार आंदोलन चलाकर एक बेहतर कानून बनाने का दबाव डाला। महाराष्ट्र सरकार ने नया विधेयक बनाने के लिए 10 सितंबर 2001 को समिति गठित की। अप्रैल 2002 में विधानसभा में नया विधेयक आया। साथ ही, 23 सितंबर 2002 को एक अध्यादेश लाया गया। मार्च 2003 में महाराष्ट्र विधानसभा के दोनों सदन ने विधेयक पारित कर दिया। 10 अगस्त 2003 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिल गई। इसे अध्यादेश की तिथि 23 सितंबर 2002 से लागू माना गया। मई 2001 में दिल्ली में सूचनाधिकार विधेयक पारित हुआ और उसे 2 अक्टूबर 2001 से लागू किया गया। उत्तर प्रदेश ने कोड ऑफ प्रैक्टिस ऑन एक्सेस टू इन्फॉरमेशन, 2000 पारित किया। हालाँकि इसके प्रावधान बेहद सीमित होने के कारण इसकी

खास प्रासंगिकता नहीं देखी गई। अतत: वर्ष 2005 में सूचना का केंद्रीय कानून बनाने का श्रेय यूपीए सरकार को मिला।

इस लिहाज से यह कानून अपना दस वर्ष का सफर पूरा कर चुका है। इन दस वर्षों की प्रगति का विश्लेषण करें तो इस कानून के जरिए आम आदमी को राहत मिली है। आरटीआई के पीछे मकसद यही था कि आम आदमी को जानने का अधिकार मिले। इसमें कोई दो राय नहीं कि सरकारी महकमों की लेटलतीफी ने आम आदमी को बहुत परेशान किया है। चाहे पेंशन के लिए बुजुर्गों का चक्कर लगाना हो या राशन कार्ड में देरी, पासपोर्ट की प्रक्रिया हो या सरकारी महकमों में भ्रष्टाचार इन सबसे आम आदमी का दो-चार होना रोज की समस्या है। देश स्तर पर कई ऐसे मामले प्रकाश में आए जिन्होंने सूचना के अधिकार के मजबूती से बढ़ने का संकेत दिया। इसी कड़ी में 9 अगस्त 2011 को सुप्रीम कोर्ट का एक फैसला अति महत्त्वपूर्ण रहा। सूचनाधिकार के तहत विद्यार्थी अपनी उत्तर पुस्तिकाएँ देख सकते हैं। संबंधित सुनवाई में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि जाँची गई उत्तर पुस्तिकाएँ आर॰टी॰आई॰ कानून में दी गई सूचना की परिभाषा में आती हैं। इस फैसले के बाद सभी तरह की परीक्षाओं में शामिल विद्यार्थियों को आरटीआई के तहत अपनी जाँची जा चुकी उत्तर पुस्तिकाएँ देखने का अधिकार होगा। वहीं एक अन्य दिलचस्प फैसले में केंद्रीय उपभोक्ता फोरम ने सूचना माँगने वाले को उपभोक्ता मानकर वाद की सुनवाई कर एक नई इबारत लिखी। हुआ यूँ कि मैसूर सिटी के डॉक्टर एस॰पी॰ तिरुमला ने नगर निगम से दो आर॰टी॰आई॰ लगाकर यह जानकारी माँगी थी कि निगम ने फोन लाइन बिछाने के लिए उनके क्लीनिक के आगे खुदाई की, परंतु इसकी ठीक से मरम्मत नहीं की। डॉ॰ तिरुमला को निगम द्वारा जानकारी नहीं मिली तो उन्होंने उपभोक्ता फोरम का दरवाजा खटखटाया। जिस पर सूचना हेतु सूचना शुल्क जमा कराने के कारण डॉक्टर तिरुमला को जिला उपभोक्ता फोरम ने उपभोक्ता माना तथा निगम पर 500 रुपये जुर्माना हुआ। निगम ने राज्य तथा केंद्रीय उपभोक्ता फोरम में अपील की, जहाँ से उसे राहत नहीं मिल सकी।[13] बहरहाल यह तो बानगी भर है। कई अन्य ऐसे मामले चाहे वह राष्ट्रमंडल खेलों में घोटाला हो या काले धन संबंधी तथ्य, आरटीआई के जरिए बेपर्दा हुए। मई 2011 को आया केंद्रीय सूचना आयोग का फैसला भी कम महत्त्वपर्ण नहीं, जिसमें यह कहा गया कि सुप्रीम कोर्ट को भी इस कानून के तहत सूचना देनी होगी। वहीं राज्य के संदर्भ में राज्यपाल द्वारा गृह मंत्रालय को भेजी रिपोर्ट भी सूचना के तहत मुहैया करानी होगी। राजनीतिक दलों को आर॰टी॰आई॰ के दायरे में लाने पर भी विवाद हुआ, परंतु आयोग ने अपने फैसले से साफ कर दिया कि राजनीतिक दल भी इस कानून से बाहर नहीं होंगे।[14] बात इन्हीं मामलों तक सीमित नहीं रही न केवल केंद्रीय सूचना आयोग बल्कि राज्य सूचना आयोगों ने भी कई महत्त्वपूर्ण फैसले देकर बेहतरीन कार्य किया है।

संदर्भ

1. भारत का संविधान एक परिचय, डॉ॰ डी॰डी॰ बासु, सप्तम् संस्करण, पृ॰ 21
2. (1998) 4 एस॰सी॰सी॰ 626
3. हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, अरुण पांडेय, 2002, द्वितीय संस्करण, पृ॰ 46
4. सूचना का अधिकार, व्यावहारिक मार्गदर्शिका लेखक विष्णु राजगढ़िया, अरविंद केजरीवाल, प्रत्यक्ष

लोकतंत्र की ओर, पृ॰ 17
5. वही, पृ॰ 21–22
6. ए॰आई॰आर॰ 1975, एस॰सी॰ 865 (1975) 3, एस॰सी॰आर॰ 3330
7. फ्रीडम ऑफ इन्फोरमेशन (1981), न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर
8. प्रचार पर जेर्मीबेन्थम का ग्रंथ, 1853, भाग–2, पृ॰ 310–317
9. एम॰सी॰ प्रमोदन, राइट टू नो दि ज्यूरिस प्रूडेन्स एंड प्रेक्टिस 1996, पृ॰ 79
10. सूचना का अधिकार, पारदर्शिता की ओर अग्रसर, लेखक सुनील भुटानी, पृ॰ 28
11. हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, अरुण पांडेय 2002, पृ॰ 13
12. सूचना का अधिकार, व्यावहारिक मार्गदर्शिका लेखक विष्णु राजगढ़िया, अरविंद केजरीवाल, प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ओर पृ॰ 36
13. हिंदुस्तान समाचार–पत्र 22 मई 2011 पृ॰ 11
14. अमर उजाला 04 जून 2013, पृ॰ 1

शोधार्थी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
shivaaggarwal@gmail.com

कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण (हिंदीभाषा के संदर्भ में)

डॉ॰ शशिप्रभा
प्रवक्ता, हिंदी विभाग
वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)

भाषा ऐसी प्रतीक व्यवस्था है, जो समाज सापेक्ष है। सामाजिकता भाषा की प्रकृति में ही अंतर्निहित रहती है। भाषा प्रयोजन-सिद्ध है। एकभाषीय समाज में भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रयोजनों के लिए भिन्न-भिन्न वाक् आचरण होते हैं। ये वाक् आचरण भाषायी समुदाय के सदस्य के स्वभाव में होते हैं। समाज में रहकर व्यक्ति को अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। कहीं वह पिता है, कहीं पुत्र, कहीं पति है तो कहीं दोस्त, कहीं वह अध्यापक की भूमिका निभाता है तो कहीं किसी अन्य भूमिका का निर्वाह करता है। इन सभी भूमिकाओं में वक्ता समान वाक् आचरण का प्रयोग नहीं करता है। वह संदर्भ, परिस्थिति एवं श्रोता के अनुसार भाषा का प्रयोग करता है। कक्षा में छात्रों को पढ़ाते समय वह औपचारिक भाषा का प्रयोग करता है तो बाजार में दुकानदार से सामान ख़रीदते समय औपचारिक और अनौपचारिक भाषा का मिला-जुला रूप प्रयोग में लाता है। घर में, दोस्तों में अनौपचारिक भाषा का प्रयोग करता है तो किसी सभा में भाषण देते समय औपचारिक भाषा को अपनाता है।

यह आवश्यक नहीं कि भाषायी समाज में व्यक्ति केवल एक भाषा के ही विविध रूपों एवं शैलियों में से चयन करता हो। वह एक भाषा की विभिन्न बोलियों, क्षेत्रीय बोलियों, सामाजिक वर्गों की बोलियों एवं भाषा आदि से अपने अनुकूल भाषा का चयन करता है। एक से बात करते हुए वह कहता है 'आइए, तशरीफ रखिए' तो दूसरे से 'आइए बैठिए और किसी अन्य से 'आओ बैठो' और कहीं उसे 'आ बैठ' का प्रयोग ही उपयुक्त लगता है। अत: वह उसे ही अपनाता है। इस वार्तालाप में भाग लेने वाले वक्ताओं और श्रोता के बीच आपस में सहसंबंध स्वीकृत होता है। भाषिक विकल्पन की यह स्थिति भाषिक अर्थ के साथ सामाजिक सूचना भी देती है। सच पूछा जाए तो यह सूचना भाषा-रूप से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। विभिन्न सामाजिक इकाईयों के मध्य आपसी संबंध को यह स्वत: ही अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

समाज की जटिलता एवं विषमता के अनुरूप ही भाषा का भी जटिल एवं विषम होना स्वभाविक है। इसी संदर्भ में लेवाब का कथन है–'भाषा स्वभावत: विषम है।'[1]

भाषा सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिफलन होती है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का नियंत्रण तथा वैयक्तिता ही भाषा को सीमित बनाते हैं। किसी भी भाषिक समुदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य बहुमुखी होते हैं। व्यवहार के धरातल पर यही भाषा को बहुमुखी

 ISSN 0975-735X

एवं विषम बनाते हैं।

समाज-भाषावैज्ञानिकों ने भाषा को संपूर्ण संप्रेषण व्यवस्था के संदर्भ में देखने के लिए किसी भाषाभाषी समाज को इकाई मानकर देखना आवश्यक और सार्थक माना। भाषा समाज की व्यापक संप्रेषण व्यवस्था का अंग होने के कारण अन्य प्रयोजनों के साथ भी उसका संबंध होना संभव है। संप्रेषण-व्यवस्था को समग्रता में देखने के लिए समाज भाषा विज्ञान अपने सिद्धांत में कुछ अन्य प्रक्रियाओं को भी समेटता है, जैसे कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण। कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण समाज भाषाविज्ञान से संबद्ध है। समाज-भाषावैज्ञानिकों ने सामाजिक संदर्भ में भाषा के अध्ययन पर विशेष बल दिया है। भाषा को समाज से जोड़कर देखने पर भाषा के विविध रूप एवं शैलियाँ सामने आती हैं। इसी वैविध्य ने भाषा को विषमरूपी मानकर अध्ययन करने की ओर प्रेरित किया। आज किसी भी भाषायी समाज में कोड-मिश्रण तथा कोड-अंतरण की प्रवृत्ति सहज ही देखी जा सकती है। यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि जिस भाषायी समाज का संदर्भ अन्य भाषायी समाज से जितना अधिक होगा, उस समाज में कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक मात्रा में दृष्टिगत होगी।

कोड–'मनुष्य अपनी भावनाओं, विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है या भाषा द्वारा उन्हें मूर्त रूप देता है। भाषा का मूर्त रूप ही कोड कहलाता है। उसकी यह अभिव्यक्ति व्यक्ति सापेक्ष, संदर्भ सापेक्ष और स्थिति सापेक्ष होती है। कौन, कब, किससे, कहाँ और क्या बात कर रहा है–अभिव्यक्ति की इस पूर्ति के लिए व्यक्ति अपने अर्जित भाषा ज्ञान से शब्दों एवं शैलियों का चयन करता है। वक्ता द्वारा चयन की गई भाषा ही उसका कोड है।'[2]

सन् 1958 में बर्नस्टीन ने कोड को दो रूपों में अभिव्यक्त किया, जिसे उन्होंने संकुचित और व्यापक कोड का नाम दिया। बर्नस्टीन ने यह विभाजन सामाजिक आधार पर किया। उन्होंने निम्न एवं मध्यमवर्ग की भाषा का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि व्यापक कोड का प्रयोग वैचारिक एवं औपचारिक स्थितियों में होता है, जबकि संकुचित कोड का प्रयोग सीमित संदर्भों एवं प्रकार्यों तक ही सीमित रहता है। निम्नवर्ग के व्यक्ति संकुचित 'कोड' का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उनके प्रयोग संदर्भ सीमित होते हैं। मध्यमवर्ग के व्यक्तियों के प्रयोग संदर्भ व्यापक होते हैं, इसीलिए वे व्यापक एवं संकुचित दोनों कोडों का प्रयोग करते हैं। भाषा अपनी प्रकृति में विषमरूपी होती है। विकल्पन और भाषाभेद उसके अनिवार्य लक्षण हैं। वैकल्पिक और अवैकल्पिक नियम भाषा व्यवस्था के भीतर होते हैं, परस्पर संबद्ध होते हैं और स्तरीकृत (उच्च वर्ग, मध्यमवर्ग, निम्नवर्ग) समाज की संप्रेषण व्यवस्था में इस तरह बँधे होते हैं कि एक के संदर्भ के अभाव में दूसरे को समझना असंभव सा प्रतीत होता है।

कोड-मिश्रण–कोड मिश्रण की संकल्पना 1976 में सामने आई। जब काचरू, हॉच और ऑक्सर ने कोड मिश्रण की स्वतंत्रता संकल्पना दी। एस॰ वर्मा के अनुसार–'एक भाषा का वाक्य बोलते हुए दूसरी भाषा के शब्दों रुपिमों और उपवाक्यों को ले आना कोड-मिश्रण है।'[3]

कोड-मिश्रण एक भाषा की भाषिक इकाइयों के स्थान पर दूसरी भाषा की भाषिक इकाइयों का मिश्रण है। कोड मिश्रण में एक आधार भाषा होती है। व्याकरण नियम आदि भी उसी भाषा के होते हैं। अन्य भाषा का मिश्रण उसी भाषा के नियमानुसार होता है। कोड-मिश्रण तभी संभव है, जब वक्ता और श्रोता, दोनों को ही दोनों भाषाओं का ज्ञान हो। निश्चित नियम व्यवस्था द्वारा संचालित

होने के कारण नियमों को तोड़कर किया गया मिश्रण हास्यास्पद हो जाता है। कोड-मिश्रण शब्द पदबंध एवं वाक्य स्तर पर होता है और समाज के किसी भी वर्ग में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में हिंदी भाषा में संस्कृत, अँग्रेज़ी एवं अरबी, फ़ारसी शब्दावली का मिश्रण दृष्टिगत होता है।

कोड अंतरण–कुछ वर्ष पूर्व तक कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण को एक ही माना जाता रहा है, लेकिन आज कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण को अलग-अलग माना जाने लगा है। इन दोनों संकल्पनाओं के अंतर की ओर संकेत करते हुए काचरू ने लिखा है–'कोड-परिवर्तन एक कोड से दूसरे कोड में परिवर्तन को बताता है। कोड परिवर्तन स्थिति सापेक्ष, प्रकार्य सापेक्ष और व्यक्ति सापेक्ष परिवर्तन है, जबकि कोड मिश्रण में एक भाषा की भाषिक इकाइयाँ दूसरी भाषा की भाषिक इकाइयों में स्थांतारित हो जाती हैं। इस स्थांतरण से एक अन्य भाषिक कोड का जन्म होता है, जिसे भाषा संपर्क का संकुचित या कम संकुचित कोड कहा जा सकता है।'[4]

कोड अंतरण के लिए वक्ता का द्विभाषिक होना आवश्यक है तथा वक्ता को दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान होना अपेक्षित है। क्योंकि कोड अंतरण वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा के व्याकरण नियमों का ज्ञान रखता हो। बहुभाषी समाज में यह देखा गया है कि वक्ता श्रोता के सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि स्तरों तथा सामाजिक वर्ग, लिंग-भेद व उसकी सामाजिक भूमिका को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषा रुपों का विकल्पवत् प्रयोग करता है। इस स्थिति में भाषा प्रयोग परिस्थिति से निर्धारित होते है। दूसरी स्थिति यह है कि जब संप्रेषण की आवश्यकता के कारण एकाधिक भाषाओं के बीच संचरण होने से एक नए मिश्रित कोड का विकास होने लगता है। कोड-अंतरण के लिए आवश्यक है कि वक्ता दो या दो से अधिक भाषाएँ जानता हो। एक से अधिक भाषाएँ जानने वाला भाषा समुदाय जब भाषिक व्यवहार में प्रवृत होता है, तो वक्ता परिस्थिति के अनुसार, श्रोता के साथ संबंध के आधार पर, भाषिक व्यवहार में भाग लेनेवाले व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि स्थितियों के अनुसार एकाधिक भाषाओं के बीच परिवर्तन करता है। अभिप्राय यही है कि वक्ता का यह भाषिक व्यवहार उसकी विभिन्न परिस्थितियों से निर्धारित होता है।

कोड-मिश्रण और कोड-अंतरण के लिए वक्ता और श्रोता, दोनों का ही द्विभाषिक या बहुभाषिक होना आवश्यक है। द्विभाषिकता का संबंध व्यक्ति का दो भाषाओं के ज्ञान से है तथा बहुभाषिकता का संबंध व्यक्ति का दो या दो से अधिक भाषाओं के ज्ञान से है। यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति दोनों भाषाओं का प्रयोग मातृ भाषावत् करता हो, या वह दोनों भाषाओं के प्रयोग में सक्षम हो। यह भी संभव हो सकता है कि वह एक के प्रयोग में पूर्णत: सक्षम हो और दूसरी के प्रयोग में अक्षम, केवल उसे पढ़ या सुनकर समझ सके। हिंदीभाषा के संदर्भ में यह स्थिति बहुत अधिक दृष्टिगत होती है कि हिंदीभाषी अँग्रेज़ी भाषा को पढ़ या सुनकर समझ तो लेता है, किंतु उसका प्रयोग उतनी सक्षमता से नहीं कर पाता, जितनी सक्षमता से मातृभाषा का प्रयोग करता है। 'जिसे हम हिंदी भाषिक समाज कहते हैं, उसका भाषायी कोष दो या दो से अधिक बोलियों, हिंदूस्तानी की दो आरोपित शैलियों तथा उच्चवर्ग में अँग्रेज़ी भाषा से संक्रमित है। और जो इस प्रकार एक दूसरे से गूथे हुए हैं कि उसमें कोड परिवर्तन सहज और स्वभाविक प्रक्रिया के रूप में सामने आता है'[5]

हिंदीभाषा में कोड-मिश्रण तथा कोड-अंतरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक दृष्टिगत होती है,

क्योंकि हिंदी एक विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा है। उसकी अनेक बोली और उपबोली हैं। इसके अतिरिक्त हिंदीभाषा में अँग्रेज़ी और अरबी-फ़ारसी भाषा का मिश्रण भी बहुत अधिक दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष अनेक वर्षों तक मुसलमानों और अँग्रेज़ों का गुलाम रहा है। इसलिए मुस्लिम और आंग्ल प्रभाव में ही वह नहीं आया, अपितु इन दोनों की संस्कृति और भाषा से भी वह प्रभावित हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष की अपनी भाषिक परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है, फिर भी उर्दू और अँग्रेज़ी भाषा के प्रभाव ने उसे और अधिक प्रभावशाली बनाया है। प्रारंभ में उर्दू का प्रभाव अधिक था, किंतु बाद में अँग्रेज़ी का प्रभाव बढ़ता गया और उर्दू का प्रभाव क्रमशः कम होता गया। अँग्रेज़ी शिक्षा अँग्रेज़ी में काम-काज, रहन-सहन, आचार-विचार-व्यवहार सभी में अँग्रेज़ी भाषा के प्रयोग ने इस देश की भाषिक परंपरा को मिला-जुला रूप प्रदान किया है। इसका दुष्परिणाम यह भी हुआ कि यहाँ का मनुष्य अँग्रेज़ जैसा बनने में गर्व का अनुभव करने लगा। अँग्रेज़ी का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि आज समाज के किसी भी वर्ग में अँग्रेज़ी शब्द-प्रयोग के बिना अभिव्यक्ति करना संभव ही नहीं रहा। आज समाज में भाषा की जो स्थिति है, उसमें अँग्रेज़ी के शब्द ही नहीं, वाक्यांश तथा वाक्य तक दृष्टिगत होते हैं। आज तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि उच्चवर्ग यानि अभिजात्यवर्ग अपने आपको सबसे अलग और सबसे ऊपर देखना चाहता है और इसके लिए उसने भाषा को भी अपने आपको श्रेष्ठ दिखाने का माध्यम बना लिया है। वैज्ञानिक प्रगति ने आज सारी दुनिया को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है। आज भारत में अनेक मल्टीनेशनल कंपनियाँ आ गई हैं। उन कंपनियों में काम करनेवाले भारतीय अँग्रेज़ी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में जो कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण देखा जाता है, उसमें हिंदी-अँग्रेज़ी कोड मिश्रण नहीं, बल्कि अँग्रेज़ी-हिंदी कोड-मिश्रण देखने को मिलता है।

जहाँ एक ओर समाज में भाषीय परिवर्तन हो रहा था, वहीं साहित्य में भी पुरानी भाषा का स्थान नई भाषा ले रही थीं इसी संदर्भ में डॉ॰ कमलेश्वर के शब्दों में-'चारों तरफ़ विचारों, प्रतिक्रियाओं, वादों-प्रतिवादों, आंदोलनों, शोषण, अत्याचार, असुरक्षा वगैरह की इतनी उलझी हुई आवाजें थीं कि आदमी पुरानी भाषा की आवाज़ें सुन नहीं पा रहा था' [6]

आज एक भाषायी समाज का संबंध अन्य भाषायी समाज से जुड़ता ही जा रहा है। इसलिए समाज में कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक मात्रा में दृष्टिगत होने लगी है। जहाँ तक हिंदी भाषा में कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण की बात है तो वह हिंदीभाषी समाज में किसी भी वर्ग में सहज ही देखा जा सकता है।

संकेत

1. हिंदी भाषा का सामाजिक संदर्भ, सं॰ रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, रमानाथ सहाय, पृ॰ 27
2. Language and Situation, Gregory, Mechal and Carrol Sussnnc, page 80
3. हिंदी में आगत अँग्रेज़ी शब्दों का अर्थपरक अध्ययन, मृणालिनी अवस्थी, पृ॰ 101
4. Code Mixing as a Communicative Strategy, B. B. kachru, page 112
5. हिंदी का सामाजिक संदर्भ, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, रमानाथ सहाय, पृ॰ 75
6. नई कहानी की भूमिका, डॉ॰ कमलेश्वर, पृ॰ 209

संगीत : ईश्वरीय अनुभूति एवं मोक्षप्राप्ति का साधन एक अध्ययन

डॉ॰ संतोष पाठक, निदेशक
एसोसिएट असिस्टेंट, संगीत विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, (राजस्थान)
वर्षा शर्मा, शोधार्थी
संगीत (गायन)

भारत की सभ्यता विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में अपना महत्त्वपूर्ण एवं अलग स्थान रखती है। माना जाता है कि भारतीय सभ्यता जितनी पुरानी है, उससे कहीं अधिक पुराना हमारा भारतीय संगीत है, क्योंकि मानव जैसे-जैसे स्वयं के रहन-सहन, आचार-विचार में परिपवक्ता लाता गया, वैसे-वैसे सभ्यता का विकास होता गया, परंतु संगीत इस संसार में तबसे है, जबसे आदिम जाति का भी विकास नहीं हुआ था।

भारतीय संगीत का इतिहास स्वयं में इतना महान एवं रहस्यों से परिपूर्ण है कि इसका आरंभिक एवं अंत बिंदु निश्चित नहीं किया जा सकता, परंतु हमारा भारतीय संगीत प्रारंभ से ही ईश्वर-प्राप्ति का सरल एवं सुलभ साधन माना जाता रहा है।

वेद जो हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की अनमोल धरोहर माने जाते हैं, उन वेदों में संगीत व्याप्त है और हमारा वैदिक संगीत पूर्णत: ईश्वरोपासना पर आधारित है, जिसके अंतर्गत ईश्वर-स्तुति एवं संगीत द्वारा मोक्ष-प्राप्ति आदि को महत्त्व दिया गया है।

संगीत भावानुभूति की इकाई है एवं आध्यात्मिकता का साधन भी। संगीत के अंदर भावों को व्यक्त करनेवाली ध्वनियाँ, एकता, साम्य एवं सानुकूलता के दर्शन होते हैं। संगीत के इतिहास की जब हम बात करते हैं तो कहीं संगीत को ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना गया है, तो कहीं साक्षात ईश्वर के रूप की संज्ञा दी गई है। संगीत को आध्यात्मिक अभिव्यक्ति एवं मोक्ष का साधन मानकर संगीत द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती है। इसी कारण संगीत को ईश्वरोपासना हेतु एकाग्रता प्रदान करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम माना गया है।

प्राचीनकाल में वैदिक संगीत के अंतर्गत ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग बताए गए हैं–(1) ज्ञान मार्ग, (2) कर्ममार्ग और (3) उपासना मार्ग।

इनमें जो उपासना मार्ग है, वह संगीत से संबंधित है, जिसके द्वारा प्रभु से भक्त अपना सीधा संपर्क साधता है और मोक्ष की कामना करता है।

संगीत पूर्णत: एक अनुभूति का विषय है और मानव-मन का आधार है। जब भक्त संगीत के माध्यम से अपने प्रभु की भक्ति में अत्यंत लीन हो जाता है, जिसके करण उसे स्वयं की

 ISSN 0975-735X

सुध नहीं रहती, ऐसी स्थिति में वह अपने प्रभु को स्वयं के आस-पास महसूस करता है। इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महाकवि सूरदास हैं। सूर श्रीकृष्ण की भक्ति पदों के कीर्तन-गायन द्वारा करते थे। सूर जन्मांध स्वीकार किए जाते हैं, जिन्होंने कभी अपने बाह्य चक्षुओं से प्रभु रूप के दर्शन नहीं किए, परंतु जब वे संगीत के माध्यम से प्रभु की भक्ति में लीन हो जाते थे तो अपने अंतर्मन के चक्षुओं से अपने प्रिय हरि 'श्रीकृष्ण' की अनुभूति महसूस करते थे और संगीत के माध्यम से ही सूर को मोक्ष की प्राप्ति हुई। यही है संगीत की शक्ति, जो आत्मा को परमात्मा में विलीन कर देती है। मानव-मन के स्वार्थ, बुराइयों आदि का नाश कर देती है।

प्राचीन, मध्य एवं आधुनिककाल में न जाने कितने साधकों, चिंतकों तथा महर्षियों ने ईश्वरोपासना में संगीत का आश्रय लेकर ख्याति प्राप्त की। इस कारण संगीत की यह शक्ति आज तक भी यथावत् सजीव एवं प्रभावशाली है।

संगीत स्वयं में एक ईश्वरीय कला है, जो इसमें डूब जाता है, उसको इस कला में ही ईश्वर के साक्षात दर्शन हो जाते हैं। आज तक जितने भी महान संगीतज्ञ हुए है, उनका विचार है कि संगीत उनके लिए कोई कला नहीं ब्लकि साक्षात ईश्वर का जिसमें भावों की गहराई, स्मृति की उत्कृष्टता, मानव-मन की अनुभूति, मोक्ष की इच्छा, पूजा एवं याचना सभी कुछ समाहित है।

भारतीय ऋषि, मुनियों एवं आचार्यों ने संगीत को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय माना है, 'संगीत रत्नाकर' में कहा गया है–

गीतेन प्रियते देवः सर्वज्ञाः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरन्तोअपि वंशध्वनिवश गतः।
तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकस साधनम्।।

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि संगीत स्वयं में सर्वश्रेष्ठ है, संगीत की महिमा अनंत है और जिस भी व्यक्ति को संगीत का वरदान प्राप्त है, वहीं इसकी शक्ति एवं सौंदर्य को महसूस कर सकता है। संगीत द्वारा साधक एवं साध्य दोनों को ही बराबर सुखानुभूति की प्राप्ति होती हैं, इसलिए संगीतकला मोक्ष का साधन एवं ईश्वर-प्राप्ति का सुलभ मार्ग है।

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ॰ अमिता शर्मा, शास्त्रीय संगीत का विकास
2. डॉ॰ सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास
3. डॉ॰ पूनम दत्ता, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य

गागर में सागर का आधुनिक प्रतिरूप है 'बूँद के अंदर समंदर'

डॉ॰ रमेश तिवारी

काव्य के दो महत्त्वपूर्ण रूप हैं–प्रबंध और मुक्तक। मुक्तकों की बात करें तो हिंदी साहित्याकाश के रीतिकालीन कवि बिहारीलाल का स्वतः स्मरण हो जाता है। उन्होंने दोहा छंद में बिहारी सतसई की रचना की, जिसके सात सौ दोहों के प्रभाववश ही विद्वानों को लिखना पड़ा कि बिहारीलाल ने 'गागर में सागर' भर दिया है। 'देखन में छोटे लगें' के बावजूद इनकी व्याप्ति बहुत अधिक थी और आज भी कम नहीं है। वास्तव में यही मुक्तकों की सार्थकता है कि वे अपने छोटे आकार के बावजूद अपने आपमें एक पूरा प्रसंग अथवा कथन समेटे रहते हैं। इसी परंपरा में इन दिनों एक नया मुक्तक-संग्रह देखने-पढ़ने को मिला, जिसे पढ़कर एक नहीं बल्कि अनेक अनुभवों से गुज़रने का अवसर प्राप्त हुआ। इस संग्रह का शीर्षक है 'बूँद के अंदर समंदर' और इसके रचनाकार हैं डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल। डॉ॰ अग्रवाल ने मुक्तकों और रुबाइयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए इस नए और महत्त्वपूर्ण संग्रह की रचना की है। इस संग्रह के माध्यम से डॉ॰ अग्रवाल ने अपने जीवनानुभवों और संघर्षों के निचोड़ को छोटे-छोटे मुक्तकों का रूप देकर पाठकों तक पहुँचाने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संग्रह के आरंभ में ही डॉ॰ अग्रवाल ने अपने लेखन की दिशा और दृष्टि को स्पष्ट करने की कोशिश की है। वे साहित्य के दो आधार बिंदुओं 'परंपरा और प्रयोग' पर प्रकाश डालते हुए प्रयोग की महत्ता को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि "साहित्य-रचना का एक सूत्र परंपरा से जुड़ा रहता है तो दूसरा सूत्र रचनाकार की प्रयोगात्मक गतिविधि से।" वास्तव में ये दोनों ही बिंदु अपनी-अपनी जगह महत्त्व रखते हैं। इसी में डॉ॰ अग्रवाल आगे लिखते हैं–"जिन रचनाकारों में नित नया करने की धुन होती है, विवेक होता है और परंपराओं को तोड़कर आगे निकल जाने का साहस भी, वे साहित्य के विकास को गति देने में सफल रहते हैं।.... परंपरा का अनुयायी बनने से, प्रयोग का परचम लहराने वाला रचनाकार अधिक सराहनीय होता है,....यदि उसका काम बहुत ऊँचे स्तर का नहीं भी है, तब भी यह तो माना ही जाएगा कि उसने परंपरावादी रचनाकार की तुलना में अपने प्रयोगों द्वारा साहित्य के विकास की बेहतर संभावनाओं को स्थापित करने की चेष्टा की है। मैं फिर दोहराना चाहता हूँ कि परंपरा से प्रयोग बेहतर होता है।"(पृष्ठ 7) जैसा कि मैंने शुरू में ही संकेत किया है इस संग्रह को ध्यान से पढ़ने के उपरांत यह समझने में किसी को परेशानी नहीं होगी कि लेखक ने जो अपने जीवन में देखा, भोगा और जीया है, उसका निचोड़ वह अपने पाठकों को देना चाहता है, जिससे उनका जीवन सही दिशा की ओर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सके। पूर्ववर्ती पीढ़ी जब स्वयं परंपरा में जीते हुए भी उसी परंपरा से बेहतर प्रयोग को मानने लगे तो इसका निहितार्थ यही

 ISSN 0975-735X

समझना चाहिए कि पूर्ववर्ती पीढ़ी स्वयं परंपरा के प्रति बहुत संतुष्ट नहीं है और इसीलिए वह प्रयोगधर्मिता को प्रमुखता दे रही है। लेखक की आत्मस्वीकृति गौरतलब है–"मेरी प्रवृत्ति सदैव प्रयोगात्मक रही है। मैंने परंपरा पर प्रयोग को प्राथमिकता दी।" निष्कर्ष यह है कि इस संग्रह का रचनाकार परंपरा के नाम पर किसी भी बात को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेने के स्थान पर निरंतर प्रयोगधर्मिता को ही श्रेयस्कर मानता है और स्वयं भी अपने जीवन में इसी मार्ग का अनुसरण करता रहा है। रचनाकार की इस ईमानदार अभिव्यक्ति की भी सराहना करनी होगी, जिसमें वह परंपरा और प्रयोग में प्रयोग को बेहतर बताते हुए भी परंपरा को पूरी तरह खारिज करने की वकालत नहीं करता। इसका मतलब यह समझना उचित होगा कि जहाँ परंपराओं को स्वीकार करने से मानव-जीवन में निष्क्रियता की स्थिति बने, अहितकारी परिस्थितियाँ बनें; वहाँ परंपराओं को छोड़ने में संकोच नहीं करना चाहिए और पूरी तरह प्रयोगधर्मिता को अपनाना चाहिए। वहीं जहाँ परंपराओं से इस तरह का कोई ख़तरा न हो, वहाँ परंपराओं के साथ भी जीवन चले तो कोई चिंता की बात नहीं होनी चाहिए। परंपरा और प्रयोग में से प्रयोग को बेहतर बताते हुए लेखक ने परंपरा को पूरी तरह खारिज न करते हुए जो लिखा है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। परंपरा को भली-भाँति समझाते हुए लेखक लिखता है–"यह बात सदैव मेरे मन में रही कि नित नए प्रयोग करते हुए भी मेरा संबंध परंपरा से न टूटे, क्योंकि ऐसा कोई प्रयोग न तो सफल हो सकता है और न उसे स्वीकार्य ही बनाया जा सकता है, जिसकी नींव परंपरा पर न रखी हो।"(पृष्ठ 9) निहितार्थ यह कि हमारी दिशा प्रयोगधर्मी है, किंतु आधार या नींव परंपरा को बनाना होगा। तभी एक बेहतर समाज की परिकल्पना साकार हो सकती है, एक बेहतर साहित्य की रचना संभव हो सकती है। लेखक के इस कथन से उसकी दृष्टि में जीवन और व्यवहार को लेकर एक संतुलन का प्रमाण मिलता है।

डॉ॰ अग्रवाल अपनी रचनाओं के संदर्भ में भी पाठकों को समग्र मूल्यांकन की आज़ादी देते हैं। इस संग्रह की रचनाओं के मूल्यांकन में पाठकों की भागीदारी सुनिश्चित करने की दिशा में यह एक बेहतर प्रयास कहा जा सकता है। मुक्तकों की एक विशेषता यह होती है कि वे अपने आपमें अर्थवत्ता को समेटे और एक-दूसरे से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं। इस दृष्टि से इस संग्रह के मुक्तक भी अपने आपमें स्वतंत्र हैं। वास्तव में जब हम अपने-अपने जीवन के बारे में विचार करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि हमारी जीवन-नौका सुख-दु:ख, समझौतों-संघर्ष के दो किनारों के बीच निरंतर गतिशील रहती है। गति ही इसके जीवित होने की निशानी है। जब मैं जीवन को संपूर्णता में देखने की कोशिश करता हूँ तो यह पाता हूँ कि यह जीवन असंख्य यात्राओं का समुच्चय है। जहाँ पर कोई एक यात्रा समाप्त या पूर्ण होती है, ठीक वहीं से एक नयी यात्रा का आरंभ भी होता है। और हम सब अपने जीवन में ऐसी एक नहीं, अनेक यात्राओं को जीते हैं। इसी संदर्भ में मैंने कहा कि यह मानव-जीवन असंख्य यात्राओं का समुच्चय है। यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि हमारी सभी यात्राओं के अनुभव भी बहुत महत्त्वपूर्ण और व्यापक होते हैं। अपने आपमें अनुपम और अद्वितीय। अनुकूल-प्रतिकूल, हर्ष-विषाद, हानि-लाभ, यश-अपयश से पूरी तरह सराबोर। हम सबके जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब हम भीड़ में रहते हुए भी अकेलापन महसूस कर रहे होते हैं। अकेलेपन की इस त्रासदी को अकेले ही भोगने के लिए अभिशप्त होते हैं। ऐसे समय में साहित्य, विशेष रूप से उत्कृष्ट साहित्य, हमें जीवन जीने के

लिए प्रवृत्त और प्रतिबद्ध करता है। कठिन समय सभी के जीवन में आता है। डॉ॰ अग्रवाल के जीवन में भी संघर्षों की कोई कमी नहीं रही है। किंतु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने इन परिस्थितियों का भी रचनात्मक उपयोग किया और अपने जीवन की पाठशाला में सीखे गए सबक को उन्होंने अपने पाठकों के लिए सँजोकर रखा है और उचित समय पर इन्हें शब्दबद्ध कर पाठकों के बीच उनके जीवन-संघर्षों में डटे रहने के लिए इन रचनाओं को मुक्तकों के रूप में बिखेर दिया है। इस संग्रह में हमारे जीवन के मुश्किल वक़्त में साथ देने और हमें ताक़त देने के लिए अनेक मुक्तकों की रचना की गयी है। संग्रह के शीर्षक वाला मुक्तक ही देखें–

रोकेगा कहाँ पाँव यह पत्थर मेरा
चलता है तो रुकता नहीं लश्कर मेरा
मैं ओस की इक बूँद नहीं हूँ लोगो
हर बूँद के अंदर है समंदर मेरा। (पृष्ठ 18)

यानि जब आपके लिए जीवन ओस की बूँदों-सा क्षणभंगुर प्रतीत होने लगे, उस समय कवि अपने मुक्तकों के सहारे पाठकों को ताक़त और उम्मीद देना चाहता है और उम्मीद भी कोई छोटी-मोटी नहीं, बल्कि एक समंदर की सामर्थ्य वाली उम्मीद। एक बूँद में समंदर भर की बेचैनी भरकर पाठकों को ऊर्जा से सराबोर करना ही लेखक का उद्देश्य है। वह निरंतर अपने पाठकों से संवाद बनाए रखना चाहता है–

ढूँढना कोई अगर चाहे दिशाएँ कम नहीं
खिड़कियों को खोलकर रखो हवाएँ कम नहीं
एक ज्ञानी क्या पते की बात मुझसे कह गया
भावना गर मन में हो संभावनाएँ कम नहीं। (पृष्ठ 19)

आशय यह है कि सारा मामला हमारी भावनाओं से जुड़ा है, भावना है तो संभावनाएँ अवश्य बनेंगी। 'जाकी रही भावना जैसी' वाला मामला है। इस प्रकार के छोटे-छोटे मुक्तक आकार में तो छोटे हैं, किंतु इनका प्रभाव बहुत बड़ा है। ऐसे एक-एक मुक्तक आपके पूरे जीवन को दिशा देने में सक्षम हैं। हममें लगन और समर्पण की भावना हो तो कुछ भी हासिल करना मुश्किल नहीं है। कवि यही संदेश अपने मुक्तकों के द्वारा देना चाहता है–

बंजरों में जल मिलेगा प्यास तो बाक़ी रहे
दिल के अंदर दर्द का एहसास तो बाक़ी रहे
किसलिए बे-आस होकर राह तकना छोड़ दूँ
कोई आए या न आए, आस तो बाक़ी रहे। (पृष्ठ 20)

प्यास और आस के बिना जीना भी कोई जीना है? सारी ज़िंदगी की सक्रियता का आधार तो यही दो कारक हैं। इनके अभाव में जीवन की सक्रियता ही समाप्त हो जाएगी। सक्रियता का ख़त्म होना जीवन के समाप्त होने का सूचक होगा। इसलिए जीवन को बनाए और बचाए रखना है तो उसकी सक्रियता को बचाए रखना अनिवार्य है। मानव-जीवन जड़ न होने पाए, निष्क्रिय न होने पाए, ख़त्म न होने पाए इसके लिए डॉ॰ अग्रवाल निरंतर रचनाकर्म करते हैं। मानो पाठकों की प्यास और आस दोनों को ही बनाए और बचाए रखने के प्रति वे दृढ़ संकल्पित हैं। प्यास और आस के साथ-साथ अपने जीवन-पथ पर डटे रहना भी ज़रूरी है। डटे रहने के लिए डटे

 ISSN 0975-735X

रहने की धुन भी ज़रूरी है। तमाम अवरोधों-विरोधों के बावजूद डटे रहने की धुन ही है, जो हमें मंज़िल की ओर बढ़ने में मददगार साबित होती है–

जिनको पानी है सफलता, जिनको करना है सफर
ठोकरें खाते हैं पर हटते नहीं हैं राह से
अंकुरित होता है पौधा दोस्त, धरती चीरकर
कितना कोमल है, मगर भरपूर है उत्साह से। (पृष्ठ 20)

प्रेमचंद ने बहुत ठीक कहा है–साहित्य समाज का दर्पण है। जो समाज में होगा, दर्पण में वही तो दिखेगा। आज हम सब देखते हैं कि समाज में दिखावे की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही है। चारों तरफ़ दिखावे की प्रवृत्ति का ही बोलबाला है। साहित्य में भी इस प्रवृत्ति को रेखांकित किया जाने लगा है। इसी देश में एक दौर ऐसा भी था, जब मनसा-वाचा-कर्मणा अर्थात मन, वचन और कर्म में तादात्म्य रखते हुए एकरूप और इकहरा जीवन जीने का चलन था। इससे विश्वसनीयता बनी रहती थी। फिर धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति लुप्तप्राय हो गई। कालांतर में जो बदलाव आए उनके अनुरूप आज लोगों में दिखावे की प्रवृत्ति, दोहरा जीवन जीने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लोगों में पारस्परिक विश्वसनीयता का संकट खड़ा हो गया। आज सब-कुछ दिखाने के लिए है और जो जैसा दिखता या दिखाता है वैसा बिलकुल नहीं है। इससे विश्वसनीयता का संकट तो होता ही है, पहचान का संकट भी खड़ा होता है। आज जिसे देखो स्वयं को विज्ञापित करने की अंधी दौड़ में सिर से पाँव तक डूबा हुआ है। दिखावे की इस प्रवृत्ति ने 'मुँह में राम बगल में छुरी' आदि कहावतों को जन्म दिया है। औपचारिकताओं के समाज और दिखावे की प्रवृत्ति ने सहज जीवन और वास्तविक प्रेम के क्षेत्र को सीमित किया है। कवि समाज के इन ख़तरों के प्रति भी पाठकों को आगाह करना चाहता है। एक मुक्तक की पंक्तियों को देखें–

शांत मुस्कानें अधर पर फैलती-खिलती रहें
घर में बस धन ही नहीं हो, प्यार का सागर भी हो।
मन के भीतर भी अँधेरे रास्ते हैं हर तरफ़
रोशनी बाहर नहीं, इंसान के भीतर भी हो। (पृष्ठ 21)

दिखावे की प्रवृत्ति चाहे जितना बढ़ जाए, समाज की बेहतरी की बात जब भी होगी, अंत:पक्ष की शुद्धता और प्रेमभावयुक्त सहज व्यवहार को सदा प्राथमिकता दी जाएगी।

कुछ लोग भूत, वर्तमान और भविष्य को लेकर सदा असंतुष्ट और संशयग्रस्त रहते हैं। कम से कम लागत या बिना लागत के ही अपने लिए सब-कुछ हासिल करना चाहते हैं। शंकाओं के इस वातावरण में दिशाभ्रम और दिशाहीनता की स्थिति बनती जाती है। कवि इस प्रकार की परिस्थितियों में बदलाव चाहता है। वह एक मुक्तक में लिखता है–

नन्हा पौधा रोपकर साये की आशा किसलिए
फल जो दे छाया भी दे, वह पेड़ बोना चाहिए
सुब्ह कल की शुभ न होगी, पहले यह शंका हटे
मन से कल का भय जो है, वह दूर होना चाहिए। (पृष्ठ 21)

इस संग्रह में ऐसे एक से बढ़कर एक मुक्तक पिरोये गए हैं; और सोने पे सुहागा यह कि प्रत्येक मुक्तक में एक संदेश छिपा हुआ है। अपेक्षाओं और अधिकार से अधिक कवि ने कर्त्तव्य

को प्रमुखता दी है। कवि यह जानता है कि अपेक्षाओं और अधिकार भावना के कारण ही मनुष्य अक्सर दुखी रहता है। इसलिए कवि यह चाहता है कि उसके पाठक सही दिशा को अपनाएँ और कर्त्तव्य-पथ पर निरंतर अग्रसर रहें। वह अपने पाठकों से कहता है–

जितना संभव हो, इसे सुंदर बना
तुझको क्या दुनिया मिली है, भूल जा
दोस्तों से सुख मिलें तो याद रख
उनसे जो पीड़ा मिली है, भूल जा। (पृष्ठ 27)

यह समझना बहुत ज़रूरी है कि दुनिया में किसी को अपना बनाने से पूर्व स्वयं उसका बनना पड़ता है। उसका विश्वास जीतना पड़ता है–"कोई दुनिया में किसी का नहीं बनता यों ही, लोग अपने तो बनाने से बना करते हैं।"(पृष्ठ 28)

मनुष्य को हर हाल में अपनी सोच सकारात्मक रखनी चाहिए। गीता में भी यही संदेश दिया गया है–'सुखदुखेसमे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।' सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय हर हाल में समान भाव रखें। कवि का संदेश भी कुछ ऐसा ही है–

नाम चाहा कभी न भूल के शोहरत माँगी
हमने हर हाल में खुश रहने की आदत माँगी। (पृष्ठ 29)

एक सफल मनुष्य को हर हाल में खुश रहने के साथ-साथ किसी भी परिस्थिति के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। किस प्रकार का हमारा आचरण हो, इसे लेकर भी कवि का मत बहुत स्पष्ट है–

आचरण में मोम की नरमी भी हो, फौलाद भी
फूल बनकर म्यान में तलवार रहना चाहिए
कब समय की माँग क्या हो, यह पता चलता नहीं
आदमी को हर घड़ी तैयार रहना चाहिए। (पृष्ठ 37)

इस संग्रह को पढ़ते हुए यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि डॉ॰ अग्रवाल की पारखी नज़र सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं से सबक़ लेती है और उनका रचनात्मक उपयोग करते हुए अपनी दूरदर्शी दृष्टि पर भरोसा रखती है। कवि देखता है कि आज के युवाओं की एक प्रमुख समस्या बेरोज़गारी है। इसी संदर्भ में कवि देश के निराश-हताश युवाओं को मानो भरोसा देते हुए कहना चाहता है–

हाथ खाली हो तो मत शोहरत के पीछे भागिए
कारनामा कीजिए, फिर नाम पैदा कीजिए। (पृष्ठ 37)

कवि बेरोजगारी का एक कारण अज्ञानता को भी मानता है–'मन की बेकारी जो है अज्ञानता की देन है, पूछिए मत काम क्या है, काम पैदा कीजिए।"(पृष्ठ 37)

संग्रह के आरंभ में रुबाइयों और मुक्तकों के बारे में जो संक्षिप्त किंतु महत्त्वपूर्ण चर्चा डॉ॰ अग्रवाल ने की है, वह भी बड़े काम की है। यह संग्रह तो मानो फूलों का एक ऐसा गुलदस्ता बन गया है, जिसकी निर्मिति भिन्न-भिन्न रूप-रस-गंध के फूलों से की गई है; और उनकी निर्मिति में परंपरा और आधुनिकता की संतुलित दृष्टि से काम लिया गया है। वास्तव में कवि एक ऐसी दुनिया बनाना चाहता है, जिसमें रहनेवाले दु:ख-तकलीफ़ों से घबराकर भागें नहीं,

 ISSN 0975-735X

बल्कि उनका मुक़ाबला करें और अपने दमखम से इस कठिन जीवन को आसान बना लें। वह कहता है–

जिनको बेहतर नहीं, बेहतर से हो बेहतर दरकार
काम से अपने वे पहचान बना लेते हैं
जिनमें विपदाओं से लड़ने की शक्ति होती है
अपने जीवन को वे आसान बना लेते हैं। (पृष्ठ 67)

अनेक ख़ूबियों से भरा-पूरा यह संग्रह पठनीय है। मुझे उम्मीद है कि यह संग्रह पाठकों को जीवन जीने के प्रति संतुलित दृष्टि प्रदान करेगा, उन्हें जीवन में कठिनाइयों से पलायन करने के स्थान पर उनसे जूझने और संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा देगा। इस संग्रह की भूमिका में डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया ने बिलकुल ठीक लिखा है–"डॉ॰ अग्रवाल के मुक्तकों को 'देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर' से अलग करके नहीं देखा जा सकता।" मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संग्रह अपने पाठकों का भरपूर पथ-प्रदर्शन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। साथ ही सभी पाठकों को जीवन जीने की सही दिशा प्रदान करने की कोशिश करेगा। डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल इस लोकहितकारी प्रकाशन के लिए निश्चय ही साधुवाद के हकदार हैं, सो उन्हें बार-बार बधाई एवं शुभकामनाएँ।

बूँद के अंदर समंदर, कवि : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ॰प्र॰), सं॰ 2015, मूल्य : 200 रुपये, पृष्ठ 88

समीक्षक : डॉ॰ रमेश तिवारी,
ईमेल : tiwaridrramesh@gmail.com
मो. 09868722444

कहानियों की दुनिया में एक नया मुकाम है 'क्या अच्छा क्या बुरा'

डॉ॰ रमेश तिवारी

अध्यापन से सेवानिवृत्ति के बाद डॉ॰ मीना अग्रवाल ने सृजनकर्म में अपनी सक्रियता और बढ़ा दी है। इसका प्रमाण 'क्या अच्छा क्या बुरा' डॉ॰ मीना अग्रवाल का नया कहानी-संग्रह है। यूँ तो यह लेखिका का तीसरा कहानी-संग्रह है, किंतु इन कहानियों में अपेक्षाकृत नए विषयों को केंद्र में रखने का प्रयास किया गया है। स्त्री होने के कारण स्त्री का जीवन-संघर्ष और समाज में उसकी स्थिति को डॉ॰ मीना अग्रवाल ने विशेष संजीदगी से देखा है और कहानियों में प्रस्तुत भी किया है। संग्रह की भूमिका में लेखिका ने जिन दो-तीन बिंदुओं की ओर पाठकों का ध्यानाकर्षण चाहा है, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं। लेखिका की यह चिंतनधारा उसे महत्त्वपूर्ण कहानीकारों की पंक्ति में स्थान देने की माँग करती है। एक सजग, संवेदनशील, और रचनात्मक सोच वाले व्यक्ति की चिंताएँ भी यही हैं। एक तरफ हिंदी-कहानी के रचना-विधान का सवाल है, दूसरी तरफ़ प्रतिबद्धता और कला के तर्कसंगत और यथोचित अनुपात का। इन चिंताओं की पृष्ठभूमि वायवी नहीं है, बल्कि अखबार में एक सेमिनार के बारे में छपी रिपोर्ट है, जिसे पढ़कर लेखिका ने भूमिका में इस विषय पर चर्चा की है। लेखिका की चर्चा में एक तरफ़ विचारधारा की अस्वीकृति और दूसरी तरफ यथार्थवादी लेखन की पुरजोर वकालत है, कहीं पुरानी पीढ़ी द्वारा आज के हिसाब से नया सौंदर्यशास्त्र रचने की माँग है। कोई विचारों और प्रतिबद्धता को पचा पाने में असमर्थ है तो किसी के लिए कहानी में प्रतिबद्धता और कला के मध्य किसी एक को प्राथमिकता देने का सवाल ही बेमानी है। लेखिका की एक और विशेषता पर मैं यहाँ ध्यान दिलाना चाहूँगा, लेखिका ने यह प्रसंग उठाते हुए पाठकों का ध्यान सिर्फ़ प्रसंग विशेष के बहाने इस तरह की प्रवृत्तियों पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहा है। इसीलिए यह ध्यान देना ज़रूरी है कि लेखिका ने इस पूरे प्रसंग से जुड़े गणमान्य विद्वानों के नाम को बड़ी ही सफाई से संपादित करते हुए केवल प्रवृत्तियों पर बात करने की कोशिश की है, जो काबिले-तारीफ़ है।

हम अगर ध्यान दें तो पाएँगे कि वास्तव में हमारा विरोध अक्सर प्रवृत्तियों को लेकर ही शुरू होता है, किंतु विरोध की धारा में आगे बढ़ते हुए कब हम प्रवृत्ति के विरोध को भूलकर व्यक्ति का विरोध करने लग जाते हैं, यह हमें ध्यान ही नहीं रह पाता और सारी गड़बड़ी इस एक लापरवाही के कारण ही शुरू होती है। हमारा विरोध या असहमति प्रवृत्ति से होनी चाहिए और प्रवृत्ति तक ही सीमित रहनी चाहिए। राष्ट्रपिता बापू ने भी तो यही संदेश दिया था, 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' यह इस कहानीकार की बहुत बड़ी सार्थकता है कि उन्होंने प्रसंग को तो सही ढंग से पाठकों के सम्मुख रखा है, किंतु किसी भी नाम को उठाकर किसी अनावश्यक विवाद से स्वयं को दूर भी रख सकी हैं। लेखिका की इस दृष्टि की सराहना की

 ISSN 0975-735X

जानी चाहिए।

कहानीकार भूमिका में एक अख़बार के टुकड़े पर छपी रपट के हवाले से अपनी चिंतनधारा का परिचय देते हुए लिखती हैं–"हमें यह सोचकर आश्चर्य होता है कि आज भी हमारा प्रत्येक साहित्यकार इस पुरानी बहस में उलझा हुआ है कि कहानी में कलापक्ष किस अनुपात में होना चाहिए और प्रतिबद्धता का पक्ष किस अनुपात में, या कहानी में प्रतिबद्धता तो होनी चाहिए कलात्मकता का होना अनिवार्य नहीं।" (पृष्ठ 9) संतोष की बात यह है कि लेखिका स्वयं इससे आगे बढ़कर यह भी कहती हैं, 'ये सवाल सोचनीय हैं ही नहीं। मुझे तो इन विषयों को लेकर निरर्थक बहस करनेवाले प्रश्नकर्ता उलझन में डालते हैं।' लेखिका का यह बयान उनकी मेधा और दृष्टि की दूरदर्शिता का बेहतरीन प्रमाण है। लेखिका का यह मानना है, 'साहित्यकार का सरोकार मात्र आदमी से है, चाहे वह किसी श्रेणी का भी हो।.....सवाल आम आदमी और खास आदमी का नहीं, बल्कि समस्याओं या घटनाओं को लेकर चुनाव का है, जिन्हें चुनकर हम मानवता के पक्षधर बनते हैं, किसी वर्ग, धर्म और जाति के नहीं।" लेखिका का इस मामले में अपना मत बहुत स्पष्ट है, 'मेरा निवेदन है कि अपने साहित्य में किसी भी आदमी के प्रवेश को निषिद्ध मत कीजिये। हमारी प्रतिबद्धता आदमी और उसके पूरे समाज से है, कला और उसके सौंदर्य से है। अब यह हम पर निर्भर करता है कि साहित्य में, रचना-धर्म में हमारा झुकाव किस ओर रहता है? हमारी सहानुभूति किसके साथ जुड़ती है? हम किस पात्र को किस तरह चित्रित करते हैं? यानी ऐसे यथार्थ का दामन भी हाथ से न छूटे और हम प्रतिक्रियावाद के आरोप से भी मुक्त रहें।" लेखिका की इच्छा है कि कहानी पर बहस हो, न कि उसके विभिन्न अंगों को अलग-अलग करके।

डॉ॰ मीना अग्रवाल का यह तीसरा कहानी-संग्रह है। इस संग्रह की कहानियों में हम देखते हैं कि कहानीकार ने विभिन्न वर्गों के पात्रों को लेकर कहानी की रचना की है और विषयों को बड़ी ही गहराई में जाकर पकड़ने की कोशिश की है। इस संग्रह में कुल 14 कहानियों को संकलित किया गया है। पहली कहानी का शीर्षक है 'फ़ैसला'। सास-ससुर और पति के साथ जीवन व्यतीत कर रही शोभना एक कामकाजी महिला है। संतान उत्पन्न होने के बाद घर-परिवार और नौकरी सभी को पर्याप्त समय देने में शोभना समर्थ नहीं हो पाती और यहीं से पूरी कहानी के रचना-विधान का ताना-बाना बुना गया है। शोभना के नौकरी पर चले जाने से घर के कामकाज तथा बच्चे की देखभाल का कार्य सास को करना पड़ता है जो सास को नागवार गुजरता है। सास की प्रतिक्रिया है–"सर्विस और बच्चे का पालन-पोषण साथ-साथ नहीं चल सकता।" (पृष्ठ 18) सास के निर्णय के कारण ही शोभना को नौकरी छोड़कर बच्चे के पालन-पोषण में लगना पड़ता है। मामला यहीं खत्म हो जाता तो शायद किसी को आपत्ति नहीं होती, किंतु परेशानी तो अभी आगे आनेवाली है। जिस बच्चे के पालन-पोषण के बहाने घर की बहू की नौकरी छुड़ाई गई थी, आज जब बच्चा बड़ा हो गया है तो पुनः वही सास, बहू के कामकाज न करने पर ताने मारती है। इसी को कहते हैं चित भी मेरी पट भी मेरी। बच्चे के बड़े होने के साथ-साथ सास की तरफ़ से बहू को लेकर शिकायत आने लगती है–'क्यों बहू? सारा दिन घर में क्यों पड़ी रहती है बेकार, पढाई-लिखाई का लाभ ही क्या हुआ? कम-से-कम ट्यूशन ही पढ़ा दिया करो, पास-पड़ोस के बच्चों को, ऐसे कोई परिवार चलता है इस जमाने में।' (पृष्ठ 19)

पूर्ववर्ती पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में सास की दृष्टि में परवर्ती पीढ़ी की प्रतिनिधि शोभना के कार्यकलापों और जीवन-शैली पर नियंत्रण या निर्देशन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। साथ-ही-साथ शोभना की दृष्टि भी सास-ससुर को लेकर समन्वयवादी न होकर आलोचनात्मक ही रहा है। मुझे लगता है कि यह दो पीढ़ियों के बीच का द्वंद्व है, जिसे एक बेहतर सूझबूझ और तालमेल के साथ समन्वयवादी दृष्टि की जरूरत है। दो पीढ़ियों के बीच के तनाव और दो जीवन-दृष्टियों के बीच यह कहानी हमारे समाज की वास्तविक तस्वीर पाठकों के सामने रखती है। इसके लिए लेखिका ने महानगरीय जीवन शैली, कामकाजी महिला और कथा-विन्यास के लिए एक अनुकूल वातावरण की तलाश को मोनालीजा रेस्त्राँ के जरिए पूरा करने का कार्य किया है। जिस सवाल ने कभी नौकरी छोड़ने को मजबूर किया, वही आज आर्थिक समस्याओं के सामने एक अन्य समस्या को जन्म दे रहा है। आज शोभना और शोभना के बहाने असंख्य स्त्रियों की समस्या सामने है, 'पहले सर्विस के कारण बच्चा नहीं पल रहा था, अब परिवार नहीं चल पा रहा है बेकारी में। अब तुम ही बताओ मुझे, ऐसे में क्या करे मुझ जैसी महिला?" (पृष्ठ 19) लेखिका ने इस प्रश्न को पाठकों के समक्ष जानबूझकर ज्यों-का-त्यों उठाते हुए अनुत्तरित छोड़ दिया है। ऐसे सवालों के जवाब हमको-आपको मिल-बैठकर ही ढूँढ़ने हैं।

ऐसी ही एक अन्य कहानी है–'क्या अच्छा क्या बुरा'। इसी कहानी के नाम पर इस संग्रह का शीर्षक भी रखा गया है। 'क्या अच्छा क्या बुरा' एक अत्याधुनिक सोच के साथ जीनेवाली युवती बार्बरा की कहानी है, जो अपनी सुंदरता के बल पर मॉडलिंग कर रही है। बार्बरा मॉडलिंग तो करती है, किंतु साथ ही वह भावुक भी है। टाइम मैगजीन में उसकी उत्तेजक मुद्रा वाली तस्वीर छपी है। एक दिन उसे अखबार से एक लड़की के बलात्कार और हत्या किए जाने की खबर मिलती है। घटनास्थल से स्कॉच की ख़ाली बोतल और टाइम पत्रिका का ताज़ा अंक मिला है। इसी अंक में बार्बरा की उत्तेजक तस्वीर छपी है। बार्बरा इस ख़बर को पढ़कर इस बलात्कार और हत्या को अपनी उस उत्तेजक तस्वीर से जोड़ते हुए स्वयं को ही उसका जिम्मेवार मानने लगती है। इस बारे में सोचती हुई वह स्वयं को एकांत कमरे में बंद कर लेती है और सदमे तथा भावुकता के अतिरेक में आत्महत्या करने को विवश हो जाती है। आत्महत्या से पूर्व अपने सुसाइड नोट में वह लिखती है–'पापा! मुझे लगता है कि पैराडाइज वाली युवती की हत्या का उत्तरदायित्व मुझ पर है। मैं इस अपराध-बोध को सहन नहीं कर पा रही हूँ।" (पृष्ठ 33) बार्बरा के पिता के अनुसार यदि वह भावुक न होती तो यह घटना नहीं होती। हालाँकि इस बयान पर ऋतंभरा का भी एक बड़ा ही वाजिब सवाल सामने आता है "क्या भावुक होना बुरा होता है, अंकल?"

वास्तव में भावुकता के साथ एक खतरा तो यह होता ही है कि भावुकता हमें अक्सर बहा ले जाती है। हम भावना के प्रवाह में प्राय: ऐसे बहते हैं कि हित-अनहित का भी ध्यान नहीं रख पाते। इस कहानी में बार्बरा के साथ भी ऐसा ही होता है। वह युवती के साथ हुए बलात्कार और उसकी हत्या का जिम्मेदार स्वयं को मान लेती है और फिर जीते जी इस सदमे से उबर नहीं पाती; और आख़िरी परिणति आत्महत्या में होती है। कहीं-न-कहीं बार्बरा के चरित्र में भावुकता का अतिरेक और व्यावहारिकता का अभाव उसकी अपरिपक्वता को ही प्रमाणित करती है। कई बार हम अपने आसपास टीन एज के लड़के-लड़कियों में प्राय: इस प्रकार की प्रवृत्ति की अधिकता देखते हैं। इसके उचित-अनुचित होने पर बहस हो सकती है। इस तरह के

 ISSN 0975-735X

किसी भी निर्णय को उचित नहीं कहा जा सकता। और बार्बरा का मसला तो बिलकुल अलग है। वह तो किसी अन्य के साथ घटित घटना का जिम्मेदार स्वयं को मान लेती है। जबकि ऐसा सोचना तथ्यों से नितांत परे है। इसकी एक परिणति यह भी तो हो सकती थी कि वह भविष्य में इस प्रकार की उत्तेजक तस्वीरों से परहेज करती, जिससे इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति या संभावना ना हो। लेकिन ऐसा न हो सका। बहरहाल!

इन तमाम विश्लेषणों से जो एक निष्कर्ष प्राप्त होता है वह यह कि डॉ॰ मीना अग्रवाल की कहानियाँ हमें घटनाओं को गहराई से जानने-समझने का अवसर तो देती ही हैं, साथ ही उनमें गहरे पैठते हुए गंभीर मंथन हेतु प्रेरित भी करती हैं। इसी प्रकार की एक अन्य कहानी 'ख़ून का रिश्ता' है। इस कहानी में पुरुषसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में स्त्री के प्रति समाज का जो नजरिया है, उसे लेखिका ने बड़ी सफाई से पाठकों के सामने बेपर्दा कर दिया है। गाँवों में जाति की दीवारें हैं, स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव की दीवार है, आर्थिक-सामाजिक असमानताएँ हैं। कुल मिलाकर गाँव की जिंदगी क्या है संपूर्ण नरक है। कहानी में प्रयुक्त संवादों के द्वारा ही लेखिका ने अपने पाठकों को बड़ी चतुराई से ग्रामीण समाज-व्यवस्था की जकड़न का संकेत दे दिया है।

शहर और गाँव की जिंदगी पर विचार करते हुए श्रीलाल शुक्ल ने रागदरबारी में लिखा है, 'शहर में हर समस्या के आगे राह है और गाँव में हर राह के आगे समस्या है।' शहर और गाँव की जीवन शैली को समझने के लिए इस समय इससे बड़ी और स्पष्ट उक्ति मुझे और कोई याद नहीं आ रही। इस कहानी में लेखिका ने ग्रामीण-समाज की जिंदगी को संपूर्णता में दिखाने की कोशिश की है। 'ग्रामीण समाज अब भी कई तरह की रुढियों में जकड़ा हुआ है। वहाँ बिरादरी का कानून अब भी न्यायालय के कानून से ज्यादा शक्तिशाली है। खासकर छोटी जातियों के लोग तो बिरादरी के आदेश के खिलाफ मुँह खोल ही नहीं सकते।' (पृष्ठ 49) कहानी का पात्र और मछुआरा जाति से संबद्ध ममदू सरपंच के आदेश पर अपनी बीवी को छोड़ने को विवश है। जब सवाल उठता है कि बिरादरी के लोग विद्रोह क्यों नहीं करते? तो जवाब मिलता है, 'व्यवस्था की पीठ पर धर्म का जो हाथ होता है।' (पृष्ठ 49)

यह कौनसा समाज है? जो पति-पत्नी को भी एक साथ रहने की इजाजत नहीं देता। पति-पत्नी को विधुर-विधवा की तरह एकांतिक जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है और समाज ऐसा संवेदनहीन हो चुका है कि इस त्रासद जीवन का भी महिमामंडन करते हुए इसका बखान आपसी बातचीत में करता है। यह समाज की अमानवीयता का प्रमाण नहीं तो और क्या है? हुसना जो ममदू की पत्नी है, उसका कसूर क्या है? जो उसे अपने पति ममदू से अलग रहने का आदेश दिया जाता है। अलग रहते हुए उसके साध्वियों की तरह संयमित जीवन जीने की मिसालें दी जाती हैं। और तो और, पति की मृत्यु के बाद कोई उसे ढाढस बँधाने भी नहीं आता। हाय रे जमाना! ये कैसा समाज है, जिसमें बड़े-बुजुर्गों के प्रति आदर-सम्मान निरंतर कम होता जा रहा है। लेखिका का चिंतन भरा वक्तव्य द्रष्टव्य है–'किसी दु:ख देनेवाले विचार से मुक्त होने के लिए मनुष्य स्वाभाविक रूप से किसी अन्य विचार की तरफ चला जाता है, यदि वह ऐसा न करे तो जीना मुश्किल हो जाए आदमी के लिए।' (पृष्ठ 51)

'ख़ून का रिश्ता' कहानी का अंत बड़ा ही विद्रूप-भरा है। सविता के बार-बार यह पूछने पर कि ममदू और हुसना को अलग-अलग रहने की सज़ा क्यों दी गई? उनका कसूर क्या था?

तो जो जवाब मिलता है, उसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित रह जाता है। पुष्पा दीदी सविता से बताती है कि हुसना प्रसव के समय जब अधिक रक्तस्राव होने के कारण ज़िंदगी और मौत की जंग लड़ रही थी तो ऐसे मुश्किल समय में उसे रक्त की ज़रूरत थी और जब कहीं से भी उसके लिए रक्त की व्यवस्था नहीं हो पाई तो ममदू ने अपना रक्त देने की पेशकश की और ब्लड ग्रुप मिलने पर रक्त चढ़ाया गया। यह बात जब गाँववालों को पता चली है तो कोहराम मच गया और इस समस्या से निपटने के लिए पंचायत बैठी है। रक्त देने के कारण दोनों के रक्त संबंध को आधार बनाकर पंचायत यह फ़ैसला दिया कि अब इनके बीच ख़ून का रिश्ता हो गया है, अत: ये दोनों अब पति-पत्नी नहीं रह सकते। अब ये दोनों भाई-बहन, बाप-बेटी तो हो सकते हैं, किंतु पति-पत्नी नहीं। जी हाँ! चौंकिए नहीं, यह हमारे-आपके समाज का ही क्रूर और अमानवीय चेहरा है, जिसे लेखिका ने पाठकों के समक्ष रख दिया है। इन सबके बावजूद हुसना अपनी बेटी को पाल-पोसकर बड़ी करती है और उसके हाथ पीले कर विदा करती है। सारा जीवन अकेले गुज़ारती है। इस त्रासदी की पराकाष्ठा तब होती है, जब गाँव का कोई भी स्त्री-पुरुष इसकी आलोचना नहीं करता, बल्कि इस त्याग का महिमामंडन करते हुए इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का पालन करनेवाली हुसना के चरित्र की प्रशंसा करता नहीं अघाता। जब सविता पुष्पा दीदी से आख़िर में सवाल करती है "क्या किसी ऐसे अन्याय पर गर्व भी किया जा सकता है दीदी?" इस पर पुष्पा दीदी जवाब देती है–'अंधविश्वास यह नहीं जानता सविता। ट्रेजडी तो यही है हमारे लोगों की।" (पृष्ठ 54) इसके साथ ही पाठकों को समस्या पर विचार करने के लिए कहानी अकेला छोड़ जाती है।

डॉ॰ मीना अग्रवाल ने अपनी कहानियों में भाषा-शैली का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। गद्यात्मकता के बीच कहीं-कहीं काव्यात्मकता वाला अंदाज भी दिखाई पड़ता है। खून का रिश्ता कहानी के इस अंश को ही एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है, 'पश्चिमी आकाश पर शाम की लालिमा छा गयी थी। हमारे सामने की सफेद दीवार पर विदा होती हुई धूप की लाली बरस रही थी।' इस अंश को पढ़ते हुए अयोध्याप्रसाद सिंह 'हरिऔध' के काव्य 'प्रिय प्रवास' की पंक्तियाँ स्वत: स्मरण हो आती हैं–'दिवस का अवसान समीप था/ गगन था कुछ लोहित हो चला/ तरु शिखा पर थी अब राजति/ कमलिनीकुल-वल्लभ की प्रभा।" यहाँ भी 'धूप की लाली का बरसना बड़ा ही खूबसूरत प्रयोग है।

समाज में स्त्रियों के प्रति भेदभावपूर्ण नजरिये को केंद्र में रखकर एक अन्य महत्त्वपूर्ण कहानी जो इस संग्रह में मुझे मिली, उसका शीर्षक है–'अंधविश्वास'। इस कहानी में एक स्त्री (मिसेज हमदून) द्वारा, अपनी विदेशी महिला मित्र द्वारा भारत की प्रशंसा किए जाने पर आत्ममुग्धता (नॉस्टेल्जिया) का भाव है, किंतु जब उसे भारतवर्ष की एक मध्ययुगीन परंपरा की जानकारी अपनी उसी विदेशी महिला मित्र से मिलती है तो उसे कहीं-न-कहीं शर्मिंदगी झेलनी पड़ती है। यह कुरीति और अंधविश्वास की प्रथा आज के दक्षिण भारत की है, जिसके एक क्षेत्र विशेष में आज भी रजस्वला औरतों को उनके मासिक धर्म के दौरान गाँव से बाहर निकाल दिया जाता है। ऐसी स्थिति में तीन-चार दिन ऐसी औरतों को जंगल में ही रहना पड़ता है। ऐसी खबर पाकर भारतीय नारी का सिर गर्व से तनने के स्थान पर शर्म से झुक जाता है। (पृष्ठ 75) हालाँकि विदेशी महिला ने मिसेज हमदून को शर्मिंदगी से बचाने और वातावरण को हल्का करने के इरादे

 ISSN 0975-735X

से यह भी कहा–'मिसेज हमदून ! यह सब केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। अब भी दुनिया के करोड़ों लोग तरह-तरह के अंधविश्वासों को लिए जी रहे हैं।'.... हालाँकि कहानीकार की दृष्टि समस्या के साथ-साथ उसके समाधान के प्रति जागरूकता का भाव पैदा करने को लेकर पूरी तरह सचेत है। वह इस कहानी के अंत में कहानी के पात्रों के संवाद में ही यह कहलाना नहीं भूलती–'इनका अंत कैसे होगा, सोचना यह है?' (पृष्ठ 75)

इस समस्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि इस कहानी-संग्रह के द्वारा कहानीकार डॉ॰ मीना अग्रवाल ने अनेक सामाजिक मुद्दों को पाठकों के समक्ष बड़ी ही संजीदगी से प्रस्तुत किया है। स्त्री होने के कारण स्त्री जीवन की चुनौतियों और समस्याओं का चित्रण करते हुए लेखिका की भाषा अधिक मार्मिक है। इस कहानी-संग्रह की भाषा सहज-सरल और प्रसंगानुरूप है। कहानी में अँग्रेजी के शब्दों का समावेश प्रसंगवश किया गया है जैसे, कॉफी पीने के स्थान पर कॉफी सिप करने जैसे वाक्य आदि। मैंने इस संग्रह की कहानियों को पढ़ते हुए विविध प्रकार के अनुभवों को प्राप्त किया है। इसकी पुष्टि के लिए फैसला, क्या अच्छा क्या बुरा, खून का रिश्ता, अंधविश्वास, एक उत्पीड़न यह भी, भूख से भूख तक, डर अकेलेपन का, आदि कहानियों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

हालाँकि 'डर अकेलेपन का' कहानी का अंत मुझे ठीक नहीं प्रतीत होता। हम सब ज्ञान को प्रकाश से जोड़ते हैं, जबकि कहानी के अंत में जब सब-कुछ शीशे की तरह साफ हो जाता है तो लेखिका ने अंतिम वाक्य लिखा है–'तभी अचानक बिजली गुल हो गयी और चारों ओर अंधकार छा गया।'(पृष्ठ 110) यहाँ कहानी को ज्ञान के प्रकाश से समाप्त करना चाहिए था किंतु पता नहीं क्यों लेखिका ने कहानी को अंधकार की व्याप्ति के साथ समाप्त किया है। जहाँ तक इस संग्रह की कहानियों की भाषा का सवाल है, वह पाठकों को सहज-सरल और प्रभावित करने में सहायक प्रतीत होती है। कहीं-कहीं भाषा से वातावरण को चित्रित और इंगित करने की सफल कोशिश भी कहानीकार ने की है। इसी कहानी में मृत्यु के बाद का सन्नाटा चित्रित करनेवाला प्रसंग उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है–'निस्तब्धता के कुछ पल धीरे-धीरे बीतते गए। धूप हमारे पाँवों से निकलकर ऊपर दीवारों की मुँडेरों पर जा पहुँची थी। बाहर खड़ा नीम का पेड़ शांत था और हवा ठंडी।' (पृष्ठ 108)

मैंने स्थान और समय सीमा का ध्यान रखते हुए यहाँ कुछ ही कहानियों की चर्चा की है। मुझे उम्मीद है कि सुधी पाठक जब भी इस संग्रह को संपूर्णता में पढ़ेंगे तो निश्चय ही उन्हें विशेष अनुभव, ज्ञान और आनंद की प्राप्ति होगी।

पुस्तक का नाम : क्या अच्छा क्या बुरा (कहानी-संग्रह)
लेखिका : डॉ॰ मीना अग्रवाल
प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ॰प्र॰)
संस्करण : 2015, पृष्ठ : 110, मूल्य : रु. 200 रुपये

समीक्षक : **डॉ॰ रमेश तिवारी**
ईमेल : tiwaridrramesh@gmail.com, मो. 09868722444

जीवन की क्षणभंगुरता के बीच 'बचे रहेंगे केवल शब्द'

डॉ॰ रमेश तिवारी

'बचे रहेंगे केवल शब्द' लालित्य ललित का अद्यतन कविता-संग्रह है, जिसका प्रकाशन हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ.प्र.) ने किया है। संग्रह के आरंभ में ही फ्लैप पर डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की छोटी किंतु सारगर्भित टिप्पणी दी गई है। इस टिप्पणी में डॉ॰ अग्रवाल कहते हैं 'कविता में जिंदगी या जिंदगी में कविता, यह प्रश्न जितना सहज है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है।.....कविता वही सुनी, पढ़ी या समझी गई, जिसमें जीवन की सुगबुगाहट हो, साँसों के सुखद अलाव हों, भावनाओं को सहलाने की क्षमता हो, सपनों को सजाने की सामर्थ्य हो।' किसी भी कविता को पढ़ने-समझने की यह एक बेहतरीन कुंजी है जिसके द्वारा कविता को उसकी अतल गहराई में जाकर समझा जा सके। लालित्य ललित युवा कवि हैं, किंतु उनकी लेखनी सिद्ध और पुरानी है। यकीन न हो तो उनकी कविताओं के संग्रहों को देखिए, स्वत: विश्वास हो जाएगा। जहाँ तक मेरी जानकारी है यह लालित्य ललित का 16 वाँ कविता-संग्रह है। लालित्य ललित की कविताओं के सामाजिक सरोकारों को उनकी कविताओं में आसानी से देखा-समझा जा सकता है। एक रचनाकार की दृष्टि जितनी व्यापक होगी, उसका अनुभव-जगत जितना व्यापक और समृद्ध होगा, उसकी रचनाएँ भी उतनी ही अर्थपूर्ण या अर्थसमृद्ध होंगी। समृद्ध अनुभव-जगत और दृष्टि के बिना बेहतर और अर्थवान कविताओं का सृजन संभव ही नहीं है। आज समाज में दोहरा जीवन जीने की प्रवृत्ति बढ़ी है। लालित्य ललित की कविताओं में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस संग्रह की भूमिका में डॉ॰ शशि सहगल लिखती हैं–'बचे रहेंगे केवल शब्द की कविताओं में पाठक को यही दोमुँहापन, विवशता और असमंजसता आदि देखने को मिलती है। ललित ने आज की भाषा में आज की बात को बड़े ही नए अंदाज में लिखा है। कतिपय कविताओं के शीर्षक ही इस कथ्य का प्रमाण हैं। जैसे 'अंडरस्टैंडिंग आज के संदर्भ में', 'आपके जीवन से जुड़ी बारह सच्चाइयाँ', अथवा 'विज्ञापन के केंद्र में औरत' आदि। इसी भूमिका में शशि जी आगे लिखती हैं–'ललित ने अपने इस कविता-संग्रह में जीवन के लगभग हर पहलू को छुआ है। वे अतीत से वर्तमान और कभी अतीत से भविष्य और कभी वर्तमान से अतीत में जाकर अपने समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थितियों का तुलनात्मक चित्रण करते हैं तो कभी नए मूल्यों के प्रति भावुक और कभी विक्षुब्ध नजर आते हैं।' (पृष्ठ 6) किसी कवि की भावगत संवेदना को जाने बगैर हम उसकी कविताओं के मर्म तक नहीं पहुँच सकते। इस दृष्टि से भूमिका की ये पंक्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

कवि का मानना है और यह मानना बिलकुल ठीक है कि सड़क पर चलने वाली गाड़ी और जीवनरूपी गाड़ी दोनों का पटरी पर होना बहुत जरूरी है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जो

 ISSN 0975-735X

दिख रहा होता है, वही अंतिम सच नहीं होता। बल्कि सच कुछ और ही होता है। इस संदर्भ में हम यदि इस संग्रह की कविताओं को देखें तो संग्रह की पहली ही कविता है 'जानना जरूरी था'। उसमें कवि कहता है–'यदि पटरी से गाड़ी उतरी हो/ तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि/ गाड़ी का चालक नशे में था/ या उसे नींद लग गयी थी,/ कोई और वजह भी/ कारण हो सकती है। / ऐसे ही कारण रिश्तों में होते हैं/ जिन्हें बहुत सावधानी से/ सँभालना पड़ता है/ वरना संबंधों की गाड़ी भी/ पटरी से उतर चुकेगी/'(पृष्ठ 11) और एक बार जो संबंधों की गाड़ी पटरी से उतरी तो फिर वो बात नहीं आ पाती। कवि वर्तमान को भली-भाँति देख रहा है और पाठकों को भी दिखाते चल रहा है–'कितना बदल गया समाज/ यह विचारता हूँ,/ अब अखबार नब्ज नहीं पकड़ता/ अब टेलीविजन सच नहीं दिखाता/ क्योंकि हमने झूठ से नाता जोड़ लिया है/ मतलबी और हुंकारी हो गए हैं/ अकडू तो पहले से ही थे/ पर आवारा, घमंडी, मक्कार, फरेबी भी हो चले हैं।'(पृष्ठ 14) इसे कहते हैं समाज को आईना दिखाना और समाज को अपने गिरेबान में झाँकने की प्रेरणा देना। ललित अपनी कविताओं के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण काम बखूबी करते हैं। कवि देखता है कि ये विकृतियाँ हमारे समाज में बहुत तेजी से फैलती जा रही हैं। अमीरों की निरंतर बढती ताकत तथा गरीब की तार-तार होती अस्मिता कवि को चैन से जीने नहीं देती और इस बेचैनी में करे भी तो क्या? ऐसी स्थिति में इस समस्या का वह रचनात्मक हल ढूँढता है और इन त्रासदियों के जवाब कविता के माध्यम से देता है। 'यदि मामला हाई प्रोफाइल न हुआ/ तो कानों में जूँ थोड़े न रेंगेगी/ और यदि साधारण हुआ तो/ कीड़े-मकोड़े आए दिन कुचले जाते हैं/ और कुचले जाते रहेंगे।'(पृष्ठ 26) यह किसी समाज की संवेदनशून्यता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है?

लालित्य ललित अपनी कविताओं में अपने सामाजिक सरोकार और उन सरोकारों की कविता में अभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान देते हैं। यह गुण उन्हें अन्य समकालीन रचनाकारों से अलग करता है। इस कसौटी पर हम उनकी कई कविताओं को कसकर देख सकते हैं। फिलहाल यहाँ एक कविता का उल्लेख मैं करना चाहूँगा। कविता का शीर्षक है–'अस्पताल चुपचाप बहुत कुछ कहता है'। इस कविता में कवि ने कई दृश्यों की रचना की है। कहीं संकटग्रस्त मरीजों के अस्पताल में दाखिले के लिए आँखों में आँसू और हाथों में फॉर्म लिए दौड़ते-भागते परिजन हैं तो कहीं किसी बुजुर्ग की मृत्यु का दृश्य। कहीं दो लड़कियों के बाद पोता होने की खुशी में मिठाइयाँ बाँटते परिजन हैं तो कहीं अस्पताल की अव्यवस्था के परिणामस्वरूप अस्पताल के दरवाजे पर ही प्रसव को मजबूर कोई माँ। किंतु यह भी एक सच है कि ये सब अस्पतालकर्मियों के दैनंदिन जीवनानुभव का हिस्सा है। हालाँकि कवि यह स्पष्ट करना नहीं भूलता कि ये कर्मी भी आखिरकार इंसान ही हैं इसलिए वह उन अस्पतालकर्मियों की तरफ से मानो कहता है, 'वे नहीं चाहते कि/ कोई भी दुखी अपने घर जाए/ वे चाहते हैं/ जो आया है, वो खुशी-खुशी अपने दर जाए। इसी काम में लगा है अस्पताल/ बहुत कुछ कहता है बिना कुछ कहे'(पृष्ठ 35) कवि देखता है कि कभी-कभी मरीजों के रिश्तेदार इत्यादि अनुकूल परिणाम न मिलने पर सारी जिम्मेदारी अस्पताल, डॉक्टर और प्रशासन पर डालते हुए तोड़-फोड़ मचाने लगते हैं, जिसे कतई उचित नहीं कहा जा सकता। 'मैंने देखा है नजदीक से/ परेशानी को, दुःख को तकलीफ और लाचारी से/ बिलखते बिसूरते लोगों को/ कभी-कभी तोड़-फोड़ भी कर देते हैं परिजन /

अनावश्यक है यह सब/ आपकी तीमारदारी में लगा है अस्पताल।'(पृ॰ 35) तमाम परेशानियों के बावजूद कवि अपने पाठकों को संयम और दृढ़निश्चय का संकल्प देता है। 'दोस्त डरना नहीं / जब तक और जितनी देर तक/ आपका दाना-पानी है/ वह आपको मिलेगा'(वही) इन अंशों को पढ़ते हुए मुझे यह उल्लेख करना जरूरी जान पड़ता है, इसलिए इसे पाठकों के साथ बाँटना चाहता हूँ। वास्तव में कवि की दृष्टि उसके सरोकारों पर निर्भर होती है, उसके सामाजिक सरोकार ही उसकी दृष्टि की निर्माण करते हैं। ठीक ऐसे ही जैसे हमारे हाथ में कैमरा हो, पर दिखाना क्या है, हमें इसका ज्ञान-आभास होना बहुत जरूरी है। कैमरा हमारी ताकत बन सकता है बशर्ते हमें मालूम हो कि कैमरे को फोकस कहाँ करना है और देखनेवाले को दिखाना क्या है? इसके अभाव में दिशाभ्रम या दिशाहीनता की स्थिति का भय होता है। अच्छी बात यह है कि लालित्य ललित इस ज्ञान का अपनी कविताओं के सृजन में बखूबी इस्तेमाल करते हैं, यही कारण है कि उनकी कविताएँ संशय के बीज नहीं बोतीं।

आज विज्ञान ने हमें इतना सशक्त किया है कि हमारे पास पल-पल की खबर हो सकती है। यह कोई अजूबा नहीं है। कवि भी इससे परिचित है। तभी तो वह कहता है 'पल-पल की खबर तो आपको हो सकती है/ लेकिन अगले पल की नहीं,/ किसे क्या पता/ क्या हो जाए/ इसलिए शांत रहिए/ समाधान अपने आप निकल आएगा/ यह अनुभव की बात है।'(वही) यहाँ कवि अपने अनुभव को पाठकों से बाँटते हुए उन्हें सुलझी राह दिखने की कोशिश कर रहा है न कि उलझन भरे मार्ग। कवि जानता है कि दुनिया में चारों तरफ संवादहीनता की स्थिति बढ़ी है, और इसके पीछे हम सबका अहम् भाव ही मुख्य कारण होता है। कवि इस विकृति को देखकर चिंतित है, वह इस समस्या से समाज को छुटकारा दिलाना चाहता है। इसके लिए वह सामूहिकता की भावना को बढ़ावा देना चाहता है। अपनी कविताओं में वह अक्सर सामूहिकता की भावना को महत्त्व देता दिखाई देता है। 'आओ एक नई शुरुआत करें' कविता में कवि कहता है–'अभी भी दुनिया उतनी बुरी नहीं है/ एक बार मिल के देखो/ मुस्कुरा के देखो,/ ...एक बार मिल के देखो/ अभी-भी लोग अच्छे हैं/...आओ, फिर से एक नई शुरुआत करें/ जीने की, मिलने की/ और अपना घर बसाने की।'(पृष्ठ 37) स्वत: याद आ जाते हैं मुक्तिबोध! 'मुक्ति अकेले में नहीं मिलती।' एक व्यक्ति के रूप में कवि की सार्थकता यही है कि व्यक्ति की समस्याओं का समष्टिगत समाधान ढूँढ़ने की कोशिश निरंतर जारी है। एक ऐसे मार्ग की तलाश है, जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' वाला भाव समाविष्ट हो सके।

विज्ञान और तकनीक के बढ़ते प्रयोग ने परंपरागत माध्यमों को लगभग अपदस्थ कर दिया है। ऐसे कई माध्यम हैं जिनमें चिट्ठी और डाकिया दो प्रमुख नाम हैं। हम सब जानते हैं कि चिट्ठी और डाकिये के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है। चिट्ठी और डाकिये के लुप्त हो रहे महत्त्व को कवि अपनी एक कविता में दूर करने की कोशिश करता है। 'पता होने के बावजूद' शीर्षक कविता चिट्ठी-पत्री की प्रासंगिकता को बनाए रखने का एक सकारात्मक प्रयास है। 'वे भी क्या दिन थे/ जब आप अपनी पाती लिखते थे/ और वहाँ से खुशबू भरा जवाब आता था/ और आप सारा-सारा दिन टहलने में लगा देते थे/ खत में कितना नशा होता था/ लगता था कि आपका मेट / यहीं कहीं अगल-बगल में है। ऐसा एहसास रहता था/ जिसे आज वाट्सअप ने छीन लिया /'(पृष्ठ 40) हम सब जानते हैं कि जिसकी संलग्नता जिस समाज के प्रति होगी उसकी रचनाओं

 ISSN 0975-735X

में उस समाज की समस्याएँ स्वत: स्थान पा जाएँगी। इस दृष्टि से भी मैं इस संग्रह की कविताओं को देखने-परखने का हिमायती हूँ। ललित एक कामकाजी व्यक्ति हैं। सरकारी नौकर हैं, कार से चलते हैं। आप चाहें तो उन्हें सुविधाभोगी समाज से भी जोड़ सकते हैं। किंतु इससे आप भी कहाँ और कैसे इंकार कर पाएँगे कि उनकी कविताओं में स्पेस सुविधाभोगी समाज के लिए बहुत विरले ही होता है। उनकी कविताओं में सुविधाभोगी समाज से अधिक संलग्नता संघर्षशील समाज के प्रति दिखाई देती है। मैं किसी भी बात को निराधार कहने की कोशिश नहीं करता। यहाँ इस संबंध में भी मैं इसी संग्रह की एक कविता के द्वारा अपनी बात को साबित करने की कोशिश करूँगा। इसी संग्रह में एक कविता है–'बलात्कृत लड़की का पिता'। इस शीर्षक से ही पाठकों को यह अनुमान हो जाएगा कि कवि की संलग्नता किसके प्रति है और उसके निशाने पर कौन से लोग अथवा कौनसा समाज है। अब कविता की पंक्तियों पर ध्यान दें–'बाबूजी हम गरीबन की/ कहीं कोई सुनवाई नहीं/ गरीब की इज्जत/ तो अब चाय का प्याला हो गई/ जिसने चाहा/ पी लिया और गिलास आगे सरका दिया'(पृष्ठ 44)। इतना ही नहीं आज के मीडिया की हालत भी कुछ कम चिंताजनक नहीं है। कवि उसे भी बख्शने के मूड में नहीं है। 'देर तलक टेलीविजन चैनल अपनी टीआरपी बढ़ाते रहे/ रात-दिन चिल्लाते रहे/ बकर-बकर/ पिता का दर्द कोई जान न पाया/ अपराधी बेखौफ घूमते रहे/ अचानक परिचित-सा गाँव/ यकायक देश-दुनिया में चर्चित हो गया'(पृष्ठ 44) अब आप समझ गए होंगे कि स्थिति कितनी भयावह है। आज स्थिति ऐसी है कि जो जुर्म करनेवाले हैं उनकी चारो ओर जय-जयकार हो रही है और जो गरीब है उसे कोई न्याय देने-दिलानेवाला भी नहीं है। सरकारें आती-जाती हैं, किंतु गरीब हर दौर में अमीर और सक्षम लोगों के द्वारा सताए जाते हैं। यही सच है। सुविधाभोगी समाज अपने लिए सारी सुविधाएँ जुटाने हेतु रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार आदि तमाम हथकंडे अपनाता है और उसे 'अंडरस्टैंडिंग' का नाम दे देता है। आप भी सहमत होंगे आज जो जितना बड़ा स्वार्थी है उसे उतना ही समझदार और दूसरे को मुर्ख कहा-समझा जाता है। इस कविता में कवि का सवाल बड़ा ही मौजूँ है 'कोई विद्वान आए/ और मुझे समझा दे/ इन शब्दों का मतलब/ यह अंडरस्टैंडिंग और सेटिंग का/ आज के संदर्भ में कितना बड़ा योगदान है/...इस शब्द से/ कभी किसी गरीब का भला हुआ/ आजादी के इतने वर्षों बाद भी/'(पृष्ठ 47) उत्तर क्या मिलेगा, आप सबको मालूम है !

आज हम कहने को इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं। किंतु कितने शर्म की बात है कि आज भी हमारे समाज में बेटा-बेटी में भेदभाव किया जाता है। कन्या भ्रूण हत्या की जाती है। हालाँकि सरकारी और संवैधानिक स्तर पर इससे निपटने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं, किंतु जब तक हमारी समझ, हमारी सोच, हमारी मानसिकता नहीं बदलेगी कोई नियम, कोई कानून या सरकार परिस्थितियों में बदलाव नहीं ला सकती। इसलिए बदलाव जनता को करना होगा। हमको-आपको करना होगा। अपनी सोच और मानसिकता को ठीक करना होगा। बदलाव तभी संभव हो पाएगा। 'बेटियाँ' शीर्षक कविता में कवि इस समस्या को देखते हुए बेटियों के प्रति सकारात्मक और अपनापन भरे व्यवहार को बढ़ावा देने की कोशिश करता है। 'रौनक हैं बेटियाँ/ आस्था हैं बेटियाँ/ संस्कृति हैं बेटियाँ/ पूजा हैं बेटियाँ/ वंदना हैं बेटियाँ/ बहुत कुछ हैं बेटियाँ/ उजाला हैं बेटियाँ /... बेटियाँ ही संसार बनाती हैं/ बेटियाँ ही इंसान बनाती हैं/ दु:ख-दर्द को बाँटती बेटियाँ/... हमारी बेटियाँ/ प्यारी बेटियाँ।'(पृष्ठ 49)

यही नहीं एक तरफ बेटियों के प्रति समाज में स्वीकृति का माहौल बनने का दृढ़संकल्प है तो दूसरी ओर 'बलात्कार के पीछे का सच' कविता में कवि बेटियों को भी अपने खिलाफ हो रहे अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करने का संदेश देता है। हालाँकि हम देखते हैं कि हमारे समाज में लड़कियों को उपदेश देने वालों की लगभग बाढ़-सी आई हुई है। लड़कियों को किस समय कहाँ जाना चाहिए, क्या करना चाहिए, कैसे जीना चाहिए, क्या पहनना चाहिए, इन तमाम विषयों पर समाज के ठेकेदारों का निर्देश समय-समय पर बिना माँगे ही मिलता रहता है। कवि ऐसे ठेकेदारों से व्यथित है। 'लड़की अकेली मत निकलो/ जमाना खराब है/ घर कौनसा सुरक्षित है/ बोलनेवाले चुप थे अब'(पृष्ठ 63) स्पष्ट है कि कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ लड़कियाँ अपने आप को सुरक्षित समझ सकें। ना जाने हम कब इतने सभ्य हो सकेंगे जब स्त्रियों को अपने बराबर समझते हुए जीवन जीने की आजादी देने की सोचेंगे।

औरतें कभी बुरी नहीं होतीं' कविता में कवि स्त्रियों की चारित्रिक विशेषता की बात करता है। कवि तो स्त्रियों के लिए लागू नियमों के बहाने से स्वयं को बचाए रखने का मार्ग ढूँढता रहता है। 'मजे लेने के लिए औरतें/ और/ दु:ख देने को भी औरत/ माँ कसम जिस दिन/ औरत अपने पर आ गई न/ वो दिन ऐसा होगा/ तेरी अगरबत्ती बिन माचिस के जल पड़ेगी और यह तू भी जानता है कि फिर धुआँ कहाँ-कहाँ से उठेगा। कवि की दृष्टि से कुछ भी ओझल नहीं हो पाता। कवि कहता है कि 'औरतें कभी बुरी नहीं होतीं/ वे तो होती हैं सेवा की मूरत/'(पृष्ठ 109) आज के समाज में स्त्री-जाति के खोये सम्मान की पुनर्स्थापना के लिए कवि निरंतर प्रयासरत है। उसकी दृष्टि में केवल स्त्री समस्या ही नहीं है, बल्कि वह समाज में व्याप्त पुरुष वेश्यावृत्ति, लिव इन रिलेशनशिप से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को भी कविता के विषय के रूप में रेखांकित करता है। यह एक कवि की दृष्टि की समग्रता नहीं तो और क्या है?

आज जमाना ऐसा है कि सब तरफ भ्रष्टाचारियों का ही साम्राज्य है। भ्रष्टाचारियों के हौसले बुलंद हैं और शरीफ की बोलती बंद है–'कोई भी काम सेवा-शुल्क दिए बिना संभव नहीं/ आगे बढिए/ टाइम खोटी मत कीजिए/ कहाँ से चले आते हैं'(पृष्ठ 64) वक्त के साथ-साथ सब-कुछ बदल जाता है। कवि इस बदलाव को बहुत नजदीक से देखता है। 'बदल जाता है समय, सपना और सरोकार'(पृष्ठ 89)। इस बदलते समय में सबसे खतरनाक है बुरी ताकतों का बढ़ता वर्चस्व। कवि भी इस समय और समस्या को केंद्र में रखता है और पाठकों को आगाह करते चलता है। 'बुरे वक्त की अच्छी कविता' ऐसे ही प्रयासों का प्रतिफल है। इस संग्रह की कविताओं में गरीबों, मेहनतकशों का संघर्ष कदम-दर-कदम बिखरा पड़ा है। मानो कवि की दृष्टि से गरीबों का जीवन संघर्ष ओझल ही नहीं होता। जो सक्षम वर्ग है उनमें भी कवि इन गरीबों के प्रति अपनापन का भाव पैदा करना चाहता है। 'क्या आपके शब्दकोश में इनके लिए/ सहानुभूति नहीं है/ अपने पास से कुछ पल इनको देकर देखिए/ कभी इनको भी अक्षरज्ञान देकर देखिये/ एक सुकून मिलेगा/ खुशियाँ उतर आएँगी आँगन में'(पृष्ठ 105) कवि इस कविता के आखिर में पाठकों को चुनौतीपूर्ण अंदाज में संबोधित करते हुए कहता है 'यह पल और यह अहसास/ एक बार आजमा के देखो/ अपना के देखो/ बड़ा सुकून न मिले तो कहना'(पृष्ठ 105)

इस संग्रह पर अपनी टिप्पणी को पूर्ण करने से पूर्व मैं पुन: भूमिका में उद्धृत डॉ॰ शशि सहगल की बात का उल्लेख करना चाहूँगा। डॉ॰ सहगल ने ठीक लिखा है कि 'बचे रहेंगे केवल

 ISSN 0975-735X

शब्द की कविताएँ सीधे-सीधे आम आदमी से प्रश्न करती हैं।' मुझे लगता है यहाँ 'प्रश्न' के स्थान पर यदि 'संवाद' लिखा गया होता तो बात और अधिक सारगर्भित और अर्थपूर्ण हो जाती। संवाद में प्रश्न समाहित है, किंतु प्रश्न में संवाद की गुंजाइश बहुत कम होती है। मेरी दृष्टि में यह कविता-संग्रह पाठकों से संवाद की एक सफल कोशिश है। यह कोशिश कितनी सार्थक हो पाती है, इसका फैसला तो आप पाठकों को करना है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि निरंतर संवेदनहीनता और संवेदनशून्यता की ओर अग्रसर इस समाज में संवाद की यह कोशिश रंग लाएगी। इस संग्रह के लिए लालित्य ललित निश्चय ही बधाई के हकदार हैं।

समीक्षक : डॉ॰ रमेश तिवारी, मो॰ 9868722444, ईमेलः tiwaridrramesh@gmail-com

पुस्तक : बचे रहेंगे केवल शब्द, कवि : लालित्य ललित

प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ.प्र.)

सं. 2015, मूल्य : 250/-, पृष्ठ : 151

हिंदी साहित्य निकेतन

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

- **निश्तर ख़ानक़ाही एवं डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**

ग़ज़ल और उसका व्याकरण	250.00

- **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ॰ मीना अग्रवाल**

बृहत् हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश	1500.00
हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ	995.00
शोधसंदर्भ-भाग-1	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5	895.00
शोधसंदर्भ-भाग-6	1500.00
हिंदी तुकांत कोश	300.00
शोध अंक भाग-1	100.00
शोध अंक भाग-2	100.00
शोध अंक भाग-3	100.00
शोध अंक भाग-4	100.00
शोध अंक भाग-5	100.00
शोध अंक भाग-6	100.00
शोध अंक भाग-7	100.00
शोध अंक भाग-8	100.00
शोध अंक भाग-9	100.00
शोध अंक भाग-10	100.00
शोध अंक भाग-11	100.00
शोध अंक भाग-12	100.00
शोध अंक भाग-13	100.00
शोध अंक भाग-14	100.00
शोध अंक भाग-15	100.00
शोध अंक भाग-16	100.00
शोध अंक भाग-17	150.00
शोध अंक भाग-18	200.00
शोध अंक भाग-19	200.00
शोध अंक भाग-20	200.00

 ISSN 0975-735X

शोध अंक भाग–21	200.00
शोध अंक भाग–22	200.00
शोध अंक भाग–23	200.00
शोध अंक भाग–24	200.00
शोध अंक भाग–25	200.00
शोध अंक भाग–26	200.00
शोध अंक भाग–27	200.00
शोध अंक भाग–28	200.00

समीक्षा एवं समालोचना

सवाल साहित्य के • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल**	500.00
सिनेमा और साहित्य का अंत:संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल**	200.00
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • **नवलकिशोर शर्मा**	150.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेंद्र उपाध्याय**	300.00
डॉ॰ कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • **डॉ॰ अंजु भटनागर**	500.00
अमरकांत का कथासाहित्य • **डॉ॰ योगेश गोकुल पाटिल**	400.00
नारी–समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • **डॉ॰ अनुभूति**	450.00
राजस्थानी चित्र शैली में आखेट दृश्य • **डॉ॰ सुषमा सिंह**	250.00
भोपाल के संग्रहालयों की चित्रकला • **डॉ॰ सुषमा सिंह**	250.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • **डॉ॰ ज्योति सिंह**	150.00
मृदुला गर्ग और नारी–अस्मिता का प्रश्न • **डॉ॰ ज्योति सिंह**	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा–यात्रा • **डॉ॰ मिथिलेश माहेश्वरी**	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • **डॉ॰ मनोजकुमार**	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • **डॉ॰ दीपा के॰**	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)• **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	450.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	350.00
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य–साहित्य : कथ्य एवं भाषा • **डॉ॰ वी॰ जयलक्ष्मी**	450.00
साठोत्तरी हिंदी–ग़ज़ल : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान • **डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा**	350.00
लोकरंगमंच के विविध आयाम • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	200.00
देवबंद की स्वांग–परंपरा • **डॉ॰ सुरेंद्र शर्मा**	200.00
एक साक्षात्कार : पं॰ अमृतलाल नागर के साथ • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
ग़ज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • **अनिरुद्ध सिन्हा**	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • **डॉ॰ ज्योति व्यास**	150.00

कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • **डॉ॰ लालबहादुर रावल** 300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • **डॉ॰ अशोककुमार** 350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य** 500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित** 300.00
साहित्य और संस्कृति • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित** 300.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • **डॉ॰ आशा रावत** 350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • **डॉ॰ प्रेम जनमेजय** 500.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • **विनोदचंद्र पांडेय** 300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम का योगदान • **डॉ॰ स्वाति शर्मा** 450.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • **डॉ॰ पी॰आर॰ वासुदेवन** 300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • **अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात** 495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • **रवींद्र प्रभात** 300.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु** 250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु** 500.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • **डॉ॰ मीनल रश्मि** 250.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • **डॉ॰ शीला गहलौत** 500.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ •**डॉ॰ राजकुमार जमदग्नि** 500.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • **डॉ॰ अशोक उपाध्याय** 200.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (एक) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दो) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (तीन) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (चार) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (पाँच) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (छह) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (सात) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 700.00
साहित्य और संस्कृति का अंत:संबंध • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया** 400.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • **डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल** 200.00
फिजी में प्रवासी भारतीय • **डॉ॰ शुचि गुप्ता** 300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • **डॉ॰ शिवशंकर लधवे** 200.00
यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना • **डॉ॰ अनीता रानी** 400.00
सृजन और साहित्य • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 400.00

हास्य-व्यंग्य

मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 300.00

चुनी हुई हास्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
बाबू झोलानाथ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
दूध का धुला लोकतंत्र • **गोपाल चतुर्वेदी**	150.00
आधुनिक बेताल कथाएँ • **गिरीश पंकज**	200.00
भज्जी का जूता • **महेशचंद्र द्विवेदी**	150.00
क्लियर फंडा • **महेशचंद्र द्विवेदी**	120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग • **महेशचंद्र द्विवेदी**	170.00
वीरप्पन की मूँछें • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
वसीयतनामा • **पं॰ सूर्यनारायण व्यास, सं॰ राजशेखर व्यास**	150.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ • **काका हाथरसी**	300.00
काका के व्यंग्य-बाण • **काका हाथरसी**	200.00
कक्के के छक्के • **काका हाथरसी**	200.00
लूटनीति मंथन करी • **काका हाथरसी**	200.00
खिलखिलाहट • **काका हाथरसी**	200.00
पैसे कहाँ से दें • **डॉ॰ आशा रावत**	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह • **डॉ॰ आशा रावत**	100.00
नमस्कार प्रजातंत्र • **महेश राजा**	150.00
ए जी सुनिए • **अशोक चक्रधर**	100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए • **अशोक चक्रधर**	100.00
चुटपुटकुले • **अशोक चक्रधर**	60.00
तमाशा • **अशोक चक्रधर**	60.00
सो तो है • **अशोक चक्रधर**	60.00
हँसो और मर जाओ • **अशोक चक्रधर**	60.00
नमस्ते जी • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
अब हँसने की बारी है • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
• **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	
1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	120.00
2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00
2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00

2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	170.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	200.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	200.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य • **डॉ॰ शिव शर्मा**	50.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा**	150.00
अपने-अपने भस्मासुर • **डॉ॰ शिव शर्मा**	150.00
प्रतिनिधि व्यंग्य • **दामोदरदत्त दीक्षित**	100.00
धमकीबाज़ी के युग में • **निश्तर ख़ानक़ाही**	60.00
नो टेंशन • **डॉ॰ सुरेश अवस्थी**	170.00
ला ख़र्चा निकाल • **गजेंद्र तिवारी**	200.00
जलनेवाले जला करें • **गजेंद्र तिवारी**	60.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं • **सूर्यकुमार पांडेय**	100.00
ये है इंडिया • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	120.00
आँखों देखा हाल • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	150.00
सच का सामना • **हरीशकुमार सिंह**	150.00
लिफ़्ट करा दे • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	200.00
देवेंद्र के कार्टून • **देवेंद्र शर्मा**	80.00
कार्टून कौतुक • **देवेंद्र शर्मा**	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • **डॉ॰ पिलकेंद्र अरोरा**	120.00
अजगर करे न चाकरी • **बाबूसिंह चौहान**	200.00
हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते • **मधुप पांडेय**	200.00
ज़िंदगी तेरे नाम डार्लिंग • **डॉ॰ लालित्य ललित**	200.00
नो कमेंट • **सुमित प्रताप सिंह**	200.00

कहानी

एक सपना मेरा भी था • **डॉ॰ आश रावत**	200.00
एक थी माया • **विजयकुमार**	200.00
सरहदों के पार • **सुरेशचंद्र शुक्ल**	200.00
छोटे-छोटे सुख • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
कथा जारी है • **बाबूसिंह चौहान**	150.00
इक्कीस कहानियाँ • **सत्यराज**	100.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	150.00
कुत्तेवाले पापा • **मीना अग्रवाल**	150.00
क्या अच्छा क्या बुरा • **मीना अग्रवाल**	200.00

 ISSN 0975-735X

उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • **डॉ॰ दिनेशचंद्र बलूनी** 200.00
एक बौना मानव • **महेशचंद्र द्विवेदी** 100.00
लव जिहाद • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
इमराना हाज़िर हो • **महेशचंद्र द्विवेदी** 150.00
हैं आस्माँ कई और भी • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
कौन कितना निकट • **रेणु 'राजवंशी' गुप्ता** 120.00
लघु कथाएँ • **डॉ॰ हरिशरण वर्मा** 150.00
कमरा नंबर 103 • **सुधा ओम ढींगरा** 150.00
कहानियाँ अमेरिका से • **सं॰ इला प्रसाद** 150.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • **सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका** 150.00
लघुकथाएँ जीवनमूल्यों की • **सं॰ सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'** 150.00
पंद्रह सिंधी कहानियाँ • **सं॰ देवी नागरानी** 200.00
अंतराल • **संगीता** 200.00

उपन्यास

इतिहास की आवाज़ • **राजेन्द्र मिश्र** 450.00
अनोखा उपहार • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
आसरा • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 100.00
तीन बीघा ज़मीन • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
मन के जीते जीत • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
कुल का चिराग • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
कालचक्र से परे • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी** 200.00
भीगे पंख • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
मानिला की योगिनी • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
और लहरें उफनती रहीं • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध** 200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा** 150.00
अराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त** 200.00
सुराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त** 350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • **डॉ॰ आशा रावत** 150.00
एक चेहरे की कहानी • **डॉ॰ आशा रावत** 150.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ आशा रावत** 100.00
एक फरिश्ता ऐसा देखा • **प्रेमसागर तिवारी** 250.00

एकांकी-नाटक

• **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**
मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी 200.00

मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
नीली आँखें	60.00
बच्चों के अनोखे नाटक • **प्रकाश मनु**	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल-नाटक • **प्रकाश मनु**	200.00
संसार : एक नाट्यशाला • **बाबूसिंह चौहान**	150.00
ग्यारह एकांकी • **डॉ॰ हरिशरण वर्मा**	200.00
दमन • **रामाश्रय दीक्षित**	100.00
स्वप्न पुरुष • **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	150.00
अफलातून की अकादमी • **डॉ॰ शिव शर्मा**	150.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले • **निश्तर ख़ानक़ाही**	125.00
यादों का मधुबन • **कृष्ण राघव**	150.00
समय के चाक पर • **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	125.00
समय एक नाटक • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	160.00
दर्पण झूठ बोलता है • **बाबूसिंह चौहान**	60.00
मकड़जाल में आदमी • **बाबूसिंह चौहान**	80.00
उफनती नदियों के सामने • **बाबूसिंह चौहान**	100.00
पीठ पर नील गगन • **बाबूसिंह चौहान**	100.00
अनुभव के पंख • **चंद्रवीरसिंह गहलौत**	250.00
मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी**	250.00
आधी हकीकत आधा फसाना • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
फूलों की महक • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
संवाद साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया**	200.00

गीत-ग़ज़ल

निश्तर ख़ानक़ाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	500.000
ग़ज़ल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	80.00

 ISSN 0975-735X

ग़ज़लों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	150.00
कोई आवाज़ देता है • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	150.00
दिन दिवंगत हुए • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	150.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	150.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	150.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
प्रतिनिधि ग़ज़लें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
बूँद के अंदर समंदर (मुक्तक) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
मान भी जा छुटकी • **गीतिका गोयल**	150.00
आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह) • **रामगोपाल भारतीय**	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	150.00
मातृभूमि के लिए • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	200.00
संघर्ष जारी है • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	170.00
जीवन-पथ में • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
देश हम जलने न देंगे • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
समय के भूगोल में • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
असाबिया • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
आठवाँ राग • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
हवाएँ खामोश हैं • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
उजियारा आशाओं का • **तारा प्रकाश**	150.00
बुलंदी इरादों की • **तारा प्रकाश**	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है • **तारा प्रकाश**	200.00
इंद्रधनुष • **तारा प्रकाश**	200.00
संवेदनाओं के रंग • **तारा प्रकाश**	200.00

तारा प्रकाश समग्र • **तारा प्रकाश**	600.00
शमा हर रंग में जलती है • **रामेश्वरप्रसाद**	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य) • **आर्यभूषण गर्ग**	200.00
राधेय (खंडकाव्य) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
ज़िंदगी गाती तो है/(ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप**	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप**	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज**	100.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज**	100.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	150.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	150.00
कुछ भी सहज नहीं (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
त्रिवर्णी (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
सुरों के ख़त • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनते हुए ऋतुगीत • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सुबह की अंगूठी • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	150.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध**	100.00
मेरे भीतर महक रहा है (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध**	150.00
अग्निसुता • **राजेंद्र शर्मा**	150.00
सीतायनी • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
गंगापुत्र भीष्म : शर-शैया से • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
एक मुट्ठी धूप • **नीरजा सिंह**	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर • **डॉ॰ कमल मुसद्दी**	150.00
फ़ासले मिट जाएँगे (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00

सुख के बिरवे रोप (दोहे) ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
मानव तू जग में सुंदरतम ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
रिश्ते नए अब जोड़िए (ग़ज़लें) ● **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़लें) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	150.00
अँधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़लें) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) ● **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
अनजाने आकाश में ● **महेशचंद्र द्विवेदी**	170.00
बातें कुछ अनकही ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
मैंने देखा है ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
हौसला तो है ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
ज़िंदगी रुकती नहीं ● **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
जज़्बात की धूप ● **धूप धौलपुरी**	250.00
मैं एक समुद्र ● **डॉ॰ तारादत्त 'निर्विरोध**	200.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ ● **नवलकिशोर शर्मा**	180.00
जब चाँद डूब रहा था ● **नवलकिशोर शर्मा**	200.00
एड्स शतक ● **पूरणसिंह सैनी**	150.00
श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) ● **पूरणसिंह सैनी**	300.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) ● **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) ● **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
राष्ट्र-शक्ति ● **सलेकचंद संगल**	150.00
माँ तुझे प्रणाम ● **सलेकचंद संगल**	150.00
लहरों के विरुद्ध ● **डॉ॰ रामप्रकाश**	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता ● **महेंद्र कुमार**	200.00
पीड़ा का राजमहल ● **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	200.00
उड़ान जारी है ● **विनोद भृंग**	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी ● **रामेश्वर वैष्णव**	150.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) ● **हरिराम पथिक**	200.00
धनुषभंजक राम ● **चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'**	200.00
कविताएँ फेसबुक से ● **लालित्य ललित**	200.00
दुनिया इतनी भी बुरी नहीं ● **लालित्य ललित**	200.00

बचे रहेंगे केवल शब्द • **लालित्य ललित** 200.00
एक कुल्हड़ चाय • **स्वर्ण ज्योति** 200.00
रात • **दामोदर खड़से** 200.00
झरनों का तराना है • **लक्ष्मी खन्ना सुमन** 200.00
अहसासों के ताने-बाने • **लक्ष्मी खन्ना सुमन** 200.00

आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र

मेरा जीवन : ए-वन • **काका हाथरसी** 300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेन्द्र उपाध्याय** 250.00
आत्मसरोवर • **ओम्प्रकाश अग्रवाल** 125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
सफ़र साठ साल का • **डॉ॰ अजय जनमेजय (सं)** 400.00
यादों की गुल्लक • **गीतिका गोयल, डॉ॰ अनुभूति (संपादक)** 300.00
आधी हक़ीक़त आधा फ़साना • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 150.00
मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी** 250.00
संवाद : साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया'** 200.00
उत्तरोत्तर • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)** 250.00
श्रद्धांजलि • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)** 250.00

बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • **शंभूनाथ तिवारी** 150.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 150.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह** 200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • **विनोद भृंग** 150.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत) • **बालकृष्ण गर्ग** 150.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • **गीतिका गोयल** 200.00
बातूनी कहानियाँ • **गीतिका गोयल** 200.00
किशोर मन की कहानियाँ • **डॉ॰ सरला अग्रवाल** 150.00
चलो आकाश को छू लें • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध** 200.00
मानव-विकास की कहानी • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
पार्टी गेम्स • **चाँदनी कक्कड़** 125.00
कागज की नाव • **डॉ॰ सरोजनी कुलश्रेष्ठ** 150.00
गधा बत्तीसी • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'** 200.00

 ISSN 0975-735X

ईनी-मीनी की मजेदार दुनिया • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
कविताओं में पंचतंत्र • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	250.00
छुटके-मुटके जंगल में • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
नन्हे-मुन्ने गीत सुहाने • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
Tiny -Tots in Forest • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
Adventures of the Laughing Donkey • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
शिक्षाप्रद बालकहानियाँ • **डॉ॰ अशोक कुमार**	200.00

विविध

उत्तराखंड में आध्यात्मिक पर्यटन • **डॉ॰ सरिता शाह**	200.00
• **निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल**	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
• **रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर ख़ानक़ाही,**	
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन • **डॉ॰ गिरिराज शाह**	200.00
गुरु नानकदेव • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
अमृतवाणी • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	300.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
वेद-वेदांत दर्शन • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
कन्हैया गीता • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स • **डॉ॰ गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर**	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी • **मनोज भारद्वाज**	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी • **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	300.00
Ecosystem in The Central Himalyas • **Dr.Vikram Singh IPS**	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 **साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)**

फोन : 01342-263232, 0124-4076565

09557746346, 07838090732